प्रथमा दिग्दर्शन

[गाइड]

[सम्मेलन की प्रथमा परीक्षा के अनिवार्य विषयों – हिन्दी साहित्य, इतिहास, भूगोल, गणित एवं गृहशास्त्र का सरल अध्ययन— व्याख्या एवं प्रश्नोत्तर सहित]

(नवीन पठ्यक्रमानुसार पूर्णतया संशोधित संस्करण)

लेखक

प्रो० श्रीभगवान शर्मा, एम. ए.

डा० कृष्णदेव शर्मा, एम. ए., पी-एच. डी.

दो शब्द

'प्रथमा दिग्दर्शन' का नवीन पाठ्यक्रमानुसार यह संस्करण परीक्षार्थियों के सुगम अध्ययन के लिए प्रस्तुत करते हुए मुझे अत्यन्त हर्ष हो रहा है। इस पुस्तक में मैंने विगत परीक्षाओं में आये हुए तथा संभावित परीक्षोपयोगी प्रश्नों को प्रस्तुत करते हुए उनके सूक्ष्म, सरल, किन्तु उत्तम उत्तर देने का प्रयास किया है। अन्य दिग्दर्शनों में प्रायः देखा यह गया है कि प्रश्न को समझा ही नहीं जाता है और उत्तर जो समझ में आता है, दे दिया जाता है। मैंने यहाँ पर प्रत्येक प्रश्न को भली प्रकार स्पष्ट करते हुए उनका सूक्ष्म, सरल एवं उपयुक्त उत्तर देने का प्रयास किया है। परीक्षार्थी अध्ययन करते समय स्वयं इस तथ्य से परिचित हो जाएँगे।

हिन्दी साहित्य एवं उनके विविध रूपों का उचित स्थानों पर सम्यक् रूप से विवेचन प्रस्तुत किया गया है। नवीन पाठ्य-ग्रन्थों के आधार पर ही व्याख्या एवं आलोचना का प्रस्तुत किया गया है। निबन्धों के विवेचन में पूरी तरह से नवीनता लाई गई है। गद्य पद्य नाटक, निबन्ध एवं कहानी की आलोचना के साथ-ही-साथ उनकी व्याख्या भी दे दी गई है। व्याख्या के साथ ही स्थान-स्थान पर उनके साहित्यिक सौन्दर्य पर भी प्रकाश डाला गया है। प्रश्नों को उनकी आत्मा के अनुसार ही समझकर अपने ढंग से उत्तर दिए गए हैं।

इतिहास, भूगोल, गणित एवं गृह-शास्त्र को भी प्रश्नोत्तर रूप में प्रस्तुत किया गया है। इनमें भी विगत परीक्षाओं में पूछे गए प्रश्नों को तथा अन्य संभावित प्रश्नों को रखा गया है।

मुझे आशा है कि अपने इस लघु प्रयास द्वारा मैं अपने परीक्षार्थियों की उचित सेवा कर सकूँगा। पुस्तक को अधिक उपयोगी बनाने के लिए सुझावों का सदा ही स्वागत किया जाएगा।

मुद्रक :

विषय-सूची

प्रश्न-पत्र हल करने की विधि

(प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय प्रश्न-पत्र) (प्रारम्भ में)

१. हिन्दी साहित्य

१—प्रथम प्रश्न-पत्र

(अ) अलंकार और विषय १–१६

(ब) नूतन काव्य संग्रह १७–२०

(स) पूर्ववर्ती संग्रह २–२०

(द) गद्यांशों का अनुवाद २–२८

२—द्वितीय प्रश्न-पत्र

(अ) हिन्दी उपन्यास १–३१

(ब) नूतन कहानी संग्रह ३२–४८

३—तृतीय प्रश्न-पत्र

(अ) हिन्दी साहित्य का इतिहास १–६३

(ब) हिन्दी व्याकरण ६३–१२१

(स) पद्य विवरण १२२–१४८

(द) निबन्ध रचना १४५–१६१

२. अतिरिक्त विषय

१—इतिहास १–८६

२—भूगोल ८७–१५३

३—मुहावरे १५२–२०६

४—नागरिक शास्त्र २०४–२१६

अलंकार ऐसे विषय संस्कृत

अतः हम नहीं कर

बिना कविता की

प्रथम प्रश्न-पत्र

इस प्रश्न-पत्र का पाठ्यांश 'साहित्य प्रश्न-पत्र १' के और इसमें सीन पुस्तकें नवीन पाठ्यक्रम में हैं। १- नूतन काव्य-संग्रह, २- पार्थना ३- सौर विजय। उनमें अंकों का विभाजन इस प्रकार है

१- प्राचीन पद्य ४० अंक, नवीन पद्य ४० अंक (व्याख्या)

(क) किसी एक कवि की कविता से सम्बन्धित प्रश्न

(ख) किसी एक कवि की साहित्यिक सेवाओं का उल्लेख

२—अलंकार

३—पिंगल (छन्द)

कुल योग

व्याख्या भाग—व्याख्या भाग में भाव सन्दर्भ सहित प्रश्न पूछे जाते कभी उनका साहित्यिक सन्दर्भ भी पूछ लिया जाता है। प्रश्न-पत्र भाव को हल करने समय जिन अंशों की आप व्याख्या करने बैठें, प लगाकर उन्हें दो बार पढ़िए और उनका भाव समझने का प्रयत्न क उसके पश्चात् ही आप लिखें। आप पद्यांश के शब्दों की ओर ध्यान उनका केवल भाव ही ग्रहण करें।

सन्दर्भ और प्रसंग देते समय, जिस पद्यांश को आप हल करने जानिये कि वह किसका कथन है और किस समय या परिस्थि में होता है। साथ ही, किस कवि की रचना से लिया गया है। अ अलंकार ऐसे ही दिग्दर्शन के अन्दर दिये हुए व्याख्या के स्थानों को अतः हम कह रहे
बिना कविता की

चाहिए या उसका भाव किसी दूसरे हिन्दी संस्कृत या अंग्रेजी कवि के भाव से मिलता हो तो उसे भी यथास्थान दे देना चाहिए। उसके अतिरिक्त यदि कोई रस, अलंकार आदि हो तो उसका भी उल्लेख कर देना चाहिए।

आलोचनात्मक प्रश्न – आलोचनात्मक प्रश्न दो पूछे जाते हैं। प्रथम भाग में कवियों की संक्षिप्त जीवनी और उनकी काव्यगत विशेषताओं को पूछा जाता है तथा द्वितीय भाग में कवियों की साहित्यिक विशेषताओं पर ही प्रश्न पूछे जाते हैं या फिर आलोचनात्मक प्रश्न पूछ लिये जाते हैं (विस्तार से समझने के लिये परीक्षार्थीगण यथास्थान विवेचन देखें)।

अलंकार पाठ्यक्रम में निर्धारित अलंकारों को ही पूछा जाता है। पाठ्यक्रम में निर्धारित सभी अलंकारों का विवेचन परीक्षार्थी प्रस्तुत पुस्तक में पा जायेंगे। इसमें अलंकारों का नाम दे दिया जाता है और फिर किन्हीं दो अलंकारों के लक्षण उदाहरण सहित पूछे जाते हैं। यह भाग १० अंक का होता है।

पिंगल (छन्द) पाठ्यक्रम में निर्धारित छन्दों को ही पूछा जाता है। पाठ्यक्रम में निर्धारित सभी छन्दों का विवेचन परीक्षार्थी प्रस्तुत पुस्तक में पा जायेंगे। इसमें छन्दों का नाम दे दिया जाता है और फिर किन्हीं दो छन्दों का लक्षण उदाहरण सहित पूछा जाता है। यह भाग १० अंक का होता है।

द्वितीय प्रश्न-पत्र

(पठित गद्य, उपन्यास और कहानी)

इस प्रश्न-पत्र में निम्नलिखित पुस्तकें पाठ्य-क्रम में हैं :

१. हिन्दी गद्यालोक
२. नूतन कहानी संग्रह

अंकों का विभाजन

पठित गद्य = ५० अंक (व्याख्या के लिए
उपन्यास = ३० अंक (किसी एक पाठ का सारांश
कहानी = २० (किसी एक निबन्धकार की शैली
विशेषता

व्याख्या भाग—व्याख्या के लिए पद्य के समान ही गद्य को भली-भाँति कई बार पढ़ना चाहिए। तत्पश्चात् उसके भाव को ग्रहण कर उसे अपनी सरल भाषा में व्यक्त करना चाहिए।

व्याख्या से पूर्व प्रसंग एवं सन्दर्भ देते समय लेखक, पाठ आदि का स्पष्ट उल्लेख करना चाहिए। तत्पश्चात् किस प्रसंग में और किस व्यक्ति से यह बात कही गयी है, उसे जानकर लिखना चाहिए। निर्दिष्ट स्थान पर मैंने उसका उसी रूप में विवेचन कर दिया है। द्वितीय प्रश्न-पत्र के व्याख्या भाग को पढ़ कर आप सरलता से इन बातों को समझ लेंगे।

१. **हिन्दी गद्यालोक**—से पूछे जाने वाले व्याख्यांशों का विस्तृत विवेचन मैंने द्वितीय प्रश्न-पत्र के अन्त में कर दिया है। साथ ही इससे सम्बन्धित प्रश्नों का विवेचन भी यथास्थान कर दिया गया है।

२. **नूतन कहानी संग्रह**—की प्रतिनिधि एवं महत्वपूर्ण कहानियों का आलोचनात्मक विवेचन किया गया है।

तृतीय प्रश्न-पत्र

इस प्रश्न-पत्र का शीर्षक 'साहित्य प्रश्न-पत्र—३' है जिसमें हिन्दी साहित्य का इतिहास, रचना, व्याकरण तथा निबन्ध पूछे जाते हैं :

अंकों का विभाजन इस प्रकार है—

हिन्दी साहित्य का इतिहास	= ३० अंक
निबन्ध	= २० अंक
रचना	= २० अंक
व्याकरण	= २० अंक
संस्कृत	= १० अंक
	कुल योग = १०० अंक

हिन्दी साहित्य का इतिहास—इस भाग में हिन्दी साहित्य के विभिन्न [illegible] का परिचय एवं विशेष तथा उस काल के कवियों का साहित्यिक परिचय अर्थात् [illegible]। कभी-कभी आलोचनात्मक रूप में भी किसी विशेष युग के अतः हम उन [illegible] प्रवृत्तियों का प्रश्न भी पूछ लिया जाता है। प्रस्तुत [illegible] बिना कविता कहे [illegible]।

के तृतीय प्रश्न-पत्र को पढ़कर छात्र-छात्राओं को परीक्षोपयोगी सभी सामग्री उपलब्ध हो जावेगी।

निबन्ध—के लिखने में परीक्षार्थियों को मौलिक चिन्तन से काम लेना चाहिए। निबन्ध के विषय को भली प्रकार समझकर उससे सम्बन्धित रूप-रेखाएँ पहले बना लेनी चाहिए। फिर अपने विचारों को स्पष्टता के साथ व्यक्त करना चाहिए। यदि आपकी उससे सम्बन्धित किसी महान् व्यक्ति का कथन या किसी भाषा के विद्वान का कोई उद्धरण याद हो तो उससे आपके निबन्ध में उत्कर्ष आ जायगा।

रचना—में प्रायः एक तो १० अंक का पत्र आता है। यह पत्र घरेलू व्यापारिक या सरकारी किसी भी प्रकार का हो सकता है। रचना के प्रकरण में पत्र लेखक शीर्षक से मैंने विस्तार के साथ इस विषय पर प्रकाश डाला है। परीक्षार्थी उसे ध्यान से पढ़ें।

इसी का एक दूसरा अंग होता है और वह है मुहावरों तथा लोकोक्तियों का अर्थ एवं उनका अपने वाक्यों में प्रयोग करना है। यह भी १० अंक का होता है।

व्याकरण—२० अंक का निर्धारित है। इसमें पर्यायवाची शब्द, सन्धि-विच्छेद के नियम और उदाहरण, समास और विग्रह के नियम और उदाहरण, पूरे वाक्य को एक शब्द में कहना, विलोम शब्द, संज्ञा, सर्वनाम, कारक, विश्लेषण, क्रिया, उपसर्ग, प्रत्यय आदि से सम्बन्धित प्रश्न पूछे जाते हैं। निर्दिष्ट स्थान पर मैंने सभी पर विशदता से प्रकाश डाला है। छात्र-छात्राएँ उन्हें ध्यान से देखें।

संस्कृत—निर्धारित पाठ्य-पुस्तक से सरल हिन्दी में अर्थ पूछे जायेंगे या साधारण व्याकरण के नियम।

प्रथम प्रश्न-पत्र

- अलंकार और पिंगल
- नूतन काव्य-संग्रह
- पार्वती मंगल
- मौर्य विजय

अलंकार और पिंगल

प्रश्न १—अलंकार किसे कहते हैं और काव्य में उनका क्या महत्व है ?

उत्तर—अलंकार शब्द का शाब्दिक अर्थ है अलंकृत करने वाला। इसी को आचार्य वामन ने इस प्रकार कहा है- अलंकरोतीति अलंकारः'। कहने को अर्थ यह हुआ किसी भी प्राणी या वस्तु को शोभा देने वाले अवयव ही अलंकार कहलाते हैं।

मानव स्वभाव से ही सौन्दर्य प्रेमी है। सुन्दरता को देखकर वह आकर्षित हो जाता है। यही कारण है कि वह स्वयं को नए-नए वस्त्रों एवं आभूषणों से सजाया करता है। इसी प्रकार काव्य में भी नया आकर्षण प्रदान करने के लिए अलंकारों का उपयोग किया जाता है। संक्षेप में, हम यों कह सकते हैं कि काव्य की सुन्दरता बढ़ाने वाले अंग ही अलंकार कहलाते हैं।

अलंकार काव्य की सुन्दरता बढ़ाने वाले अस्थायी कारण होते है, अर्थात् अलंकार केवल ऊपरी सुन्दरता ही बढ़ाने वाले होते है, भीतरी सुन्दरता बढ़ाने वाले कारण तो उसमें भाव ही-होते हैं। अतः अलंकारों का प्रयोग इतना और इस ढंग से करना चाहिए कि उनसे कविता का भीतरी सौंदर्य न ढँक जाए महाकवि केशव तो काव्य के लिए अलकारों का स्पष्ट महत्त्व मानते हुए कहते हैं—

भूषण बिनु न बिराजही कविता, बनिता मित्त।

अलकारों का प्रयोग काव्य में नितान्त आवश्यक तो है परन्तु वह इस ढंग से होना चाहिए कि उससे कविता की आत्मा अर्थात् भाव दब न जाए। अलंकार ऐसे होने चाहिए जो उसकी आत्मा को सौन्दर्य प्रदान करने वाले हों। अतः हम कह सकते हैं कि काव्य में अलंकारों का महत्त्व निसंदिग्ध है। इनके बिना कविता की सुन्दरता फीकी पड़ जाती है।

प्रश्न २ – अलंकार कितने प्रकार के होते है ?

उत्तर—मुख्यतः अलंकारो के दो भेद हुआ करते हैं—(१) शब्दालंकार, और (२) अर्थालंकार ।

(१) शब्दालंकार किसी बात को कहने का चमत्कारी ढंग अलंकार कहलाता है । अत. जहाँ यह चमत्कार शब्दों मे होता है, वहाँ काव्य मे शब्दालकार माना जाता है । इस श्रेणी के अन्तर्गत अनुप्रास, यमक और श्लेष आदि अलंकार आदि आते है ।

(२) पर्यालंकार – जहाँ यह चमत्कार अर्थ मे होता है, वहाँ काव्य में अर्थालकार आते हैं ।

उपर्युक्त अलकारों के अतिरिक्त कुछ और भी अलंकार होते हैं जिनमे शब्द और अर्थ दोनो का ही चमत्कार समाया रहता है । ऐसे अलकारो को उभयालंकार के नाम से पुकारा जाता है ।

प्रश्न ३—शब्दालंकार और अर्थालंकार में क्या अन्तर है ?

उत्तर—किसी बात को कहने का चमत्कारी ढग ही अलंकार कहलाता है। यह चमत्कार जब शब्द मे होता है तो शब्दालकार और जब वह चमत्कार अर्थ मे होता है तो उसे हम अर्थालंकार कहते है । शब्दालकार और अर्थालकार में मुख्य अन्तर यह होता है कि शब्दालकार मे केवल चमत्कार शब्दो मे ही समाया रहता है यदि उस शब्द विशेष को जिसमे कि अलकार है, हटाकर उसके स्थान पर उसी का पर्यायवाची शब्द रख दिया जाए तो यह शब्दालकार नष्ट हो जाएगा । उदाहरणार्थ—'कारी कूर कोकिला कहाँ को बैर काढति री ।'

इस पद में 'क,' वर्ण की अनेक बार आवृत्ति होने से इसमें शब्दालकार उपस्थित है, परन्तु यदि हम 'कोकिला' के स्थान पर उसी का पर्यायवाची शब्द 'पिक' रख दे तो यह चमत्कार या सौन्दर्य नष्ट हो जाएगा ।

इसके विपरीत अर्थालकार मे ऐसी बात नही होती है । यदि हम एक शब्द के स्थान पर उसी शब्द का कोई दूसरा पर्यायवाची शब्द रख दे तो काव्य के सौन्दर्य या चमत्कार मे कोई अन्तर नही पडेगा । उदाहरण के लिए—

'प्रभु-पद कोमल कमल से ।'

इस चरण मे यदि हम 'प्रभु' के स्थान पर 'हरि' या 'राम' और 'कमल

के स्थान पर 'जलज' या 'नीरज' आदि कुछ भी रख दें तो काव्य के सौन्दर्य या चमत्कार में कोई अन्तर नहीं पड़ेगा।

प्रश्न ४—निम्नलिखित अलंकारों का सोदाहरण परिचय दीजिए।

अनुप्रास, श्लेष, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त, व्यतिरेक, प्रतीप।

(१) **अनुप्रास**—अनुप्रास का शाब्दिक अर्थ है वर्णों या शब्दों का बार-बार आना, अर्थात् जब कविता में कोई वर्ण या शब्द बार-बार प्रयोग किया जाता है तो वहाँ अनुप्रास अलंकार होता है। उदाहरण के लिए—'तरनि तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाये।' यहाँ पर 'त' वर्ण का कई बार प्रयोग हुआ है अतः यहाँ अनुप्रास अलंकार है।

अनुप्रास के भेद—इसके पाँच भेद विद्वानों ने माने हैं—छेकानुप्रास, वृत्यानुप्रास, श्रुत्यनुप्रास, अन्त्यानुप्रास और लाटानुप्रास।

(क) **छेकानुप्रास**—जिस वाक्य में एक या अनेक वर्णों की केवल एक बार आवृत्ति हो, वहाँ छेकानुप्रास अलंकार होता है यथा—'राम रमापति कर धनु लेऊ' में 'र' वर्ण की क्रम से आवृत्ति हुई है, अतः यहाँ छेकानुप्रास अलंकार हुआ है।

अन्य उदाहरण—

कानन कठिन भयंकर भारी।
घोर घाम हिम वारि बयारी॥

ऊपर की चौपाई में 'कानून', 'कठिन में 'क' वर्ण की; 'भयंकर', 'भारी' में 'भ' वर्ण की; 'घोर', 'घाम मे 'घ' वर्ण की तथा 'बारि'; 'बयारी' में 'ब' वर्ण की क्रम से आवृत्ति हुई है; अतः इन सब स्थानों पर छेकानुप्रास अलंकार ही माना जाएगा।

(ख) **वृत्यनुप्रास** - जिस पद में एक या अनेक वर्णों की जब दो से अधिक बार आवृत्ति (आवृत्ति का अर्थ है बार-बार आना) होती है तो वहाँ पर वृत्यानुप्रास अलकार होता है। उदाहरणार्थ—

'कारी कूर कोकिला कहाँ को बैर काढ़ति री।'

इस पद में 'क' वर्ण की अनेक बार आवृत्ति हुई है, अतः यहाँ वृत्यनुप्रास अलंकार हुआ।

अन्य उदाहरण—

(१) तरनि तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाये ।

(२) कूलन मे केलिन मे कछारन मे कुंजन मे,
क्यारिन में कलित कलीन किलकत है ।

प्रथम उदाहरण मे 'त' वर्ण की तथा द्वितीय उदाहरण में 'क' वर्ण की अनेक बार आवृत्ति हुई । अतः यहाँ वृत्यनुप्रास अलंकार है ।

(ग) श्रुत्यनुप्रास जिस पद मे एक वर्ण के या उच्चारण की दृष्टि से एक ही स्थान से बोले जाने वाले वर्णो की जब आवृत्ति होती है, तब श्रुत्यनुप्रास अलकार समझा जाना चाहिए ।

उदाहरण के लिए—

उभय भाँति देखा निज मरना ।

उपर्युक्त चरण मे उभय' का 'उ', भाँति का 'भ', मरना का 'म' ओष्ठ्य वर्ण है तथा देखा में 'द' और निज मे 'न' दन्त्य वर्ण है, अतः यहाँ पर श्रुत्यनुप्रास अलकार हुआ ।

अन्य उदाहरण—'जयति द्वारिकाधीश जय-जय संतान संताप हर' मे द, स, न, त आदि दन्त्य अक्षर हैं । अतः यहाँ भी श्रुत्यनुप्रास अलंकार हुआ ।

(घ) अन्त्यानुप्रास—अन्त्यानुप्रास तुक को कहते हैं । छन्द के प्रत्येक चरण का अन्तिम अक्षर तुकान्त ही कहलाता है । उदाहरण के लिए—

लोचन जल रह लोचन कोना ।
जैसे परम कृपन करि सोना ।।

इसमे 'कोना' और 'सोना' मे 'ओना' की तुक है अतः यहाँ अन्त्यानुप्रास अलकार हुआ ।

अन्य उदाहरण—

जेहि सुमरन सिधि होय, गननायक करिवर वदन ।
करहु अनुग्रह सोय, बुद्धि रासि शुभ गुन सदन ।।

इसमे होय, सोय, वदन, सदन मे तुक है, अतः यहाँ अन्त्यानुप्रास अलंकार है ।

(ङ) लाटानुप्रास—जिस स्थान पर समान अर्थ वाले शब्दों की तो आवृत्ति हो, परन्तु तात्पर्य में अन्तर हो, वहाँ लाटानुप्रास अलंकार होता है ।

उदाहरण के लिए—

पुत्र कुपुत्र तो क्यों धन संचिय।
पुत्र सुपुत्र तो क्यो धन संचिय॥

यहाँ पर समान अर्थ वाले शब्दों की आवृत्ति हुई है परन्तु तात्पर्य में अन्तर है। पहले चरण का अर्थ तो यह है कि यदि किसी व्यक्ति का पुत्र कुपुत्र हो गया तो धन संचित करने से क्या लाभ ? वह सम्पूर्ण धन को बर्बाद कर देगा और दूसरे चरण का अर्थ है कि यदि पुत्र सुपुत्र है तो उसके लिए धन संचय करने की क्या आवश्यकता है; क्योंकि वह तो स्वयं अपने अच्छे कार्यों से धन संचित कर लेगा। अतः यहाँ लाटानुप्रास अलंकार है।

अन्य उदाहरण—

पराधीन जो जन, नही स्वर्ग नरक ता हेतु।
पराधीन जो जन नहीं, स्वर्ग नरक ता हेतु।

इसमें पहले चरण का अर्थ है कि जो मनुष्य पराधीन है उसके लिए स्वर्ग कहाँ सब जगह नरक ही होता है और दूसरे चरण का अर्थ होगा कि जो व्यक्ति पराधीन नही है, उसके लिए नरक भी स्वर्ग बन जाता है।

(२) श्लेष— श्लेप का शाब्दिक अर्थ है चिपका हुआ। अतः जहाँ एक शब्द के साथ एक से अधिक अर्थ चिपके रहें, वहाँ श्लेप अलंकार होता है। जैसे—

रहिमन पानी राखिये, बिन पानी सब सून।
पानी गए न ऊबरे, मोती मानुप चून॥

यहाँ 'पानी' शब्द के तीन अर्थ है कान्ति, आत्मसम्मान और जल, अतः यहाँ श्लेप अलंकार हुआ।

श्लेप दो प्रकार का होता है -

(अ) अभंग श्लेप और (आ) सभग श्लेप।

(अ) अभंग श्लेप—जहाँ शब्द के बिना भग किए अर्थात् बिना तोड़े ही दो या दो से अधिक अर्थ निकल आएँ तो वहाँ अभंग श्लेप होता है जैसा कि ऊपर के उदाहरण में 'पानी' के बिना टुकड़े किए ही तीन अर्थ निकलते है।

(आ) सभंग श्लेप—वहाँ होता है जहाँ शब्द भंग करने अर्थात् तोड़ने पर एक से अधिक अर्थ निकलते हों। यथा—

अजौं तर्‌यौना ही रह्यौ, श्रुति सेवक इक अंग।
नाक-बास बेसरि लह्यौ, बसि मुकतनु के संग॥

प्रस्तुत दोहे में तर्‌यौना पद में सभग श्लेष है। एक अर्थ है तर्‌यौना नामक कान का आभूषण और दूसरा अर्थ इस शब्द के टुकड़े करने पर तर्‌यौ+ना अर्थात् तरा नही, निकलता है। अतः यहाँ सभंग श्लेष हुआ।

विशेष – श्लेष में 'व' और 'ब' मे; श, ष और स तथा र और ल में कोई अन्तर नही माना जाता है।

(३) उपमा—

रूप रग. गुण काहु को, काहू के अनुसार
ताकों उपमा कहत हैं, जे सुबुद्धि अगार।

अर्थात् जहाँ पर किसी के रूप रंग और गुण के साथ दूसरे व्यक्ति या वस्तु की तुलना की जाए, वहाँ पर उपमा अलंकार होता है। उदाहरणार्थ— 'हरिपद कोमल कमल से' मे हरि के पदो की तुलना कोमल कमल से की गयी है। अतः यहाँ उपमा अलंकार हुआ—

उपमा के चार अग माने गए है—(क) उपमेय, (ख) उपमान, (ग) साधारण गुण या धर्म और (घ) वाचक शब्द।

(क) उपमेय—इसको प्रस्तुत भी कहते हैं अर्थात् जो वस्तु या व्यक्ति हमारे सामने हो और जिसकी तुलना की जाए। ऊपर के उदाहरण मे 'हरिपद' उपमेय है।

(ख) उपमान—इसको अप्रस्तुत भी कहते हैं, अर्थात् जो हमारे सामने न हो और जिस व्यक्ति या वस्तु से प्रस्तुत या उपमेय की तुलना की जाए। ऊपर के उदाहरण मे 'हरिपद' की तुलना 'कोमल कमल' से की गई है; अत. कोमल कमल उपमान या अप्रस्तुत हुआ।

(ग) साधारण गुण या धर्म—जिस गुण या धर्म के आधार पर उपमेय की उपमा से तुलना की जाए। ऊपर के उदाहरण मे 'कोमल' साधारण गुण या धर्म हुआ।

(घ) वाचक शब्द—जिस शब्द के द्वारा तुलना की जाती है, उसे वाचक शब्द कहते हैं। ऊपर के उदाहरण मे 'से' वाचक शब्द है। (वाचक शब्दों में प्रायः ना, सी, से, समान, सम, सरिस, इव, तुल्य आदि शब्दों का प्रयोग होता है।)

उपमा के भेद

(अ) पूर्णोपमा और (आ) लुप्तोपमा।

(अ) **पूर्णोपमा**—जहाँ पर उपमा के चारों अंग अर्थात् उपमेय, उपमान, सामान्य गुण या धर्म और वाचक शब्द होते हैं, वहाँ पूर्णोपमा अलंकार माना जाता है। जैसा कि ऊपर के उदाहरण में है।

हरिपद—उपमेय
कमल—उपमान
कोमल—सामान्य गुण या धर्म
से—वाचक शब्द।

अन्य उदाहरण—

सारा तन फूल जैसा मृदुल अतीव है।'

सारा तन - उपमेय,
फूल—उपमान
मृदुल—साधारण गुण या धर्म
जैसा वाचक शब्द।

(आ) **लुप्तोपमा**—जिस स्थान पर उपमा के चारों अंगों—उपमेय, उपमान, साधारण गुण या धर्म तथा वाचक शब्द—में से एक या दो अंगो का लोप होवे वहाँ लुप्तोपमा अलकार माना जाता है।

उदाहरण के लिए—

'कल्पलता सी अतिशय कोमल।'

इस चरण में कल्पलता—उपमान, कोमल—साधारण गुण या धर्म, सी—वाचक शब्द ये तीन अंग तो हैं, परन्तु उपमेय का अभाव है, अतः यहाँ लुप्तोपमा अलंकार हुआ।

(४) **रूपक** उपमा में तो उपमेय और उपमान दोनों का ही अस्तित्व अलग-अलग रहता है परन्तु रूपक में दोनों मे एकरूपता आ जाती है। दूसरे शब्दों में, यों कह सकते हैं कि जहाँ उपमेय और उपमान का एक ही रूप हो जाए, वहाँ रूपक अलंकार होता है। उदाहरण के लिए—

बेहद गुरुपद कज यहाँ गुरुपद (उपमेय) मे कज (उपमान) का आरोप किया गया है, अत यहाँ रूपक अलकार हुआ।

रूपक के प्रमुख भेद :

(अ) अभेद रूपक और (आ) तद्रूप रूपक

(अ) अभेद रूपक जिस स्थान पर उपमेय और उपमान मे कोई भेद नही रह जाता है, वहाँ पर अभेद रूपक माना जाता है। जैसे -

राम-कथा सुन्दर करतारी।
सशय-पी हग उडावन हारी॥

ऊपर की इस चौपाई मे राम-कथा उपमेय है और कर-नारी उपमान है, परन्तु इन दोनो को इस ढग से कहा गया है कि दोनो मे अभेद अर्थात् एकरूपता आ गयी है। इसी कारण दूसरी चौपाई मे भी सशय रूप विहग मे यही अभेद स्थापित हो गया है, अत यहाँ अभेद अलकार हुआ।

(आ) तद्रूप रूपक जहाँ पर उपमेय और उपमान मे अभेद न दिखाकर उपमेय का उपमान मे दूसरा रूप कहा जाए वहाँ तद्रूप रूपक अलकार होता है। जैसे

दीपति दिपति अति सातो दीप दीपियतु,
दूसरो दिलीप नो सुदक्षिणा को बल है।

यहाँ पर भूपति दशरथ उपमेय है और राजा दिलीप उपमान है। 'दूसरो' शब्द द्वारा भिन्न बताते हुए गुणो के आधार पर दोनो मे एकरूपता बताई गई है अत यहाँ पर तद्रूप रूपक अलकार है।

(५) उत्प्रेक्षा—जहाँ उपमेय मे उपमान की सम्भावना या कल्पना कर ली जाए, वहाँ उत्प्रेक्षा अलकार होता है। यह अलकार प्राय: मनु, मनहु, जनु जनहु, मानो, जानो, मेरे जान इव आदि वाचक शब्दो द्वारा व्यक्त होता है। जैसे —

'हरि मुख, मनहु मयक'

इस चरण मे हरिमुख (उपमेय) मे मयक अर्थात् चन्द्रमा की कल्पना कर ली गई है, अत: यहाँ उत्प्रेक्षा अलकार हुआ।

उत्प्रेक्षा के भेद

(अ) वस्तूत्प्रेक्षा, (आ) हेतूत्प्रेक्षा और (इ) फलोत्प्रेक्षा।

(आ) वस्तूत्प्रेक्षा जब एक वस्तु (उपमेय) मे दूसरी वस्तु उपमान की सम्भावना या कल्पना की जाए तब वस्तूत्प्रेक्षा अलकार होता है।

सोहत ओढ़े पीत पट स्याम सलोने गात।
मनो नीलमनि सैल पर आतप पर्‌यौ प्रभात ॥

इस दोहे में पीताम्बरधारी कृष्ण के साँवले शरीर (उपमेय) में उदित होते हुए सूर्य की रश्मियों से शोभायमान नीलमनि पर्वत (उपमान) की सम्भावना कर ली गयी है, अतः यहाँ वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है।

(आ) हेतूत्प्रेक्षा—जहाँ अहेतु में अर्थात् कारण न होने पर भी हेतु अर्थात् कारण की सम्भावना कर ली जाती है, वहाँ हेतूत्प्रेक्षा अलंकार होता है।

पावकमय ससि स्रवत न आगी।
मानहु मोहि जानि हतभागी ॥

चन्द्रमा में अग्नि नहीं होती है। इस अहेतु मे भी सीताजी चन्द्रमा मे अग्नि की संभावना करके उससे (चन्द्रमा से) अग्नि माँगती है और चन्द्रमा से अग्नि न मिलने पर अपने को हतभागिनी मानती है। चन्द्रमा मे अग्नि की संभावना करने से यहाँ हेतूत्प्रेक्षा अलंकार हुआ।

(इ) फलोत्प्रेक्षा—जहाँ पर अफल में अर्थात् जो यथार्थ में फल न हो उसमें फल की संभावना कर ली जाती है। यथा—

पुहुप सुगन्ध करहिं यहि आसा।
मकु हिरकाइ लेइ हम पासा ॥

वैसा तो फूलों में सुगन्ध का होना उनका स्वाभाविक गुण है परन्तु कवि ने इस फल की सम्भावना कर ली है कि फूल वास्तव में इसलिए अपनी सुगंध फैला रहे हैं शायद पद्मावती उन्हें अपनी नाक के पास ले जाय और इससे उनका जन्म धन्य हो जाए। असफल में फल की सम्भावना होने से फलोत्प्रेक्षा अलंकार हुआ है।

(६) दृष्टान्त जहाँ कही हुई बात के निश्चय के लिए दृष्टान्त देकर पुष्टि की जाती है, वहाँ दृष्टान्त अलंकार होता है। जैसे—

सुख-दुख के मधुर मिलन से,
यह जीवन हो परिपूरन।
फिर घन में ओझल हो शशि,
फिर शशि से ओझल हो घन ॥

यहाँ ऊपर पहली दो पंक्तियो में सुख-दुख के मधुर मिलन से जीवन के परिपूर्ण होने की बात कही गई है तथा अन्तिम दो पक्तियो में घन में शशि के ओझल हो जाने तथा शशि से घन के ओझल हो जाने के दृन्टान्त से उसका निश्चय कराया गया है।

(७) व्यतिरेक—जहाँ उपमान की अपेक्षा उपमेय की श्रेष्ठता व्यजित हो, वहाँ व्यतिरेक अलकार होता है। यह श्रेष्ठता दो आधारों पर व्यजित हो सकती है – (i) या तो उपमेय गुणों मे उपमान से श्रेष्ठ हो, (ii) या उपमान स्वय ही निकृष्ट हो; जैसे—

राधा मुख को चन्द्र सा कहते हैं मति रक।
निष्कलंक है यह सदा, उसमे प्रकट कलंक॥

यहाँ मुख उपमेय को उपमान चन्द्र की अपेक्षा श्रेष्ठ वताया गया है; क्योकि, चन्द्र तो काले धब्वो से युक्त है और मुख सदा निष्कलंक है।

(८) प्रतीप – जहाँ प्रसिद्ध उपमान को उपमेय के रूप मे कल्पित किया जाये, वहाँ प्रतीप अलकार होता है; जैसे –

कौन जाने, जायगा यो ही दिन दूसरा,
अयि, तुझसी यह सध्या धूलि-धूसरा।

यहाँ सध्या को उपमेय के रूप में कल्पित किया गया है।

प्रतीप के पाँच भेद होते है—प्रथम प्रतीप, द्वितीय प्रतीप, तृतीय प्रतीप, चतुर्थ प्रतीप और पचम प्रतीप।

पिंगल शास्त्र

प्रश्न १—छन्द किसे कहते हैं और कविता मे उनका क्या स्थान है ?

उत्तर—पिंगल शास्त्र मे छन्दों का ज्ञान होता है, अतः दूसरे शब्दो में पिंगल शास्त्र और छन्द शास्त्र एक ही वात है।

अव सवसे पहले हम जानना चाहेगे कि छन्द क्या है ? छन्द वास्तव मे उस रचना को कहेंगे जिसमें वर्ण, मात्रा, पद यति और तुक आदि का ध्यान रखा जाता है।

कविता और छन्द का अटूट सम्वन्ध है। कविता मे सजीवता, प्रभाव एव रमणीयता लाने के लिए छन्दो का सहारा लिया जाता है। जिस प्रकार नदी के दोनो किनारे नदी को जहाँ बाँधकर रखते हैं वहाँ उसमें सुन्दरता भी

बढ़ा दिया करते हैं। यदि नदी अपने किनारों से बँधी न हो उसमें फिर उतनी सुन्दरता नहीं रह सकती है। इसी भाँति छन्द कविता को बन्धन में ही केवल नहीं बाँधते बल्कि उसमें सुन्दरता, नाद आदि गुणों को भी बढ़ा देते है। अतः सिद्ध हुआ कि कविता और छन्द का अटूट एवं रमणीक सम्बन्ध है।

प्रश्न २—छन्द के विभिन्न अंगों का संक्षिप्त परिचय दीजिये।

उत्तर—छन्द के विभिन्न अंग हैं—वर्ण या अक्षर, मात्रा, पद या चरण यति और तुक। दूसरे शब्दों में जिनके योग से छन्द का निर्माण होता है, उन्हें ही छन्द के अवयव कहते हैं।

अब हम छन्द के अंगों का क्रमशः विवेचन करेंगे—

(अ) **वर्ण**—इन्हीं को अक्षर कहते है। ये दो प्रकार के होते है लघु और गुरु अर्थात् ह्रस्व व दीर्घ।

लघु या ह्रस्व—लघु या ह्रस्व वर्ण वे है जिनके बोलने में कम समय लगता है। यथा - अ, इ, उ, ऋ, चन्द्र बिन्दु (ँ) तथा इनसे मुक्त व्यजन यथा कि, कु कु, तथा कँ। इसका चिन्ह 'ा' है।

गुरु या दीर्घ—गुरु या दीर्घ वर्ण वे हैं जिनके बोलने में लघु वर्णो की अपेक्षा अधिक समय लगता है। यथा—आ, ई, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ अनुस्वार (ं) और विसर्ग (ः) तथा इनसे युक्त व्यंजन; यथा—का, की, कू, के, कै को, कौ, कं, कः। इसका चिह्न 'ऽ' है।

उदाहरण के लिए—आगरा में आ' गुरु 'ग' लघु और 'रा' गुरु है। अतः आगरा में कुल तीन वर्ण हैं जो क्रमशः गुरु, लघु और गुरु है।

(आ) **मात्रा**—वर्ण या अक्षर के बोलने में जो समय लगता है, उसे हम मात्रा कहते है। आगरा में कुल तीन वर्ण की मात्रा एक और गुरु वर्ण की मात्रा दो मानी जाती है।

यथा - मथुरा—में 'म' लघु, 'थु' लघु और 'रा' गुरु है, इसमें मात्रायें होंगी—

ा ा ऽ

मथुरा = ा+ा+ऽ=४।

विशेष हलन्त वर्णों की कोई मात्रा नहीं मानी जाती है। लेकिन हलन्त वर्ण मध्य में आया है तो हलन्त वर्ण से पूर्व वर्ण का गुरु मान लिया जाता है।

यथा भविष्य। इसमे ष् हलन्त है। अतः यह इससे पूर्व की मात्रा अर्थात् वि मे मिलाकर उसे गुरु बना देगा। अर्थात् भविष्य=। ।+ऽ+।=४ मात्राएँ।

(इ) पद या चरण—प्रत्येक छन्द मे कम से कम चार भाग हुआ करते है। इन्हे पद भी कहा जाता है। छप्पय आदि छन्दों मे ये पद चार से अधिक होते है।

(ई) यति—इसका शाब्दिक अर्थ है विराम या रुकना। छन्द का पाठ करते समय पाठक को कुछ देर के लिए जहाँ रुकना पड़ता है, उसको ही यति कहते है। यति के अनुसार छन्द का पाठ करने मे अर्थ सुगमता से लग जाता है। इसके चिह्न है—( ) (।) (॥) (?) और कहीं-कहीं विस्मयादि बोधक चिह्न (!)।

(उ) तुक—छन्द के अन्तिम भाग को तुक कहते है, अर्थात् समान वजन को तुक कहते है। इसी को अन्त्यानुप्रास भी कहा जाता है। प्रत्येक चरण के अन्त मे यह तुक रहती है।

यथा— कनक कनक ते सौगुनो मादकता अधिकाय।
वा खाये बौराय जग या पाये बौराय॥

यहाँ 'अधिकाय' और 'बौराय' में तुक है।

विशेष—आजकल नयी कविताओ मे तुक का कोई विशेष महत्त्व नही रहा है, अत वे कविताएँ अतुकान्त कविताएँ कही जाती है।

(ऊ) गण - गण का शाब्दिक अर्थ है झुण्ड या समूह, परन्तु पिंगल शास्त्र मे गण का अर्थ होता है तीन वर्णों का समूह। ये गण आठ माने जाते है। इनको सरलता से याद करने के लिए विद्वानो ने एक सूत्र बना डाला है—'यमाताराजभानसलगा' इसमे प्रारम्भ के आठ वर्ण तो गणो के नामो के प्रथम वर्ण हैं और अन्तिम दो वर्ण अर्थात् ल और ग अन्तिम गण के सहयोगी हैं। इसी सूत्र से अब हम विभिन्न प्रकार के आठ गणो को जानेंगे। उदाहरणार्थ—

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८
य मा ता रा ज भा न स ल गा

१ यगण=यमाता=। ऽ ऽ
२—मगण=मातारा=ऽ ऽ ऽ
३—तगण=ताराज=ऽ ऽ।

४—रगण = राजभा = ऽ । ऽ

५—जगण = जभान = । ऽ ।

६ – भगण = भानस = ऽ । ।

७—नगण = नसल = । । ।

८ -- सगण = सलगा = । । ऽ

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि यगण, मगण, तगण, रगण, जगण, भगण, नगण और सगण – ये आठ गण हुआ करते हैं । अन्तिम ल और गा क्रमशः लघु और गुरु वर्णों को बताने वाले है ।

प्रश्न ३—छन्द कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर—'वर्ण' और मात्रा के आधार पर छन्द दो प्रकार के होते हैं—(अ) वर्णिक, और (आ) मात्रिक ।

(अ) वर्णिक—जिन छन्दों में केवल वर्णों की गणना की जाती है, उन्हें वर्णिक छन्द कहते है । इनमें मात्राओं का कोई स्थान नहीं होता है । वर्णों की संख्या और वर्णों से बनने वाले गणों पर आधारित होने के कारण ये वर्णिक छन्द कहलाते हैं ।

उदाहरण के लिए --

कैसे मैं फिरूँगा मुझे कौन बतलाएगा ?
कैसे मैं फिरूँगा हाय ! शून्य लंका धाम मे ?
दूँगा सान्त्वना क्या मैं तुम्हारी उस माता को ?
कौन बतलाएगा मुझे हे वत्स ! पूछेगी ।

यह एक वर्णिक छन्द है, इसके प्रत्येक चरण मे १५ वर्ण है, परन्तु मात्राओं की संख्या भिन्न है ।

(आ) मात्रिक छन्द—जिस छन्द में केवल मात्राओं का विधान रहता है वर्णों का नहीं वह मात्रिक छन्द माना जाता है ।

उदाहरण के लिए—

।	।	।	।	।	।	ऽ	।	।	ऽऽ	
शशि		मुख		पर		घूँघट		डाले		१४ = मात्राएँ

ऽ। ।	।	ऽ।	। ऽ ऽ	
आँचल	मे	दीप	छिपाये	=१४ मात्राएँ
ऽ। ।	ऽ	ऽ ऽ ऽ	ऽ	
जीवन	की	गोधूली	मे	=१४ ,,
ऽ ऽ । ।	ऽ	। । ऽ ऽ		
कौतूहल	से	तुम आये		=१४ ,,

परन्तु चारो चरणो मे वर्णो की भिन्नता है। चारों चरणों मे क्रमश. ११, ६, ८ और ६ वर्ण हैं। इस प्रकार यह मात्रिक छन्द हुआ।

उपर्युक्त दोनो प्रकार के छन्दो के तीन भेद होते हैं—(१) सम (२) अर्धसम और (३) विषम।

(१) सम—इसमे चारो चरण एक से रहते हैं।

(२) अर्धसम— इसमे पहला और तीसरा, दूसरा और चौथा चरण या पद समान होते है।

(३) विषम—इसमे चारो चरण अलग-अलग रहते हैं एकरूपता नही होती है।

प्रश्न ४—निम्नलिखित छन्दों के लक्षण और उदाहरण लिखिए :

चौपाई, रोला, दोहा सोरठा, कुण्डलिया, मनहरण कवित्त, शिखरिणी, द्रुतविलम्बित, इन्द्रवज्रा।

उत्तर—(१) चौपाई—चौपाई के प्रत्येक चरण मे १६ मात्राएँ होती हैं। चरण के अन्त मे जगण (।ऽ।) अथवा तगण (ऽऽ।) नही होना चाहिए। जैसे -

रघुकुल रीति सदा चलि आई।
। । । । ऽ। । ऽ । । ऽ ऽ =१६ मात्राएँ

(२) रोला—रोला छन्द के प्रत्येक चरण मे २४ मात्राएँ होती हैं। ११ और १३ पर यति होती है। जैसे

ऽ ऽ ऽ ऽ । ऽ । ऽ ऽ ऽ । । ऽ ऽ =२४ मात्राएँ
जीती जीती हुई, जिन्होंने भारत बाजी
निज बल से मल मेट, विधर्मी मुगल कुराजी
जिनके आगे ठहर सके, जगी न जहाजी
हैं ये वही प्रसिद्ध, छत्रपति भूप सिवाजी।

(३) दोहा—दोहा छन्द के पहले और तीसरे चरण में १३ मात्राएँ और दूसरे एवं चौथे चरण में ११ मात्राएँ होती है। इस प्रकार दोहा २४ मात्राओं वाला छन्द है। चरण के अन्त में लघु (।) होना आवश्यक है। जैसे—

ऽऽ ।। ऽऽ ।ऽ ऽऽ ऽ।। ऽ। =२४ मात्राएँ
मेरी भव बाधा हरौ, राधा नागरि सोय।
जा तन की झांई परे, स्याम हरित दुति होय॥

(४) सोरठा—दोहा उलटा सोरठा अर्थात् सोरठा छन्द दोहा छन्द का उलटा दोहा है। इसके पहले और तीसरे चरण में ११ मात्राएँ और दूसरे और चौथे चरण में १३ मात्राएँ होती है। अन्त में तुक अनिवार्य नही है। इसके समचरणों में जगण (।ऽ।) नहीं होता। जैसे—

ऽऽ ऽ।। ऽ। ऽऽ ।। ऽऽ ।ऽ
राधा नागरि सोय, मेरी भव बाधा हरौ।
स्याम हरित दुति होय, जा तन की झांई परे॥

(५) कुण्डलिया कुण्डलिया छन्द ६ पंक्तियों का होता है। प्रथम दो पंक्तियाँ दोहा छंद की अन्तिम चार रोला छंद की होती हैं। इस प्रकार इसके प्रत्येक चरण में २ -२४ मात्राएँ होती हैं। दोहा छंद के अन्तिम चरण को रोला के प्रथम चरण में दोहराया जाता है और दोहा का प्रथम पाद जिस शब्द से प्रारम्भ होगा, वही शब्द रोला के चतुर्थ चरण अथवा पाद में दोहराया जाएगा। जैसे—

ऽऽ ।।।।ऽ ।ऽ ऽ । ।ऽ ।। ऽ। =२४ मात्रायें
सांई अवसर के परे, कौ न सहै दुख द्वन्द्व।
जाय बिकाने डोम घर, वै राजा हरिचन्द॥
ऽ ऽ ऽ ।।ऽ। ।ऽ ।।।। ।।ऽऽ
वै राजा हरिचन्द, करे मरघट रखवारी।
धरे तपस्वी भेष, फिरे अर्जुन बलधारी॥
कह गिरिधर कविराय, तपै वह भीम रसोई।
कौन करै धरि काम, परे अवसर के साईं॥

(६) मनहरण कवित्त इसके प्रत्येक चरण में ३१ वर्ण होते है। १६ वें और ३१वे वर्ण पर यति होती है। चरण के अन्त में गुरु (ऽ) होता है। जैसे—

रस के प्रयोगिन के सुखद सुजोगिन के,
जेते उपचार चारु मन्जु सुखदाई है।
तिनके चलावन की चरसा चलावै कौन,
देत न सुदर्शन यो सुधि बिसराई हैं।
करत न उपाय न सुभाय लखि नारिन की,
भाग्य क्यो अनारिन की भरत कन्हाई हैं।
ह्या तो विषम-ज्वर-वियोग की चढ़ाई यह,
पाती कौन रोग की पठावत दवाई है॥

(७) शिखरिणी शिखरिणी छन्द यगण (ISS) मगण (SSS) नगण (।।। मगण (ISS) भगण (SII) लघु (।) और गुरु (S) के योग से बनता है। प्रकार इसके प्रत्येक चरण मे १७ वर्ण होते हैं। जैसे —

। S S SS S ।।।।।S S ।।। S
मिली मैं स्वामी से, पर कह सकी क्या सम्भल के ? =यमनसभल
वहे आँसू होके, सखि सब उपालम्भ गन के।
उन्हें हो गई जो निरख मुझको नीरव दया।
उसी की पीड़ा का अनुभव मुझे हा रह गया॥

(८) द्रुतविलम्बित इसके प्रत्येक चरण मे १२ वर्ण होते हैं। यह छ नगण (।।।) दो मगण (SII SII) और रगण (SIS) के योग से बनता है जैसे—

।।। S ।।S। ।S। S न म म
दिवस का अवसान समीप था।
गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरुशिखा पर थी अब राजती।
कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा॥

(९) इन्द्रवज्रा इसके प्रत्येक चरण मे ११ वर्ण होते हैं। वर्णों का इस प्रकार होता—दो तगण (SSI, SSI, जगण (।SI) और दो गुरु (SS जैसे

S S ।S S। ।S।S S
मैं जो नया ग्रन्थ विलोकता हूँ। =त त ज गा
भाता मुझे सो नव मित्र-सा है।
दबूँ उसे मैं नित बार-बार।
मानो मिला मित्र मुझे पुराना॥

नूतन काव्य संग्रह

कवि-परिचय

प्रश्न १—सूरदास का संक्षिप्त जीवन वृत्त देते हुए उनकी काव्यगत विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—महाकवि सूरदासजी भक्तिकाल की सगुण धारा के कवि थे। आपने भगवान् कृष्ण की आराधना अपने काव्य में की है, इसलिए आप कृष्णमार्गी शाखा के प्रतिनिधि कवि माने जाते है। हिन्दी-साहित्य के अन्य प्राचीन कवियों के समान ही सूरदासजी के जन्म-स्थान एवं समय के बारे में विद्वान एकमत नहीं है। कुछ विद्वान् आपका जन्म-स्थान मथुरा जिले में रुनकता ग्राम मानते हैं तो कुछ लोग दिल्ली के समीप सीही नामक ग्राम को आपकी जन्मभूमि मानते हैं। इसी प्रकार कुछ विद्वान् आपका जन्म-समय संवत् १५३५ तो अन्य विद्वान संवत् १५४० मानते हैं। ये जाति के सारस्वत ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम रामदास था। कुछ विद्वान् इन्हें चन्दवरदाई का भी वंशज मानते हैं।

आप अन्धे थे परन्तु इस बात में बड़ा मतभेद है कि आप जन्मान्ध थे या बाद में हुए। आपके सजीव एवं सूक्ष्म वर्णनों को देखकर अधिकतर विद्वानों का मत यह है कि ये बाद में अन्धे हुए होंगे; क्योंकि कोई भी जन्मान्ध व्यक्ति इतने मार्मिक, सजीव एवं सूक्ष्म वर्णन प्रस्तुत नहीं कर सकता।

आप पहले गौ घाट पर यमुना के किनारे रहते थे और भक्ति के गीत गुनगुनाया करते थे। संयोग से एक दिन यहीं पर आपकी भेंट स्वामी वल्लभाचार्यजी से हो गयी। वल्लभाचार्यजी इनकी प्रतिभा से प्रभावित हुए और उन्हें अपने ही साथ ले जाकर श्रीनाथद्वारे का इन्हें अधिकारी बना दिया। गोवर्द्धन के श्रीनाथजी के मन्दिर में रहते हुए इन्होंने भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा में नित्य एक नवीन पद बनाना आरम्भ कर दिया और इस प्रकार उन्होंने लगभग सवा लाख पदों का निर्माण किया। अष्टछाप के कवियों में

आपका स्थान प्रमुख था। आपकी मृत्यु संवत् १६४० में पारसोली नामक ग्राम में हुई।

इनके प्रमुख ग्रन्थ तीन हैं—सूरसागर, सूरसारावली और साहित्य लहरी। परन्तु आपकी ख्याति का आधार महान् ग्रन्थ सूरसागर ही माना जाता है।

काव्यगत विशेषताएँ— आप भगवान् कृष्ण के अनन्य भक्त थे। आपकी भक्ति सख्य भाव की है। आपकी कविता का मुख्य विषय भगवान् कृष्ण की लीलाओं का सखा भाव से वर्णन करना है। उसमें भी आपने केवल बाल्यावस्था व युवावस्था का चित्रण किया है। परन्तु इन दोनों अवस्थाओं का जिस सूक्ष्मता एवं सजीवता से उन्होंने वर्णन किया है उसे देखकर हम विस्मय में पड़ जाते हैं।

वात्सल्य एवं शृंगार का जैसा सुन्दर वर्णन सूरदास ने किया है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। वात्सल्य रस के वर्णन में तो सूरदास अपना सानी नहीं रखते। बाल-मनोविज्ञान का जिस सूक्ष्मता से आपने वर्णन किया है उसे देख कर सब लोग दाँतों तले उँगली दबाने लगते हैं। वात्सल्य के साथ ही आपने शृंगार के दोनों पक्षों संयोग और वियोग का भी सुन्दर एवं मार्मिक वर्णन प्रस्तुत किया। वियोग शृंगार का वर्णन अच्छा किया गया है।

आपने अपने समस्त काव्य को गेय पदों में लिखा है। आपकी भाषा ब्रज है साथ ही वह भाषा पूरी तरह से साहित्यिक एवं मँजी हुई है। उसमें माधुर्य गुण की प्रधानता है अलंकारों में जो भी प्रयोग आए हैं वे सब स्वाभाविक अलंकार ही हैं। उनसे कविता का सौंदर्य बढ़ा ही है, घटा नहीं है। शैली की दृष्टि से सूर का अपना निजी स्थान है। उनमें व्यंग्य, वाग्वैदग्ध्य, चित्रमयता आदि सुन्दर गुणों का प्रयोग मिलता है। उनके पदों में सजीवता एवं तीव्रता है जिसे पढ़कर पाठक आत्म विभोर हो जाता है।

प्रश्न २—"सूरदास को वात्सल्य और शृंगार का चित्रण करने में अनुपम सफलता मिली है।" इस कथन की सम्यक् विवेचना कीजिए।

उत्तर—महाकवि सूरदास के काव्य में हमें कलापक्ष की अपेक्षा भावपक्ष अधिक मिलता है। भावपक्ष का सम्बन्ध होता है रस, भाव आदि के वर्णन से तथा कलापक्ष का सम्बन्ध होता है काव्य के बाहरी पक्ष अर्थात् भाषा, शैली छन्द और अलंकार आदि से। भगवान् कृष्ण की बाल्यावस्था एवं युवावस्था

के चित्रण में सूर ने बड़ा ही कौशल दिखाया है। जीवन की केवल इन्हीं दो अवस्थाओं का जितनी सूक्ष्मता से वर्णन उन्होंने किया है, सम्भवतः विश्व-साहित्य में वैसा उदाहरण ढूँढ़े नहीं मिलेगा।

सूरदासजी महाप्रभु वल्लभाचार्य के पुष्टि मार्ग के मानने वाले थे। इस सम्प्रदाय में भगवान् कृष्ण के बाल्यावस्था में मनमोहक रूप को ही अधिक स्थान दिया गया है। फलतः सूरदासजी ने भी भगवान् कृष्ण के इसी रूप को अपने काव्य में स्थान दिया है। बाल्यजीवन की स्वाभाविक एवं मनोरम दशाओं का जिस बारीकी से सूर ने वर्णन किया है उस पर हिन्दी साहित्य को गर्व है। इस क्षेत्र के तो सूर वास्तव में सम्राट है। उन्होंने बाल्यजीवन का एक-एक कोना झाँककर देखा था। वे बालकों की छोटी-सी बातों एवं चेष्टाओं को बड़े ही ध्यान से देखते है और फिर उनको पद्यबद्ध कर हमारे सामने प्रस्तुत कर देते हैं। स्वयं अनुभव के आधार पर वर्णन होने से ये चित्र बड़े ही सजीव से लगते है। बाल-स्वभाव का बड़ा ही सच्चा चित्र हमें उनके पदों में देखने को मिलता है। यशोदा माता कृष्ण को पालने में लिटाकर लोरी गा-गाकर सुलाने का प्रयास कर रही है। परन्तु बच्चे को यह डर है कि कही माता मुझे सोता हुआ छोड़कर चली न जाए, इसलिए बार-बार नेत्रों को बन्द करते और खोलते है, देखिए —

"जसोदा हरि पालने झुलावै।"

× × ×

"मेरे लाल को आउ निंदरिया काहे न आनि सुलावै।
कबहुँ पलक हरि मूँद लेत हैं, कबहुँ अधर फरकावै।"

कितना सूक्ष्म एवं स्वाभाविक चित्र है! पाठक भी पढ़कर ऐसा अनुभव करने लगता है मानो उसके सामने ही कृष्ण पालने में पड़े सो रहे हो।

इसके पश्चात् बालक कुछ बड़ा हो जाता है और घुटनों के बल चलने लगता है और अपने मुख, हाथ आदि को मक्खन आदि से सान लेता है। देखिए कैसा सच्चा चित्र है—

"सोभित कर नवनीत लिये।
घुटुरुवन चलत, रेनु तनु मंडित मुख दधि लेप किये।"

इसके पश्चात् माता उन्हें चलना सिखाती है। उँगली पकड़कर एवं लड़खड़ाते हुए रूप का चित्र देखिए —

"सिखवत चलन यशोदा मैया।
अरबराइ कर पानि गहावति, डगमगाइ धरनी धरै पैया।"

सूर बच्चो के मनोविज्ञान के मानों पंडित हो। वे बालको के प्रत्येक हाव-भाव एवं चेष्टाओं से परिचित हैं। माता यशोदा उन्हे दूध पिलाना चाहती हैं परन्तु बच्चे की हठ ही जो ठहरी दूध नही पीना चाहता। माता तरह-तरह के बहाने एवं प्रलोभन देकर उसे दूध पिलाती है—

"कजरी को पय पियहु लला जासे तेरी चोटी बढ़े।"

साथ ही माता यह भी कहती है कि देखो बलराम की कितनी चोटी बढ़ गई है और तुम्हारी अभी तक बहुत छोटी है। जितना अधिक दूध पियोगे चोटी उतनी ही जल्दी बढ जाएगी। बालक माता की बातों में आ जाता है परन्तु बहुत दिनों बाद भी जब चोटी नही बढ़ती है तो वे माता से प्रश्न कर ही देते हैं—

"मैया कबहिं बढैगी चोटी।
कितनी बार मोहि दूध पियत भई यह अजहुं है छोटी।"

इसके पश्चात् बड़े होकर कृष्ण अपने साथियो के साथ खेलने जाते है। बालकों मे प्राय. सगे भाइयों में बात-बात मे कहा सुनी हो जाती है। बलराम कृष्ण को चिढाने लगते है। बालक कृष्ण घर आकर माता से शिकायत करते हैं—

"मैया मोहि दाऊ बहुत खिजायो।
मोसो कहत मोल को लीनो, तोहि, जसुमति कब जायो।"

माता तुरन्त ही बलदाऊ को धूर्त कहकर कृष्ण को समझा देती है, कृष्ण प्रसन्न हो जाते हैं :

"सुनहु कान्ह बलभद्र चवाई, जनमत ही को धूत।"

इसी प्रकार जब माखन चोरी मे कृष्ण पकड़े जाते है और मुकद्दमा यशोदा माता के सामने जाता है तो अपनी चोरी का बचाव करने के लिए कृष्ण कैसे सुन्दर तर्क देते है—

"मैया मेरी मैं नही माखन खायो।
मैं बालक बहियन को छोटो छीको केहि विधि पायो।"

क्या ही अनोखा उत्तर दिया है! इस तर्क के आगे सभी अपराध छिप गए। निश्चय ही सूरदासजी ने वात्सल्य रस के वर्णन मे अपनी सारी शक्ति

लगा दी है। विश्व-साहित्य में वात्सल्य का ऐसा सजीव एवं स्वाभाविक वर्णन सम्भवतः हमें नहीं मिलेगा। इस क्षेत्र के तो वे एकच्छत्र सम्राट हैं।

शृंगार—वात्सल्य के समान ही सूरदासजी ने शृंगार का भी बड़े ही विस्तार एवं सूक्ष्मता के साथ चित्रण किया है। आपने शृंगार के दोनों रूपों—संयोग और वियोग का बड़े ही मार्मिक ढंग से चित्रण किया है। संयोग शृंगार का विशदता से वर्णन करने पर भी कहीं पर भी अश्लीलता का समावेश नहीं हुआ है। इस पक्ष के अन्तर्गत राधा-कृष्ण का मधुर प्रेम, कृष्ण का राधा तथा गोपियों सहित रासक्रीड़ा आदि का वर्णन आता है। कृष्ण और गोपियों का प्रेम एक दिन की बात नहीं। वह तो वर्षों का परिणाम है। गोपियाँ कृष्ण पर मुग्ध हैं। बाल्यावस्था के साथ ही युवावस्था के साथी हो जाते हैं। गोपियों का प्रेम रूपलिप्सा एवं साथ में रहने के कारण विकसित हुआ है। कृष्ण भी राधा आदि के रूप-सौन्दर्य को देखकर मोहित हो जाते हैं—

"सूर स्याम देखत ही रीझै, नैन-नैन मिलि परी ठगोरी।"

दो और दो नेत्र मिलकर चार हो गए। राधा और कृष्ण में प्रेम का अंकुर प्रस्फुटित हो गया। उनका नित्य प्रेम-मिलन होता रहता है—

'धेनु दुहत अति ही रति बाढ़ी।
एक धार दोहनि पहुँचावत, एक धार जहाँ प्यारी ठाढ़ी।"

संयोग-वर्णन के इसी प्रकार के और भी अनेक सुन्दर चित्र प्रस्तुत किए जा सकते हैं। अब हम वियोग शृंगार को लेंगे।

वियोग शृंगार—वियोग वर्णन भी सूरदासजी का बहुत सुन्दर है। सूर को वियोग वर्णन में संयोग से अधिक सफलता प्राप्त हुई है। यह वियोग वर्णन दो रूपों में मिलता है –

(१) भ्रमरगीत प्रसंग में,

(२) कृष्ण के मथुरा चले जाने पर ब्रज तथा गोपियों की दशा-वर्णन के प्रसंग में।

प्रथम प्रसंग में कवि ने निर्गुण और सगुण के झगड़े को प्रस्तुत कर अन्त में निर्गुण पर सगुण की विजय दिखाई है। कृष्ण के अनन्य सखा ज्ञानमार्गी उद्धवजी अपना ज्ञान का उपदेश देने के लिए ब्रज जाते हैं और उन्हें तरह-तरह से समझाते हैं, परन्तु कृष्ण की अनन्य उपासिकाएँ दो टूक उत्तर देते हुए कह देती हैं कि हे उद्धव! हमारे पास तो केवल एक मन था और

उसे कृष्णजी अपने साथ ले गए। अब हम तुम्हारे निर्गुण की उपासना कैसे करें—

"ऊधौ मन नाहिं दस बीस।
एक हुतो सो गयो स्याम संग को आराधै ईस।"

इससे आगे जब उद्धव नहीं मानते हैं और ज्ञानमार्ग का उपदेश दिए चले जाते हैं तो गोपियाँ बड़े ही सुन्दर ढंग से पूछती हैं—

"निरगुन कौन देस को बासी"

इसी प्रकार दूसरे पक्ष में कृष्ण के वियोग मे गोपियों को कुछ भी अच्छा नहीं लगता है। संयोग मे जो वस्तुएँ उन्हे सुखकर लगती थी, अब वे ही वस्तुएँ दुःख देने लगी हैं :

"बिन गोपाल बैरिन भई कुंजै।
तब ये लता लगति अति सीतल अब भई बिसम ज्वाल की पुंजै।"

इसी भाँति प्रियतम के साथ होने पर सुखद लगने वाली रात्रि एवं चन्द्रमा की चाँदनी भी अब सर्पिणी के समान खाने को दौड़ती हुई दिखाई देती है—

"पिया बिनु साँपिन कारी रात।
कबहुँक जामिनि होति जुन्हैया उलि उलटी ह्वै जात॥"

इसी प्रकार वियोग शृंगार के और भी उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

निष्कर्ष रूप मे, कहा जा सकता है सूरदास वात्सल्य एवं शृंगार दोनों के ही सफल चितेरे हैं। वात्सल्य के क्षेत्र में तो विश्व साहित्य में उनकी कोई समता नहीं कर सकता।

प्रश्न ३— **'प्रेम और भक्ति का जैसा सजीव और सुन्दर चित्र रसखान ने खींचा है कदाचित ही वैसा किसी अन्य कवि ने खींचा हो।" इस वाक्य की सविस्तार विवेचना कीजिए। अथवा**

रसखान का जीवन वृत्त लिखते हुए उनकी काव्यगत विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

उत्तर मियाँ रसखान श्रीकृष्ण के अनन्य भक्त थे। उनके सम्बन्ध में कहा जाता है कि वे किसी साहूकार के बेटे पर आसक्त थे और बाद में उनका यह प्रेम श्रीनाथजी के प्रेम मे परिणत हो गया था। यह भी कहा जाता है

कि जब उन्होंने श्रीमद्भागवत का फारसी अनुवाद पढ़ा तो उनके हृदय में यह जिज्ञासा घर कर गई कि जिस कृष्ण पर हजारों गोपियाँ अपना सर्वस्व न्योछावर करती हैं, उसी से प्रेम क्यों न किया जाय ? बस यही प्रेरणा उनकी भक्ति भावना का कारण बनी, जो निरन्तर बढ़ती ही गयी। उनका लौकिक प्रेम अलौकिक प्रेम में उन्मुक्त हुआ, क्योंकि रसखान श्रीकृष्ण की मनोहर छवि पर रीझने के कारण भक्ति-भावना से ओत-प्रोत रचना का सृजन करने लगे। फलस्वरूप उनके काव्य में कृष्ण के यौवनावस्था की लीलाओं का समावेश अधिक है। उनकी समस्त रचनाएँ 'सुजान रसखान' और 'प्रेम वाटिका' में संग्रहीत है।

रसखान की प्रेम साधना - रसखान का हृदय एक सच्चे रसिक प्रेमी का हृदय था। इसलिए उनकी कविता में उच्च कोटि के प्रेमी की सात्त्विक अनुभूति, हृदय की तन्मयता, जीवन की गम्भीरता, सरलता और अन्तर की निश्छलता के दर्शन होते हैं। उनके प्रेम में अनुरक्ति है, सच्ची है और जीवन की सार्थकता है। यह तो अवश्य सत्य है कि वे आसक्त थे, चाहे किसी पर हों क्योंकि उन्होंने यह स्वीकार किया -

तोरि मानिनी ते हियो, फोरि मोहिनी-मान।
प्रेम की छविहि निरखि, भये मियाँ रसखान॥

रसिक शिरोमणि कृष्ण की रूप-माधुरी पर मुग्ध रसखान ने, उनके रूप रस के नशे में झूमती हुई एक गोपी का कितना मर्मस्पर्शी वर्णन किया है, जो उर-वीणा के तारों को झनझना देता है।

सोहत है चँदवा सिर मोर के जैसियें सुन्दर पाग कसी है।
तैसियें गोरज भाल विराजति, तैसी हिय बनमाल लसी है॥
रसखानि विलोकति वारी भई, दृग मूँदि कै ग्वालि पुकारि हँसी है।
खोलरी घूँघट, खोल्यो कहा, वह सूरति नैननि माँझि बसी है॥

प्रेम की इतनी मार्मिक कल्पना अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। जब से कृष्ण को लोगों ने देखा है तब से पागलों जैसी आकृति हो गई है, ठगे से रह गये है, कृष्ण के रूप सौन्दर्य पर मानो सारा ब्रज ही बिक गया है। जब सारा ब्रज ही मोहित है तो भला रसखानि कहाँ रह जायेंगे —

जा दिन ते वह नन्द को छोहरा, या बन धेनु चराई गयो है।
मीठिहि ताननि गोधन गावत, बैन बजाइ रिझाई गयो है॥

वा दिन सो कछु टोना सो कै रसखानि हिये में समाइ गयो है।
कोऊ न काहू की कानि करै सिगरो ब्रजवीर विकाइ गयो है॥

सारा ब्रज तो कृष्ण के सौन्दर्य पर बिक चुका है, घर द्वार किसी को अच्छा नही लगता सब उनसे मिलने के लिए उत्सुक रहते है। पर ब्रजमारी यह मुरली किसी से मिलने नही देती, यह बडी सौभाग्यशाली है कि कृष्ण के हर समय होठो से ही लगी रहती है। खूब कृष्ण के मुँह लगी है, तभी हमसे मिलने नही देती। सपत्नी-भाव से गोपियो में वशी बजने पर बड़ा डाह उत्पन्न हो गया है, वशी पर ये किस प्रकार अपनी खीझ प्रकट करती हैं। रसखानि ने इस प्रेम की कितनी सुन्दर अभिव्यक्ति की है —

मोर-पखा सिर ऊपर राखि हो गुञ्ज की माल गरे पहिरौंगी।
ओढि पीताम्बर लै लकुटी बन गोधन ग्वारनि सँग फिरौंगी॥
भावती वोहि मेरो रसखानि सो, तेरे कहे सब स्वाँग करौंगी।
या मुरली मुरलीधर की अधरानि धरी अधरान धरौंगी॥

मुरली से कितनी जलन है गोपियो को। सखी के कहने पर कृष्ण का सब वेष धारण करने को एक गोपी तैयार है—पर वह कृष्ण की वशी को अपने ओठो पर नही रखेगी। प्रेम की कितनी गहरी टीस है, रसखान के हृदय मे। वास्तविक प्रेम की महिमा विचित्र है, क्योकि उनका यह कथन कि प्रेमहीन प्राणी का जीवन निरर्थक है और उसने व्यर्थ ही संसार मे जन्म लिया। प्रेम रस में विभोर होकर मृत्यु को प्राप्त होने वाला ही ससार में अमर रहता है, यह कथन इसकी पुष्टि करता है। प्रेम मे कितनी अदम्य शक्ति है कि जिस कृष्ण को इन्द्र सहित समस्त देवता प्राप्त करने के लिए निरन्तर आराधना करते रहते है और जिसे वेदो में अनन्त और अखण्ड बतलाया गया है तथा नारदादि अनेको ऋषि मुनि जिसका सदैव भजन करते रहते हैं, फिर भी उसका किसी ने पार नही पाया, उसी कृष्ण को ग्वालों की छोटी-छोटी लड़कियाँ जरा से मट्ठे के लिए नाच नचाया करती है। इसका मनोहारी प्रभाव यदि देखना है तो रसखानि का यह सवैया पढ़िए —

सेस गनेस महेस दिनेस सुरेसहु जाहि निरन्तर गावै।
जाहि अनादि अनन्त अखण्ड अछद अभेद सुवेद बतावै॥
नारद से सुक व्यास रटै, पचि हारे तऊ पुनि पार न पावै।
ताहि अहीर की छोहरियाँ, छछिया भरि छाछ पै नाच नचावै॥

यह है वास्तविक प्रेम की मधुर व्यंजना, जिसमें रसखानि ने स्वयं को मिला दिया। भगवान सच्चे प्रेम के वशीभूत हैं, कोई भी किसी रूप में उन्हें भजे-वे अवश्य मिलते हैं। रसखान को ब्रह्म का साक्षात्कार कहाँ हुआ, यह भी सुन लीजिये—

ब्रह्म में ढूँढ्यो पुरानन गायन वेद रिचा पढ़ी चौगुने चायन।
देख्यो सुन्यो न कहूं कबहूं, वह कैसे स्वरूप औ कैसे सुभायन॥
ढूँढ़त-ढूँढ़त ढूँढ़ि फिरयों रसखानि बतायौ न लोग लुगायन।
देख्यों दुर्‌यो वह कुंज कुटीर में बैठ्यो पलोटत राधिका पायन॥

यह है रसखानि की प्रेम साधना, जिसमें सरसता और सजीवता के सर्वत्र दर्शन होते हैं। रसखानि की उदार दृष्टि में पुराण और कुरान दोनों का स्थान है। किन्तु उसका मुख्य लक्ष्य सदैव प्रेम ही है, उन्होंने प्रेम को ही प्रधानता दी है। प्रेम की महत्ता देखिये—

"शास्त्रन पढ़ि पण्डित भये, कै मौलवी कुरान।
जुपै प्रेम जान्यो नहीं, कहा कियो रसखानि॥"

रसखानि की भक्ति-भावना—कविवर रसखानि ने जितने सरस, मधुर और मर्मस्पर्शी प्रेम सम्बन्धी सवैयों में अपने सुकोमल भावों को व्यक्त कर सफलता पाई है। उसी प्रकार उन्होंने अत्यन्त प्रभावशाली, सरस एवं आकर्षक वर्णनों द्वारा अपने काव्य में भक्ति दर्शायी है। उनके काव्य में प्रेम और भक्ति की तदनुरूप परिस्थितियों की उद्‌भावना का समन्वय है। रसखानि के काव्य में सर्वत्र स्वाभाविक सरसता का समावेश है और उनकी भक्ति-भावना में तन्मयता, आत्म-समर्पण एवं अपने आराध्य के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा की भावना है। देखिए, भक्ति की भावना में कितनी सजीवता है, रसखानि की आकांक्षा है कि यदि मैं पुनः जन्म धारण करूँ, तो ब्रज में ही जन्म लूँ अन्यत्र नहीं—

मानुष हौं तो वही 'रसखानि' बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पशु हौं तो कहा बस मेरो चरौं नित नन्द की धेनु मझारन॥
पाहन हौं तो वही गिरि को जो कियो ब्रज छत्र पुरन्दर धारन।
जो खग हौं तो बसेरो करौं मिलि कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन॥

रसखानि सच्चे भक्त थे। उन्होंने अपने उपास्य देव श्रीकृष्ण की भक्ति और भक्त वत्सलता में पूर्ण विश्वास रखा है। वे अपने आराध्य कृष्ण और

उनकी जन्म भूमि व्रज पर इतने आसक्त थे कि उस सुख के आगे समस्त त्रैलोक्य के वैभवो को भी सहर्ष छोड़ सकते थे। उनके इस कथन मे कितना अनूठा उल्लास है—

या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारौं।
आठहु सिद्धि नवौं निधि को सुख नन्द की गाइ चराइ विसारौं॥
'रसखानि' कवौं इन आँखिन सौं व्रज के वन, वाग, तड़ाग निहारौं।
कोटि करौ कलधौत के धाम करील की कुंजन ऊपर वारौं॥

इस प्रकार प्रेमी भक्त रसखानि ने अपने मनोभावों मे प्रेम की अभिव्यंजना को वडे सरल और मार्मिक शब्दो में प्रदर्शित किया है। एक भक्त-की एकमात्र अभिलाषा का कितना सात्त्विक रूप है। उनकी भक्ति का विशुद्ध रूप उनके काव्य मे मिलता है। 'प्रेम और भक्ति' का जैसा सजीव एवं सुन्दर चित्र रसखान ने खींचा है, कदाचित् ही वैसा अन्य किसी कवि ने खींचा हो, क्योंकि उन्होंने जो कुछ लिखा है, जितना लिखा है, उनके हृदयोद्गार ही हैं, वनावटीपन नही। तभी तो इनकी प्रेम पूर्ण सीधी-सादी कविताओं को देखकर आचार्य शुक्ल ने लिखा है—'इनकी कृति परिमाण मे तो वहुत अधिक नहीं है पर जो है वह प्रेम के मर्म को स्पर्श करने वाली है और अन्य कृष्ण भक्तो के समान इन्होंने 'गीत-काव्य' का आश्रय न लेकर कवित्त-सवैयों मे अपने सच्चे प्रेम की व्यंजना की है।" रसखानि की दृष्टि मे हर और हरि मे कोई भेद नही वे कृष्ण की भक्ति के साथ-शिवजी के भी परम भक्त थे जैसा कि निम्नलिखित सवैया से विदित होता है—

यह देखि धतूरे के पात चवात औ गात सौं धूलि लगावत हैं।
चहुँ ओर जटा अट कै लट कैं फनि सेक फनी फहरावत है॥

प्रश्न ४—श्री मैथिलीशरण गुप्त के जीवन का परिचय देते हुए उनकी काव्यगत विशेषताओं पर प्रकाश डालिए। अथवा

मैथिलीशरण गुप्त की काव्यगत विशेषताओं का उल्लेख करते हुए सप्रमाण उत्तर दीजिए कि हिन्दी के राष्ट्रकवियों में उनका सर्वोच्च स्थान है।

उत्तर – राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त का जन्म संवत् १९४२ में चिरगाँव जिला झाँसी मे हुआ था। इनके पिता सेठ रामचरण एक वैष्णव भक्त एव कवि थे। इस प्रकार मैथिलीशरण को कविता एवं वैष्णव भावना अपने पिता से ही विरासत में प्राप्त हुई थी। इसके साथ ही आपको इनके पिता

ने प्रेस के व्यवस्थापक मुंशी अजमेरी की देखरेख में रखा। मुंशी अजमेरी की कविता करने में अच्छी पैठ थी और कविता करने का गुरुमन्त्र इन्हें मुंशीजी से ही प्राप्त हुआ। बाद में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का भी आपने आशीर्वाद प्राप्त कर लिया था। आपकी रचनाएँ संवत् १९६४ से ही 'सरस्वती' नामक पत्रिका में प्रकाशित होने लगी थीं। स्कूल में तो आपकी शिक्षा अधिक न चल सकी परन्तु आपने घर बैठकर ही अँग्रेजी, संस्कृत आदि भाषाओं का खूब मन लगाकर अध्ययन किया। आपने भी अपनी कविता खड़ी बोली में की है। 'साकेत' आपके द्वारा विरचित खड़ी बोली का एक अन्यतम महाकाव्य है। कविता के माध्यम से आपने देश में जागृति फूँक दी है। न केवल कविता, परन्तु समय आने पर आपने राष्ट्रीय आन्दोलनों में भी सक्रिय भाग लिया था। आपकी इन्हीं राष्ट्रीय निःस्वार्थ सेवाओं का यह परिणाम था कि आप राष्ट्र-कवि के साथ ही साथ भारतीय संसद के सदस्य भी मनोनीत किए गए और इस पद पर जीवन के अन्तिम दिनों तक आसीन रहे। आपकी मृत्यु सन् १९६४ ई० में हो गयी।

गुप्तजी ने हिन्दी साहित्य को लगभग ३३ ग्रन्थ दिए हैं। 'रंग में भंग' इनका सबसे पहला काव्य है। इसके पश्चात् 'जयद्रथ-वध', 'भारत भारती' तथा 'पंचवटी' आदि बहुत से ग्रन्थों की रचना आपने की है। 'भारत भारती' आपका सबसे अच्छा ग्रन्थ है, जिसमें भारतवासियों की तत्कालीन दशा का बड़ा ही रमणीक वर्णन मिलता है। एक स्थान पर उन्होंने कहा है—

"हम कौन थे, क्या हो गये और क्या होंगे अभी।
आओ विचारें बैठकर ये समस्याएँ सभी॥"

'साकेत' कवि का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। इसमें भगवान् की भक्ति पद्धति का सुन्दर इतिहास सरलता से पता चल सकता है। भगवद्-भक्ति के अतिरिक्त 'साकेत' की रचना का मुख्य उद्देश्य लक्ष्मण-पत्नी उर्मिला के चरित्र को ही उभारना था। कहीं-कहीं कवि ने सुन्दर मौलिक कल्पनाओं का भी सृजन किया है। परवर्ती रचनाओं में 'सिद्धार्थ', 'कुणाल', 'द्वापर' तथा यशोधरा', आदि का नाम प्रमुख रहा है। आपके 'काबा और कर्बला' मुसलमान धर्मों पर आधारित है) में मुसलिम संस्कृति की छाप मिलती है। तत्पश्चात्

ईसाई मत का प्रतिपादन करते हुए आपने 'अर्जन व विसर्जन' नामक ग्रन्थों की भी रचना की है।

काव्यगत विशेषताएँ—गुप्तजी की कविताओं में आधिक जीवन की सच्ची अनुभूतियों का बड़ा ही सुन्दर चित्रण हुआ है। आपने अपनी कविता के माध्यम से हिन्दू, मुस्लिम, बौद्ध आदि धर्मों को अपने काव्य का विषय बनाया है। आपकी कविता बड़ी ही सरस एवं प्रवाह लिए हुए है: साथ ही उसमें भाव गम्भीर्य के साथ ही सरलता भी है, जिसे साधारण पाठक भी समझ ले। अपने-अपने काव्यों में नर और नारी का चित्रण करने में बड़ी सफलता प्राप्त की है। इन्होंने प्रायः अपने काव्यों में आदर्श चरित्रों को ही स्थान दिया है। जन्म से वैष्णव होने के कारण आप भगवान् के अवतारों एवं जन्म-जन्मातरवाद में विश्वास रखने वाले हैं। परन्तु आधुनिक युग की माँग के अनुसार उन्होंने आवश्यकतानुसार कहीं-कहीं काव्य में कुछ परिवर्तन भी प्रस्तुत कर दिए हैं। यथा गुप्तजी आस्तिक होते हुए भी भगवान् के अलौकिक रूप मात्र में विश्वास नहीं करते हैं, परन्तु उनके भगवान् तो मानव के रूप में इसी पृथ्वी पर विराजे हुए हैं। तभी तो कवि ने राम के मुख से यह कहलवाया है—

"सन्देश नहीं मैं यहाँ स्वर्ग से लाया।
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया॥"

आज का युग मनोविज्ञान का युग है। कवि ने 'साकेत' में मनोवैज्ञानिक आधार पर ही कैकेयी का चरित्र-चित्रण किया है; यह कवि की अपनी मौलिक सूझ है।

गुप्तजी आदर्शवादी कवि थे और इन्होंने प्रत्येक काव्य में कोई न कोई आदर्श ही स्थापित किया है। चाहे वह 'सिद्धराज' ग्रन्थ हो, चाहे 'यशोधरा' और चाहे 'द्वापर'।

भाव पक्ष के साथ ही कवि ने अपने काव्यों में कला पक्ष का भी सुन्दर निर्वाह किया है। आपकी भाषा सरल एवं सुबोध खड़ी बोली है। छन्दों की दृष्टि से आपने हरिगीतिका आदि छन्दों को अपने काव्य में स्थान दिया है। अलंकार स्वाभाविक रूप से आए हैं। उनमें कहीं भी कृत्रिमता नहीं है। साथ ही वे भावों को उत्कर्ष प्रदान करने वाले हैं।

क्या भाव और क्या भाषा, सभी दृष्टियों से आपने एक क्रान्तिकारी

परिवर्तन साहित्य में उपस्थित कर दिया था। राष्ट्रीय आन्दोलनों में सक्रिय योगदान देकर तथा साहित्य के द्वारा जन-जागरण करने के कारण आप निश्चय ही एक महान् राष्ट्रीय कवि थे। राष्ट्रीय कवि देश की सभी समस्याओं को लेकर चलता है। आपने भी ऐसा ही किया है। वास्तव में राष्ट्रीय भावना उनमें कूट-कूट कर भरी हुई थी।

प्रश्न ५— तुलसी का संक्षिप्त जीवन-वृत्त देते हुए उनकी काव्यगत विशेषताओं पर प्रकाश डालिए। (सन् १९७४)

उत्तर—गोस्वामी तुलसीदासजी हिन्दी साहित्य के भक्तियुग के श्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। आप रामभार्गीय शाखा के प्रतिनिधि कवि थे। हिन्दी के प्राचीन कवियों के जन्म-स्थान एवं समय के बारे में विद्वान एकमत नहीं हो सके हैं। यह बड़े ही दुर्भाग्य की बात रही है। इसी प्रकार तुलसीदासजी को कुछ विद्वान् सोरों का बतलाते हैं तो कुछ राजापुर (बाँदा जिले) का। इसी भाँति डा० रामकुमार वर्मा, बाबू श्यामसुन्दरदास आदि विद्वान् तुलसी का जन्मकाल संवत् १५५४ मानते हैं, जबकि आचार्य शुक्ल, जार्ज ग्रियर्सन आदि विद्वान् आपका जन्म-समय संवत् १५८९ मानते हैं। आन्तरिक प्रमाणों के आधार पर संवत् १५८९ ही अधिक ठीक बैठता है। इनकी माता का नाम हुलसीबाई और पिता का नाम आत्माराम बताया जाता है। इनके जन्म के विषय में एक किम्वदन्ती यह है कि ये अभुक्त मूल नक्षत्र में जन्मे थे जिसके कारण इनके माता-पिता ने इनको त्याग दिया था। इसके पश्चात् इनका पालन-पोषण किया बाबा नरहरिदास ने। इनका बचपन का नाम कुछ लोग तुलाराम और कुछ रामबोला बताते हैं। इनके पालित-पिता और गुरु नरहरिदास ने ही इन्हे रामकथा सुनाई। बड़े होने पर ये काशी नगरी अपने गुरु के साथ चले गये और वहीं शेष सनातन नामक पंडित से उन्होंने वेद, वेदांग, उपनिषद्, गीता, पुराण आदि का खूब गहन अध्ययन किया। बारह वर्ष तक निरन्तर अध्ययन करने के पश्चात् ये अपने गुरु के साथ ही अयोध्या लौट आये और यहीं उनका विवाह रत्नावली नामक ब्राह्मण कन्या से हुआ। तुलसीदासजी अपनी पत्नी पर बहुत आसक्त रहते थे। एक बार जब इनकी पत्नी अपने मायके चली आई तो तुलसीदासजी से यह वियोग न सहा गया और वे ससुराल पहुंच गये। पत्नी ने इन्हें फटकार बताई और फटकार के साथ ही एक ऐसा मन्त्र दे दिया कि साधारण तुलसीदास नाम का यह व्यक्ति

एक महान् गोस्वामी तुलसीदास बन गया। उनकी पत्नी का कथन इस प्रकार था—

"अस्थि चर्म मय देय मम, तामें ऐसी प्रीति।
तैसी जो श्रीराम महँ होति न तो भव-भीति।"

कहा जाता है, पत्नी के इस उपदेश को सुनकर ही वे घर-बार छोड कर संन्यासी बन गये और इधर-उधर तीर्थों में घूमते रहे। कुछ समय पश्चात् संवत् १६३१ में इन्होंने हिन्दी साहित्य के अद्वितीय ग्रन्थ 'रामचरितमानस' की रचना की। यह ग्रन्थ लगभग ढाई वर्ष में लिखा गया था। रामचरित-मानस के अतिरिक्त आपने विनय-पत्रिका, कवितावली, गीतावली, दोहावली, कृष्ण-गीतावली, रामलला नहछू, पार्वती मंगल आदि लगभग १२ अन्य ग्रन्थों की रचना की है। संवत् १६८० में आपका स्वर्गवास हो गया। आपकी मृत्यु के विषय में भी यह दोहा प्रचलित है—

"संवत् सोरह सै असी, असी गंग के तीर।
श्रावण शुक्ला सप्तमी तुलसी तज्यो शरीर॥"

काव्यगत विशेषताएं—(१) तुलसीदासजी राम-भक्ति शाखा के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। आपके इष्ट भगवान् राम थे और इनकी भक्ति दास्य-भाव की कहलाती है। दास्य-भाव के साथ ही साथ इनकी भक्ति में अनन्यता थी। तुलसी का स्वयं इस विषय में कथन है—

"एक भरोसा एक बल, एक आस विश्वास।
एक राम घनश्याम हित, चातक तुलसीदास॥"

(२) तुलसी ने नाना पुराण, वेदों और शास्त्रों के गहन अध्ययन के पश्चात् उनमें से सार ग्रहण कर अपनी कविता में प्रस्तुत किया था।

(३) तुलसी के काव्य में तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक सभी समस्याओं का खुल कर वर्णन किया गया है।

( ) सामाजिक मर्यादा को बनाये रखने के लिए इन्होंने मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम का वर्णन प्रस्तुत किया है।

(५) उन्होंने अपने समय में प्रचलित विभिन्न सम्प्रदायों में एकता स्थापित करने की चेष्टा की है। वैष्णव, शैव और शाक्त में आपने परस्पर प्रेम बढ़ाना चाहा है।

(६) निराश हिन्दू जाति को इस ग्रन्थ के द्वारा आपने उसमें आशा का संचार किया है।

(७) तुलसी ने लगभग १२ ग्रन्थों की रचना की जिनमें से रामचरित-मानस तो श्रेष्ठतम कृति है ही, अन्य कृतियाँ भी उत्तम हैं।

(८) आपका अवधी तथा ब्रज दोनों ही भाषाओं पर समान अधिकार है।

(९) तुलसी ने अपने ग्रन्थों में तत्कालीन प्रचलित सभी छन्द शैलियों को स्थान दिया है।

(१०) तुलसी के काव्य में अलंकार स्वाभाविक रूप से आये हैं। यही कारण है कि वे अधिक प्रभावोत्पादक हैं।

(११) आपने अपने ग्रन्थों में नव रसों का विशदता से वर्णन किया है।

(१२) भाषा पर तुलसी का पूरा अधिकार है। साथ ही उनकी भाषा भावानुकूल भी है।

संक्षेप में तुलसी काव्य की यही विशेषताएँ हैं।

प्रश्न ६—"तुलसीदास कृत रामचरितमानस एक श्रेष्ठ एवं जनहितकारी कृति है।" सिद्ध करें।

अथवा

"तुलसी में कल्याण-भावना मिलती है।" उदाहरण देकर विषय को पूर्णतः स्पष्ट कीजिए।

उत्तर—तुलसीदास कृत 'रामचरितमानस' हिन्दी वाङ्मय की सर्वश्रेष्ठ कृति है। विश्व की जितनी भाषाओं में इसका अनुवाद हुआ है, सम्भवतः ऐसी अन्य कोई पुस्तक नहीं है। रामचरितमानस की इस लोकप्रियता का सबसे बड़ा कारण उसमें निहित गुणों का होना है।

मुसलमानों की बर्बरता से त्रस्त हिन्दू जनता को सम्बल प्रदान करने वाला यह महान् ग्रन्थ था। राम और रावण के युद्ध के द्वारा तुलसी ने साम्राज्यवाद (जिसके पोषक मुसलमान थे) और प्रजातन्त्रवाद से युद्ध की स्पष्ट झाँकी दी है। उनका दृढ़ विश्वास था कि प्रजा का कल्याण प्रजातन्त्र में ही निहित है तभी तो वे राजा के आदर्श की व्याख्या करते हुए कहते है कि जिस राजा के राज्य में प्रजा दुःख भोगे, वह राजा निश्चय ही नरकगामी होता है।

"जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी
सो नृप अवसि नरक अधिकारी ॥"

राजनीतिक कल्याण की भावना के साथ ही उन्होंने इस ग्रन्थ में जन-कल्याण को भी अपना लक्ष्य बनाया है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में यद्यपि उन्होंने इसे स्वान्तःसुखाय रचना बताया है परन्तु तुलसी का स्वान्तः सुखाय परजनहिताय बहुजन सुखाय है अर्थात् अपने से अधिक उन्हें समाज और जाति की चिन्ता रहती है। हिन्दुओं के पारिवारिक जीवन का यदि सन्तुलित आदर्श कहीं देखना है तो उसे हम सरलता से रामचरितमानस में देख सकते हैं। भाई का भाई के प्रति, पिता का पुत्र के प्रति, पुत्र का पिता के प्रति, पत्नी का पति के प्रति और पति का पत्नी के प्रति क्या कर्त्तव्य होना चाहिए, इसका स्पष्ट उत्तर हमें रामचरितमानस में मिल जाता है।

इतना ही नहीं पारिवारिक समस्याओं के समाधान के साथ ही साथ सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक सभी समस्याओं का भी हमें समाधान इस ग्रन्थ में उपलब्ध हो जाता है। समन्वय की भावना तो इस ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य रहा है। अपने समय के विभिन्न धर्मों एवं सम्प्रदायों में मेल बढ़ाने का पाठ हमें 'रामचरितमानस' पढ़ाती है। शैव, वैष्णवों और शाक्तों में जो कटुता विद्यमान थी, उसको उन्होंने बहुत सीमा तक दूर किया है। एक स्थान पर भगवान् राम कहते हैं

"शिव द्रोही मम दास कहावा।
सो नर मोहि सपनेहुँ नहिं भावा ॥"

देखिये शैव और वैष्णवों में कैसा मेल कराया है।

तुलसी के सामने केवल एक ही लक्ष्य था और वह लक्ष्य था जर्जर हिन्दू जाति में प्राण प्रतिष्ठा करना तथा समाज एवं धर्म में आई बुराइयों को दूर कर लोक-कल्याण में रत होना। उन्होंने राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक सभी क्षेत्रों में लोक-कल्याण की भावना भरने का सुन्दर प्रयत्न अपने ग्रन्थ के माध्यम से किया है और उन्हें सफलता भी मिली है।

प्रश्न ७—सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' की भाषा-शैली पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

अथवा

निराला की काव्यधारा पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

अथवा

'निरालाजी वास्तव में निराले थे।" इस आधार पर उनके काव्य का विवेचन कीजिये।

अथवा

निरालाजी का संक्षिप्त जीवन-परिचय देते हुए उनकी काव्यगत विशेषताओं पर प्रकाश डालिये।

उत्तर—महाप्राण निराला का जन्म सवत् १९५३ में बंगाल के महिषादल राज्य में हुआ था। आपके पिता यहीं पर राज्य के उच्च पदाधिकारी थे। बाल्यावस्था में आपका पालन-पोषण राजकुमारों की भाँति हुआ। तेरह वर्ष की अवस्था में आपका विवाह हो चुका था। पिता की मृत्यु के पश्चात् आपने राज्य मे नौकरी करना शुरू कर दिया था। पत्नी की प्रेरणा से ही आपने हिन्दी सीखी थी और यह हिन्दी का सौभाग्य था कि निराला ने उसे अपना लिया। पत्नी की मृत्यु के पश्चात् उनका जीवन ही बदल गया। उनके जीवन मे एक प्रकार की अशान्ति ने घर कर लिया। उन्हें कुछ भी अच्छा नहीं लगता था। वे एक स्थान पर जमकर रह भी नही सकते थे। यही से कवि के हृदय मे विद्रोह की ज्वाला फूट पड़ी। शरीर से विशालकाय होते हुए भी उनके हृदय में कोमल भावनाओं का निवास रहता था। यदि धनिक वर्ग और पूँजी पतियों के प्रति उनके हृदय में आक्रोश था तो गरीब एवं असहाय व्यक्तियों के प्रति दया एवं करुणा भी। उनके जीवन में बड़ा ही निरालापन था, किसी को ठंड से सिकुड़ते देखा तो अपने शरीर की भी चिन्ता नहीं करते हुए उसे उतार कर अपने कपड़े दे दिये। भूखे को देखा तो जो हाथ में था, सब दे डाला। स्वयं के खाने और पहनने की उन्हें कोई चिन्ता नही थी।

निरालाजी वास्तव में निराले थे। वे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में विद्रोह करना चाहते थे। जहाँ एक ओर सामाजिक विषमताओं के प्रति उनके मन में कसक थी, वहाँ काव्य के क्षेत्र में भी वे क्रान्तिकारी परिवर्तन कर देना चाहते थे। स्वच्छन्दतावादी कवि थे। वे छन्दबद्ध कविता के पक्षपाती न थे। रूढ़िवाद के चंगुल में फँसी हुई कविता के प्रति उनकी सहानुभूति न थी। वे तो छन्द विहीन अतुकान्त कविता के पक्षपाती थे। निरालाजी के सम्पूर्ण साहित्य में यही विद्रोह एवं विप्लव की भावना मिलती है। आप एक चिन्तनशील एवं बुद्धिवादी साहित्यकार थे। आपकी कविता में दार्शनिकता का विशेष

पुट विद्यमान है। आपने यों तो साहित्य की लगभग सभी विधाओं पर अपनी लेखनी चलायी है; परन्तु आपका कवि रूप ही अधिक प्रमुख रहा है। छायावाद के आदि चार आचार्यों मे से आप भी एक है। आपने अपनी कविताओं मे छायावाद, रहस्यवाद के साथ ही साथ प्रगतिवाद को भी स्थान प्रदान किया है। हिन्दू दर्शनशास्त्र का सहारा लेकर आपने आत्मा और परमात्मा मे प्रकृति के माध्यम से सम्बन्ध स्थापित किया है। 'तुम और मैं' शीर्षक कविता में यही बात सरलता से देखी जा सकती है—

"तुम तुग हिमालय शृङ्ग और मैं चचलगति सुर सरिता।
तुम विमल हृदय उच्छ्वास और मै कान्ति कामिनी कविता॥"

यही दर्शन का रूप आगे रहस्य मे परिणत हो जाता है और कवि कहने लगता है—

"तुम हो अखिल विश्व में, या यह अखिल विश्व है तुम में ?"

ऊपर की कविताएँ इस बात की प्रतीक हैं कि निराला के कठोर व्यक्तित्व मे कोमलता भी स्थान लिए हुए है।

कवि का यही रहस्यवादी रूप आगे चलकर दीन दुखियों के दुःख-दर्द देखकर प्रगतिवाद की ओर अग्रसर होने लगता है। 'विधवा', 'भिक्षुक', 'तोड़ती पत्थर' आदि कविताएँ इस श्रेणी की हैं।

भिखारी के रूप को देखकर कवि का हृदय अत्यधिक दुःखी हो उठता है और वह कहने लगता है—

"वह आता
दो टूक कलेजे के करता, पछताता पथ पर आता
पेट पीठ दोनो मिलकर है एक
चल रहा लकुटिया टेक
मुट्ठी भर दाने को, भूख मिटाने को;
मुँह फटी पुरानी झोली को फैलाता।"

इसी प्रकार काम में रत किसी मजदूरिन को देखकर कवि की आत्मा पुकार उठती है—

"वह तोड़ती पत्थर
देखा मैंने उसे इलाहाबाद के पथ पर।"

जीवन पर्यन्त उन्होंने संघर्ष किया। किसी के सामने वह विशाल व्यक्तित्व झुका नहीं और अपनी राह अकेला ही चलता गया। उनकी इसी अक्खड़ प्रवृत्ति के कारण साहित्य के कुछ मठाधीशों ने उनका हमेशा ही विरोध किया, परन्तु निराला तो वास्तव में निराले थे। उन्होंने किसी से भी जीवन पर्यन्त समझौता नहीं किया। हिन्दी का यह महान् दुर्भाग्य रहा कि ऐसा महान् व्यक्तित्व आज हमारे बीच से उठ गया है।

उनके अन्दर विद्रोह और जनक्रान्ति की भावना बहुत प्रबल थी। वर्तमान अर्थव्यवस्था को वे बर्दाश्त नहीं कर सकते थे। 'कुकुरमुत्ता' आदि कविताओं में उन्होंने समाज के ठेकेदारों पर अच्छे व्यंग्य कसे हैं। एक अन्य स्थान पर वे उद्घोष कर देते हैं कि—

"आज जमींदारों की हवेली
किसानों की होगी पाठशाला।"

इसी प्रकार साम्य की भावना से प्रेरित होकर वे कहते हैं—

"भेद कुल मिट जाय वह सूरत हमारे दिल में है।
देश को मिल जाय वह मूरत हमारे दिल में है॥"

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि निराला वास्तव में निराले थे, परन्तु सरस्वती की आराधना करते हुए हिन्दी साहित्य की जो उन्होंने श्रीवृद्धि की है, उस दृष्टि से उनका हिन्दी साहित्य में प्रमुख स्थान है। छायावाद के क्षेत्र में भी उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

रचनाएँ—**काव्य** – परिमल, गीतिका तुलसीदास, अनामिका, कुकुरमुत्ता, अपरा, अर्चना आदि।

उपन्यास—अप्सरा. अलका, निरुपमा, प्रभावती आदि।

कहानी संग्रह—लिली, सखी, चतुरी-चमार, सुकुल की बीवी आदि।

रसखान

मानुष हौं तो वही रसखान बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जौ पशु हौं तौ कहा बस मेरो, चरौं नित नन्द के धेनु मझारन॥
पाहन हौं तौ वही गिरि को जो कियो ब्रज छत्र पुरन्दर-धारन।
जो खग हौं तो बसेरौं करौं मिलि कालिंदी कूल कदम्ब की डारन॥१॥

प्रसंग—प्रस्तुत सवैया रसखान रचित कृष्ण-भक्ति से उद्धृत किया गया है। इसमें भक्त-हृदय की भावनाओं का सुन्दर चित्रण है। अपने इष्टदेव के

प्रति प्रेम, श्रद्धा और भक्ति-प्रेम विह्वल भक्त जन्म-जन्मान्तरों मे अपने प्रभु की जन्मभूमि मे ही जन्म लेने की याचना करना है।

भावार्थ—हे प्रभो! यदि मुझे आप मनुष्य कोटि में जन्म दे तो व्रज में स्थित गोकुल ग्राम का कोई ग्वाल-बाल बनाना, जिससे कि मैं श्रीकृष्ण का सदैव सहवास प्राप्त कर सकूँ। यदि विवश होकर मुझे पशु जोनि में जन्म लेना पडे तो उस गाय का रूप देना जो कि नन्द की गायो के बीच मे श्री कृष्ण के द्वारा चराई जाती थी। यदि मैं पत्थर बनूँ तो उसी पर्वत का जिसे कि श्रीकृष्ण ने व्रज को इन्द्र के कोप से बचाने के लिए अपनी उगली पर उठा रखा था। हे भगवान्! यदि मुझे पक्षी बनाया जाय तो मैं यमुना के तट पर बने कदम्ब वृक्ष की डाल पर बसेरा करूँ।

भावार्थ (अन्तर्कथा)—व्रजवासी पहले इन्द्र की पूजा किया करते थे कृष्ण के आदेश पर उन्होंने इन्द्र पूजा बन्द कर दी तथा गोवर्धन पर्वत की पूजा आरम्भ कर दी। इस पर इन्द्र बहुत अधिक कुपित हुआ। इन्द्र के आदेश से प्रलयकारी मेघों ने व्रज पर भीषण वर्षा की। समस्त व्रज डूबने लगा। श्री कृष्ण ने जब यह देखा तो उन्होने गोवर्धन पर्वत को अपनी उँगली पर उठा लिया और उसके नीचे समस्त व्रजवासियो की रक्षा की।

या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारौं।
आठहु सिद्धि नवौ निधि को सुख नन्द की गाइ चराइ विसारौं॥
रसखान कबौं इन आँखिन सौ व्रज के वन बाग तडाग निहारौं।
कोटि करौं कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारौं॥२॥

प्रसंग—प्रस्तुत छन्द मे रसखान अपने इष्टदेव की मनोहर छवि पर कितने विमुग्ध दिखाई देते है। वे तीनो लोको के वैभव को कृष्ण की लकुटी और कामरिया पर निछावर करने को तैयार है।

भावार्थ—रसखान कवि कहते हैं कि यदि मुझे श्रीकृष्ण की लकुटी तथा कम्बल मिल जाएँ तो इनके बदले में मैं तीनो लोको के राज्य को त्यागने के लिए तैयार हूँ। नन्द की गायो को चराने के सुख के सामने मैं आठों सिद्धि और नवो निधि के सुख को नगण्य समझता हूँ। यदि कभी मैं अपनी इन आँखो से व्रज के हरे-भरे कुंज वन-बाग तथा करील के कुंज देखूँ तो इस पर मैं स्वर्ण मण्डित करोड़ो भवनों को न्यौछावर कर सकता हूँ।

तब इसने रक्षा के लिए अपने पुत्र (नारायण) को पुकारा। इस पर विष्णु के दूत अजामिल को यम दूतों से छीनकर स्वर्ग ले गये।

(५) अहिल्या—यह गौतम ऋषि की पत्नी थी। वह अतीव सुन्दरी थी। इन्द्र इसके रूप पर विमुग्ध हो गये। इन्द्र ने गौतम का रूप धारण कर अहिल्या के साथ व्यभिचार किया। इतने में ऋषि ने द्वार पर पुकारा। अहिल्या ने इन्द्र को छिपा दिया, परन्तु ऋषि ने तपोबल से सारी बात जान ली उन्होंने इन्द्र को शाप दिया कि तेरे सहस्त्र अंग हो जायें और अहिल्या को पत्थर होने का शाप दिया। क्रोध शांत होने पर ऋषि ने अहिल्या के उद्धार की बात कही कि रामचन्द्र के चरण-स्पर्श से तेरा उद्धार होगा। फलतः विश्वामित्र के साथ जाते हुए जनकपुर के मार्ग में पड़ी इस शिला रूप अहिल्या का श्री रामचन्द्र जी ने अपने चरण-स्पर्श से उद्धार किया।

(६) प्रहलाद—प्रहलाद हिरण्यकश्यप का पुत्र था। हिरण्यकश्यप बड़ा अभिमानी और अत्याचारी राजा था। उसने अपने राज्य मे भगवान् का नाम लेने पर प्रतिबन्ध लगा दिया था। परन्तु प्रहलाद भगवान् का बड़ा भक्त था। यह सदैव राम का नाम रटता था। पिता ने अपनी आज्ञा न मानने के अपराध में प्रहलाद को अनेक कष्ट दिये। पहाड़ से प्रहलाद गिरवाया, अग्नि में जलाकर भस्म करवाने की ठानी, परन्तु प्रत्येक बार भगवान् ने प्रहलाद की रक्षा की, अन्त में हिरण्यकश्यप ने प्रहलाद को गर्म खम्भे से बाँधकर तलवार से मारना चाहा, तभी भगवान् ने नर्सिंह रूप धारण कर हिरण्यकश्यप का वध किया और प्रहलाद की रक्षा की।

मैथिलीशरण गुप्त

(अब वे वासर बीत गए)

दोनों ओर प्रेम पलता है।
सखि पतंग भी जलता है
हा! दीपक भी जलता है।
सीस हिलाकर दीपक कहता—
"बन्धु वृथा ही तू क्यों रहता?"
पर पतंग पड़कर ही रहता,
कितनी विह्वलता है।
दोनों ओर प्रेम पलता है।

प्रसंग—प्रस्तुत पद्यांश मैथिलीशरण गुप्त द्वारा विरचित 'अब वे वासर बीत गए' शीर्षक कविता से अवतरित है। इसमें कवि ने बताया है कि प्रेम उभय पक्षीय होता है, एकपक्षीय नहीं।

व्याख्या—उर्मिला कहती है कि हे सखि! प्रेम दोनों ही ओर पलता है अर्थात् प्रेम उभय-पक्षीय होता है। अपने कथन को सिद्ध करती हुई वह दीपक और पतंग का उदाहरण देती हुई कहती है कि एक तरफ यदि पतंग दीपक पर जलकर अपने को मिटा देता है तो दूसरी तरफ दीपक की वर्तिका भी जलती रहती है। दीपक अपने प्रेमी पतंग से अपनी गर्दन हिलाकर उसे सावधान करता हुआ कहता है कि हे बन्धु! तू व्यर्थ में ही मेरे ऊपर क्यों मरा जा रहा है? परन्तु पतंगे के प्रेम की अनन्यता देखिए कि वह दीपक के मना करने पर भी अपने आपको जला ही देता है। पतंग के हृदय में मर मिटने के लिए कितनी विह्वलता है। इसे कौन जान सकता है? इस प्रकार प्रेम दोनों ओर से होता है एक ओर से नहीं।

विशेष—१. प्रेम की अनन्यता का चित्रण है।

२ दृष्टांत अलंकार।

उचकर हाय! पतंग करे क्या?
प्रणय छोड़ कर प्राण धरे क्यों?
जले नहीं तो भला करे क्या?
क्या यह असफलता है?
दोनों ओर प्रेम पलता है?

प्रसंग—प्रस्तुत पद में कवि कहता है कि प्रेमी जन प्रेम की प्राप्ति के लिए अपने प्राणों तक की आहुति दे देते हैं।

व्याख्या—छोटा जीव पतंग दीपक की शिखा पर जले नहीं तो क्या करे? वह दीपशिखा के प्रति अपने अनन्य प्रेम को छोड़कर कैसे जीवित रह सकता है, अर्थात् नहीं रह सकता है। क्या वह अपने प्राणों की रक्षा हेतु अपने प्रेम मार्ग का त्याग कर दे और दीप की शिखा पर जले नहीं? क्या दीपक की शिखा पर मर मिटने की उसकी उत्कृष्ट अभिलाषा उसके जीवन की असफलता है? निश्चय ही नहीं, अपितु यह तो उसकी विजय ही है। हे सखि प्रेम दोनों ओर पलता है वह एक पक्षीय नहीं होता है।

विशेष--(१) उर्मिला की प्रेम भावना व्यक्त हुई है। (२) प्रेम उभय पक्षीय होता है -- फारसी में इसे महत्त्व दिया गया है।

मुझे फूल मत मारो।
मैं अबला बाला वियोगिनी, कुछ तो दया विचारो॥
होकर मधु के मीत मदन पटु, तुम कटु गरल न गारो।
मुझे विकलता, तुम्हें विफलता, ठहरो श्रम परिहारो॥
नहीं भोगिनी यह मैं कोई, जो तुम जाल पसारो।
बल हो तो सिन्दूर-बिन्दु यह, यह हर नेत्र निहारो॥
रूप, दर्प कन्दर्प, तुम्हें तो मेरे पति पर वारो।
लो, यह मेरी चरण धूलि उस रति के सिर पर धारो॥

प्रसंग—प्रस्तुत गीत गुप्त जी के 'साकेत' काव्य से अवतरित है। प्रस्तुत पद में वियोगिनी उर्मिला कामदेव से न सताए जाने की प्रार्थना करती हुई कहती है—

व्याख्या—वियोगिनी उर्मिला कामदेव को लक्ष्य करती हुई कहती है कि हे कामदेव! मुझे पुष्प बाणों से घायल कर अपने वश में करने का प्रयत्न मत करो। मैं तो अबला बाला हूँ और इसके ऊपर वियोगिनी भी हूँ। मेरी इस दयनीय दशा पर कुछ तो दया करो। हे कामदेव! तुम तो वसन्त ऋतु के मित्र हो, फिर भी तुम मेरे ऊपर यह विष की बौछार क्यों कर रहे हो? मेरे प्रति तुम्हारी यह निष्ठुरता उचित नहीं है। तुम्हारे इस कार्य व्यापार से मुझे व्याकुलता तो होगी ही, परन्तु तुम्हें विफलता मिलेगी। इसलिए इस व्यर्थ के श्रम को त्याग दो। मैं कोई भोग-विलासिनी स्त्री नहीं हूँ जिसे तुम अपने जाल में फँसाने का प्रयत्न कर रहे हो। यदि तुम में शक्ति है तो मेरे इस सिन्दूर बिन्दु की ओर देखो। यह तुम्हें भस्म कर देने वाला साक्षात शिव का तृतीय नेत्र ही है। हे कामदेव! यदि तुम्हें अपने रूप लावण्य का गर्व है तो तुम्हारा यह रूप लावण्य मेरे पति (लक्ष्मण) के चरणों पर न्यौछावर है, अर्थात् मेरे पति तुमसे कहीं अधिक सुन्दर हैं। यदि तुम्हें अपनी पत्नी रति के प्रेम का गर्व है तो मेरी चरण धूलि उस रति के मस्तक पर जाकर रख दो अर्थात् उसका प्रेम तो निश्चय ही मेरे पैरों की धूलि के समान भी नहीं है।

विशेष—(१) उर्मिला की वियोग-वेदना व्यंजित है।
(२) प्रकृति का उद्दीपन रूप में चित्रण है।

गोस्वामी तुलसीदास

तिमिरु तरुन तरनिहि मकु गिलई । गगन मगन मकु मेघहि मिलई ॥
गोपद जल बूड़हिं घट जोनी । सहज क्षमा बस छाड़इ छोनी ॥
मसक फूंक मकु मेरु उड़ाई । होइ न नृप मदु भरतहि भाई ॥
लखन तुम्हार सपथ पितु आना । सुचि सुबन्धु नहिं भरत समाना ॥

प्रसंग - ये चौपाइयाँ महाकवि तुलसीदास कृत 'श्रीरामचरितमानस' से अवतरित की गयी है । भगवान् राम के चित्रकूट में वनवास का समय बिताने की खबर सुनकर भरत जी अपना राजपाट त्यागकर नगरवासियों सहित अपने अग्रज से भेंट करने को प्रस्थान करते है । लक्ष्मण के मन में भरत के प्रति कुछ बुरे भाव प्रकट होते है और वे सोचते है कि सम्भवतः भरत हमारे ऊपर आक्रमण करने हेतु आ रहे है तो वे क्षत्रियोचित रूप में प्रतिकार की तैयारियाँ करने लगते हैं परन्तु भगवान् राम लक्ष्मण की उस शंका को निर्मूल करते हुए कहते है कि भरत को स्वप्न में भी राजमद नहीं हो सकता है, चाहे उन्हें ब्रह्मा, विष्णु और शिव की उपाधि प्राप्त हो जावे । इस प्रसंग में कवि ने भरत के चरित्र को राम के द्वारा उत्कर्ष प्रदान करवाया है ।

व्याख्या—भगवान् राम अपने भ्राता लक्ष्मण को समझाते हुए कहते है कि हे भाई लक्ष्मण ! हो सकता है कि अन्धकार तरुण सूर्य को निगल जावे; आकाश मेघो मे विलीन हो जावे; घडे से जन्म लेने वाले महर्षि अगस्त्य चाहे गाय के खुर से बने हुए गड्ढे के जल में डूब जावें और स्वयं पृथ्वी भी अपने प्राकृतिक गुण क्षमाशीलता का परित्याग कर दे । सुमेरु पर्वत चाहे मशकों (मच्छरो) से फूंक मार देने से उड जावें । उपर्युक्त बातों का कहने का तात्पर्य यह है कि चाहे यह असम्भव बातें भी एक बार को सम्भव हो जावें लेकिन प्यारे भाई भरत मे यह सत्ता का मद भूलकर भी नहीं आ सकता है । हे लक्ष्मण ! मैं तुम्हारी और स्वय पूज्य पिता की सौगन्ध खाकर कहता हूँ कि भरत के समान निश्छल एवं श्रेष्ठ भ्राता और कोई नहीं हो सकता है ।

विशेष—(१) भगवान् राम ने इन चौपाइयो में भरत जी के चरित्र को महान् उत्कर्ष प्रदान किया है ।

(२) तिमिरु तरुन तरनिहि—मे अनुप्रास अलकार है ।

इहाँ भरतु सब सहित सहाए । मन्दाकिनी पुनीत नहाए ॥
सरित समीप राखि सब लोगा । मांगि मातु गुरु सचिव नियोगा ॥

चले भरत जहँ सिय रघुराई। साथ निषाद नाथु लघु भाई॥
समुझि मातु करतब सकुचाहीं। करत कुतरक कोटि मन माहीं॥
राम लखनु सिय सुनि मम नाऊँ। उठि जनि अनत जाहिं तजि ठाऊँ॥
मात मते महुँ मानि मोहि, जो कछु करहिं सो थोर।
अघ अवगुन छमि आदरहिं समुझि आपनी ओर॥

प्रसंग—ये चौपाइयाँ गोस्वामी तुलसी कृत 'श्रीरामचरितमानस' से ली गयी है। ननिहाल से लौटने के पश्चात् जब भरत जी को राम के वनगमन का रहस्य ज्ञात होता है तो उनके मन में अनेक प्रकार की ग्लानियुक्त भावनाएँ उत्पन्न होती है। उन्ही का यहाँ चित्रण किया गया है।

व्याख्या—तुलसी दास जी कहते है कि चित्रकूट पहुँच कर भरतजी ने परिजन और पुरजनों के साथ पवित्र गंगा नदी में स्नान किया। स्नान करने के उपरान्त अन्य साथियों को गंगा के समीप ही ठहरने की व्यवस्था कर माताओं, गुरुओं और मन्त्रियों से आज्ञा प्राप्त कर अपने साथ में लघु भ्राता शत्रुघ्न और निषादराज को लेकर वहाँ गये जहाँ माता सीता और भगवान् राम ठहरे हुए थे। (भगवान् राम के समीप जाते समय उनके मन में अनेकानेक प्रकार की शंकाएँ उत्पन्न होती है।) वे अपनी माता कैकेयी की करतूतों का स्मरण कर बड़े ही संकुचित हो जाते है और अपने मन में तरह-तरह के विचार लाते है, (क्योंकि भरतजी यह अच्छी तरह समझते है कि इन सब उपद्रवों का मूल कारण मेरी ही माता है।) उनके मन में यह विचार भी उत्पन्न होता है कि कहीं ऐसा न हो कि राम, लक्ष्मण और सीताजी मेरा नाम सुनते ही और उपद्रव की मूल कैकेयी का मुझे पुत्र समझते ही उस स्थान को छोड़कर कही अन्यत्र न चले जाएँ।

मेरी माता ने यह सब प्रपंच खड़ा किया है और चूँकि मैं उसका पुत्र हूँ अतः मैं भी इस कार्य में सहभागी हूँ ऐसा सोचकर भी वे मेरे पूज्य भाई एवं भाभी मेरे लिए जो कुछ भी कहें, सुनें वह सब थोडा ही है। इसके साथ ही भरतजी को यह भी पूर्ण विश्वास है कि भगवान् राम मुझे अपनायेंगे और मेरे पापों और अवगुणों को निश्चय ही क्षमा कर देंगे।

विशेष—(१) प्रस्तुत चौपाइयों मे भरत की आत्मग्लानि एवं भगवान् की भक्तवत्सलता का अच्छा चित्रण किया गया है।

(२) 'करत कुतरक कोटि', 'मातु मते माहुँ मानि मोहि'—में वृत्यानुप्रास अलंकार है।

ऐसी मूढ़ता या मन की।
परिहरि रामभगति-सुरसरिता आस करत ओसकन की॥
धूम-समूह निरखि चातक ज्यों, तृषित जानि मति घन की॥
नहिं तहँ सीतलता, न वारि पुनि, हानि होत लोचन की॥
ज्यों गज-काँच विलोकि सेन जड़ छाँह आपने तन की॥
टूटत अति आतुर अहारबस, छति बिसार आनन की॥
कहँ लौ कहौं कुचाल कृपानिधि! जानत हौ गतिजन की॥
तुलसीदास प्रभु हरहु दुसह दुख, करहु लाज निज पन की॥

प्रसंग—यह पद भक्त प्रवर गोस्वामी तुलसीदास कृत 'विनय-पत्रिका' से अवतरित किया गया है। इसमें मूर्ख मन को उसकी मक्कारी के लिए लताड़ा गया है।

व्याख्या—तुलसीदास जी कहते हैं कि इस मन की ऐसी मूर्खता है कि यह रामभक्ति रूपी गगा को त्यागकर ओस कणो को प्राप्त करने की इच्छा करता है। अर्थात् वह राम भक्ति से मिलने वाले आनन्द को त्यागकर सांसारिक नश्वर विषय-वासनाओं में रत रहने की इच्छा करता है। जैसे प्यासा पपीहा धुएँ के समूह को देखकर तथा उसे बादल समझकर उससे अपनी तृषा शान्त करना चाहता है परन्तु यह सब भ्रम के कारण ही होता है, क्योकि न तो धूम समूह मे शीतलता ही होती है और न उसमें पानी ही होता है; अपितु उसकी ओर देखने से तो नेत्रो को कष्ट ही मिलता है। इसी तरह मूर्ख बाज पक्षी भी काँच की दीवार मे अपने पड़ते हुए प्रतिविम्ब को देखकर और उसे अपना आहार समझकर अपने मुख की क्षति की भी चिन्ता न कर बार-बार उस पर आक्रमण करता है कहने का तात्पर्य यह है कि उक्त जीव भ्रम के वशीभूत होकर अनेक प्रकार के दुखो को भोगा करते हैं। इसी प्रकार यह जीव भी सासारिक भोग-विलासो में रत रह कर अनेक प्रकार के कष्ट भोगता है।

तुलसीदास जी कहते है कि हे दया के सागर भगवान् राम! मैं इस मन की दुष्टताओ का कहाँ तक वर्णन करूँ। आप तो स्वयं अपने भक्तो की दशा भली-भाँति जानते है। अतः आप मेरे असह्य दुखों का निवारण कीजिए और अपने (शरणागत की रक्षा के) प्रण की लाज रखिए।

विशेष—(१) तुलसी की दीनता का इसमें अच्छा उल्लेख हुआ है।
(२) उदाहरण एवं रूपक अलंकार का प्रयोग हुआ है।

हरि तुम बहुत अनुग्रह कीन्हों।
साधन-धाम बिबुध दुरलभ तनु, मोहि कृपा करि दीन्हों॥
कोटिहुँ मुख यह जात न प्रभु के, एक-एक उपकार।
तदपि नाथ कछु और माँगिहौं, दीजै परम उदार॥
बिषय-बारि मन मीन भिन्न नहिं, होत कबहुँ पल एक।
ताते सहौं बिपति अति दारुन, जनमत जोनि अनेक॥
कृपा डोरि बनसी पद-अंकुस, परम-प्रेम-मृदु चारो।
एहि बिधि बेगि हरहु मेरो दुख, कौतुक राम तिहारो॥

प्रसंग—यह पद भक्तप्रवर गोस्वामी तुलसीदास कृत 'विनय पत्रिका' से अवतरित किया गया है। इसमें भगवान् की भक्तों पर कृपा का उल्लेख किया गया है।

व्याख्या—तुलसीदास जी कहते हैं कि हे भगवान्! आपने मुझ पर बहुत कृपा की है। आपने अपनी असीम कृपा से ही साधना का धाम यह शरीर प्रदान किया है जो कि देवताओं के लिए दुर्लभ है। आपने मेरे साथ इतने अगणित उपकार किये हैं कि यदि उनका उल्लेख करने के लिए मेरे करोड़ों मुख हो जावें तो भी मैं उनका वर्णन नहीं कर सकूँगा। आपका इतना अनुग्रह होने पर भी हे परम दयालु भगवान्! मैं आपसे कुछ और प्राप्त करने की याचना करता हूँ, साथ ही आपसे यह भी निवेदन है कि आप उनको मुझे अवश्य ही प्रदान करें। विषय-वासना रूपी जल से मेरा मन रूपी मीन एक पल को भी विलग नहीं हो सकता। इसी के परिणामस्वरूप अर्थात् विषय-वासनाओं में फँसे रहने के कारण ही मुझे अनेक योनियों में जन्म लेकर असह्य दुःख झेलना पड़ता है। इसी कारण हे भगवान् राम! कृपा रूपी डोरी की बंसी में चरण रूपी काँटा लगाकर तथा उसमें परम प्रेम रूपी सुन्दर चारा लगाकर विषय-वासनाओं में रत इस मन रूपी मछली को अनायास ही निकाल कर मेरे दुःख का नाश कर दीजिए।

विशेष—(१) इसमें भक्त की भगवान् के प्रति दीनता व्यक्त की गयी है।
(२) 'विषय-बारि.....परम-प्रेम मृदु चारों' में सांगरूपक अलंकार है।

ऐसो को उदार जग माँहीं।
बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर राम सरिस कोउ नाहीं॥
जो गति जोग बिराग जतन करि, नहिं पावत मुनि ग्यानी॥

सो गति देइ गीध सबरी कहुँ, प्रभु न बहुत जिय जानी ॥
जो संपति दससीस अरप करि, रावन सिव पहँ लीन्ही ।
सो संपदा बिभीषन कहँ अति सकुच सहित हरि दीन्ही ॥
तुलसीदास सब भाँति सकल सुख, जो चाहसि मन मेरो ।
तो भजु राम, काम सब पूरन, करैं कृपा-निधि तेरो ॥

प्रसंग—प्रस्तुत पद में भगवान् की भक्तवत्सलता का सुन्दर उदाहरण वर्णित किया गया है ।

व्याख्या—तुलसीदास जी कहते हैं कि संसार में ऐसा कौन दयालु व्यक्ति है जो बिना सेवा सुश्रूषा के ही दीन-हीनों पर अपनी कृपा दिखाया करता है ? वास्तव में भगवान् राम के समान कोई भी दयालु नहीं है । जिस गति (मोक्ष) को मुनि एवं ज्ञानीजन भी योग, वैराग्य आदि कठिन यत्न करके भी प्राप्त नहीं कर पाते हैं । इतनी दुर्लभ गति को भगवान् ने भक्तवत्सलता के वशीभूत होकर सहज रूप में ही गृध्र (जटायु) और शबरी को दे दिया । इतना ही नहीं, अपने इस महान् उपकार को उन्होंने कोई विशेष बात नहीं जानी । जिस सोने की लंका की सपत्ति को रावण ने अपने दस सिर भगवान् शंकर को अर्पित कर प्राप्त किया था, उसे ही (रावण-वध के पश्चात्) आपने बड़े ही संकोच के साथ विभीषण को सौंप दिया । (संकोच इस कारण कि विभीषण के उपकार के बदले में मैं उसे बहुत ही कम पारितोषिक दे रहा हूँ) तुलसीदास जी अपने मन से कहते हैं कि हे मेरे मन ! यदि तू सर्व प्रकार के सुख एवं आनन्द चाहता है तो एकमात्र भगवान् राम का भजन कर, वे ही कृपा-निधि भगवान् राम तेरे सब कार्यों को पूर्ण करेंगे ।

विशेष—(१) इस पद में गृध्रराज जटायु, शबरी (भीलनी), रावण और विभीषण आदि की कथाओं का इंगित मिलता है ।

मन पछितैहैं अवसर बीते ।
दुरलभ देह पाइ हरि पद भजु, करम बचन अरु ही ते ॥
सहसबाहु, दसबदन आदि नृप, बचे न काल बली ते ।
हम-हम करि धन-धाम सँवारे, अन्त चले उठि रीते ॥
सुत बनितादि जानि स्वारथरत, न करु नेह सबही ते ।
अन्तहु तोहि तजैंगे पामर, तू न तजै अबही ते ॥

अब नाथहि अनुराग, जाग जड़, त्याग दुरासा जीते ॥
बुझै न काम-अगिनि तुलसी कहुँ, विषय भोग बहु घी ते ॥

प्रसंग—प्रस्तुत पद में महाकवि तुलसीदास जी ने अपने मन को सांसारिक सुखों से विरत होने और भगवद्-प्रेम में तन्मय होने के लिए सचेत किया है।

व्याख्या—तुलसीदास अपने मन को सम्बोधित करते हुए कह रहे हैं कि हे मन ! तू होश में आजा। समय निकल जाने पर अफसोस करने से कोई लाभ नहीं होगा। तुझको यह मानव योनि बड़ी कठिनता से प्राप्त हुई है। अतः तू इसे व्यर्थ में ही न गँवा, अपितु कर्म, वचन और मन से दत्तचित होकर ईश्वर के भजन में रत हो। यह काल बड़ा ही बलवान होता है, इसके आगे किसी का कोई वश नहीं चलता है। इसके आगे सहस्रबाहु तथा दसशीश वाले महाबली रावण तक का कोई वश न चला। काल के आगे उन्हें भी हार माननी पड़ी। संसार के प्राणी यह मेरा है, यह मेरा है ऐसा कहकर धन और धान्य को जीवन पर्यन्त एकत्रित करते रहते हैं परन्तु अन्त में खाली हाथ ही संसार से जाना पड़ता है। जिन पुत्र कलत्रादि के प्रति तू ममत्व रखता है तू इनसे सावधान रह। हे नीच ! अन्त समय आने पर ये सब तुझे छोड़ जावेंगे लेकिन तू इन्हें अभी से क्यों नहीं छोड़ देता है ? हे मूर्ख ! तू जाग जा और अपने मन से बुरी भावनाओं को निकाल कर भगवान् से प्रेम कर। तुलसीदास कहते हैं कि काम रूपी अग्नि विषय-भोग रूपी घृत डालने से और अधिक बढ़ती ही है, शान्त नहीं होती है। कहने का आशय यह है कि विषय-वासनाओं में रत रहने वाले व्यक्ति की काम-भावना तीव्र ही होती है, शान्त नहीं होती। काम-भावना तो केवल मात्र भगवान् के भजन से ही शान्त हो सकती है।

नाम अजामिल से खल कोटि, अपार नदी भव बूड़त काढ़े।
जो सुमिरे-गिरि मेरु सिलाकन होत अजाखुर वारिधि बाढ़े॥
'तुलसी' जेहि के पद-पंकज तें, प्रगटी तटनी जो हरे अघ गाढ़े।
सो प्रभु स्वै सरिता तरिबे कहँ माँगत नाव करारे पै ठाढ़े॥

विशेष—(१) इस पद में वैराग्य की भावना प्रधान रूप से है।
(२) काल की प्रबलता का स्पष्ट निरूपण किया गया है।
(३) काम-अगिनि, विषय-भोग-घी—में रूपक अलंकार है।

प्रसंग—प्रस्तुत पद भक्त शिरोमणि तुलसीदास की 'कवितावली' से उद्धृत किया गया है। इसमे भगवान् राम के नाम की महत्ता तथा लोक-मर्यादा की रक्षा हेतु विभिन्न चरित्र रचने की आवश्यकता पर प्रकाश डाला गया है।

व्याख्या—तुलसीदास जी कहते हैं कि अजामिल के समान करोडों पापात्मा भगवान् के नाम के स्मरण मात्र से ससार रूपी असीम नदी मे डूबने से बच गये। भगवान् के स्मरण मात्र से ही सुमेर पर्वत भी शिला के टुकड़े के समान छोटा हो जाता है और अथाह समुद्र बकरी के खुर के समान सरलता से पार कर जाने के योग्य हो जाता है।

जिनके चरण-कमलों से महान् पापों को नाश करने वाली गंगाजी अवतरित हुई हैं। (गगाजी पृथ्वी पर आने से पूर्व भगवान् विष्णु के नाखून में रहती थी) वे (विष्णु के अवतारी) भगवान् राम अपनी ही नदी को पार करने के लिए किनारे पर खड़े होकर केवट से नाव माँग रहे हैं।

विशेष - (१) वनवास के मार्ग मे भगवान् राम के गंगा पार करने के वृतान्त का इसमे सकेत किया गया है।

(२) स्वै सरिता—राम विष्णु के अवतार है और गगा पृथ्वी पर आने से पूर्व विष्णु के नाखूनों मे बहती थी।

(३) भगवान् की कृपा से असम्भव चीजे भी सम्भव बन जाती है।

(४) भव-नदी, पद-पंकज—मे रूपक अलकार।

रावरे दोष न पाँयन को पग धूर को भूरि प्रभाउ महा है।
पाहँन ते बन-बाहन काठ को, कोमल है, जल खाइ रहा है॥
पावन पायँ पखारि कै नाव, चढ़ाइहौं, आयुस होत कहा है।
'तुलसी' सुन केवट के बर बैन हँसे प्रभु जानकी ओर हहा है॥

प्रसंग—प्रस्तुत पद भक्त शिरोमणि तुलसीदास की, 'कवितावली' से उद्धृत किया गया है। इसमे गंगा के किनारे खडे होकर भगवान् के नौका माँगने पर वाक्-चातुर्य द्वारा केवट के पैर धोकर चरणामृत प्राप्त करने के कौशल का वर्णन किया गया है।

व्याख्या—(गंगा के किनारे सीता एवं लक्ष्मण सहित खडे हुए राम को देख कर केवट कहता है कि हे भगवान्! मैं अपनी नौका में आपको बिना पैर धोये नही बैठा सकता।) आपको नाव मे न बैठाने मे आपके चरण-कमलों का कोई

दोष नहीं है परन्तु आपके चरणों में लगी हुई उस रज का ही दोष है, (क्योंकि आपके चरणों की रज का ही स्पर्श पाकर वह पत्थर (अहिल्या) स्त्री बनकर उड़ गया, ऐसा मैं सुन चुका हूँ।) जब आपके चरणों की धूलि का ऐसा प्रभाव है कि पत्थर स्त्री बनकर उड़ जाते हैं तब मेरी नौका तो लकड़ी की बनी हुई है और पत्थर की तुलना में बहुत कोमल है। इतना ही नहीं, पानी में सदा पड़े रहने के कारण यह और भी कोमल हो गयी है। अतः ऐसी स्थिति में हे भगवान् ! मैं केवल चरण धोकर ही आपको नाव पर चढ़ा सकता हूँ, बोलिए जैसी आपकी आज्ञा हो वैसा ही करूँ। तुलसीदास जी कहते हैं कि केवट की वाक्चातुरी को सुनकर तथा उसके हृदय की (चरणोदक प्राप्त करने की) बात जानकर प्रभु रामचन्द्र की जानकी जी ओर मुख करके एवं ठहाका मार कर हँसने लगे।

विशेष —१) 'वन-वाहन' 'वर वैन' में छेकानुप्रास।

(२) 'पावन पाँय पखारि'—में वृत्त्यानुप्रास।

पुर ते निकसी रघुबीर बधू, धरि धीर दए मग में डग द्वै।
झलकीं भरि भाल कनी जल की, पुट सूखि गए अधरा धर द्वै॥
फिर बूझति चलिबो अब केतिक, पर्नकुटी करिहै कित ह्वै।
तिय की लखि आतुरता प्रिय की अँखियाँ अति चारु चलीं जल च्वै॥

प्रसंग—प्रस्तुत पद भक्तप्रवर तुलसीदास की 'कवितावली' से लिया गया है। इस पद में राजसी ठाट-बाट में पली सीता के वन-मार्ग में मिलने वाले कष्टों का स्वाभाविक वर्णन किया गया है।

व्याख्या—वनवास की अवधि बिताने के लिए भगवान् राम-सीता और लक्ष्मण को साथ लेकर नगर से बाहर निकले। सीता माता अपने जीवन में पहली बार ही नगर से बाहर निकलीं और उन्होंने बड़े धैर्य के साथ मार्ग में कुछ कदम रखे। थकावट के कारण उनके माथे पर पसीने की बूँदें झलक आईं और प्यास के कारण उनके दोनों अधर सूख गये। अपनी थकावट को स्पष्ट रूप से न कहकर सीताजी बड़ी ही शालीनता के साथ पूछती हैं कि अब कितना मार्ग और तय करना है और किस स्थान पर पर्णकुटी अर्थात् विश्राम-स्थल बनाना है। अपनी पत्नी की मार्गजन्य बेचैनी को देखकर भगवान् राम के सुन्दर नेत्रों से जल की धारा बहने लगी।

विशेष – (१) श्रीरामचरितमानस मे भी सीता का ऐसा ही प्रसंग आया है—

पलग पीठि तजि गोद हिंडोरा।
सिय न दीन्ह पग अवनि कठोरा॥

(२) भगवान् राम की विवशता का स्वाभाविक चित्रण किया गया है।

(३) स्वभावोक्ति अलंकार।

रानी मैं जानी अजानी महा पवि पाहन हू ते कठोर हियो है।
राजहू काज अकाज न जान्यो, कह्यो तियको जिन काम कियो है॥
ऐसी मनोहर मूरति ये, बिछुरे कैसे प्रीतम लोग जियो है।
आँखिन में सखि! राखिबे जोग इन्हें किमिकै बनवास दियो है॥

प्रसंग - प्रस्तुत पद भक्त शिरोमणि तुलसीदास की 'कवितावली' से अवतरित किया गया है। वन मार्ग मे गमन करते हुए सुकोमल रूपों को देखकर वनवासी नारियाँ कहती है कि निश्चय ही इनको वनवास प्रदान करने वाले राजा अज्ञानी थे, जिन्होने अपनी रानी की बात मानकर इनको वन मे भेज दिया।

व्याख्या—वनवासिन एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि हे सखी मैं समझती हूँ कि इनको वनवास दिलाने वाली रानी निश्चय ही अज्ञानी थी और उनका हृदय वज्र तथा पत्थर से भी अधिक कठोर था। राजा (दशरथ) ने भी अपने विवेक से कोई काम नहीं लिया और अपनी रानी (कैकेयी) की बातो पर ही विश्वास करके इन्हें वनवास दे दिया है। ये मूर्तियाँ कितनी सुन्दर है भला इनसे बिछुडने पर इनके प्रियजन इनके अभाव में कैसे जीवित बचे होंगे? हे सखि! ये तो आँखो मे रखने योग्य है अर्थात् अत्यधिक कोमल एवं सुन्दर हैं। इनको न मालूम किसलिए वनवास दिया गया है?

विशेष - (१) प्रकारान्तर से कवि ने कैकेयी की कठोरता एवं अज्ञानता और राजा दशरथ की मूर्खता का परिचय दिया है।

(२) 'काज अकाज न जानना', 'कान करना या देना', 'आँखों मे रखने योग्य' आदि मुहावरों का सुन्दर रूप में प्रयोग किया गया है।

(३) 'पवि पाहन 'मनोहर मूरति' मे छेकानुप्रास अलकार।

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

तुम हो राधा के मन-मोहन, मैं उन अधरों की वेणु।
तुम हो पथिक के श्रान्त, और मैं बाट जोहती आशा।

तुम भव सागर दुस्तार पार जाने की मैं अभिलाषा।
तुम नभ हो, मैं नीलिमा॥

प्रसंग – प्रस्तुत अवतरण श्री निराला कृत 'तुम और मैं' कविता से लिया गया है। इसमें कवि आत्मा और परमात्मा के पारस्परिक सम्बन्धों को विभिन्न प्रतीकों द्वारा व्यक्त करता है। आत्मा स्वयं ही अपना सम्बन्ध ईश्वर से व्यक्त करती हुई कहती है।

व्याख्या—जीवात्मा परमात्मा से कहती है कि हे प्राणेश्वर! यदि तुम राधा के प्राणाधार मनमोहन हो तो मैं उस मनमोहन के अधर पल्लवों पर बजने वाली बाँसुरी हूँ। यदि तुम दूर देश से आने वाले थके हुए पथिक हो, तो मैं चिरकाल से तुम्हारी प्रतीक्षा करती हुई आशा हूँ। यदि तुम कठिनता से पार करने योग्य अथाह संसार रूपी सागर हो, तो मैं उनको पार कर जाने वाली अभिलाषा के तुल्य हूँ! यदि तुम फैले हुए विशाल आकाश हो तो मैं उस आकाश पर विद्यमान नीलिमा हूँ।

जागो फिर एक बार!
समर में अमर कर प्राण,
गान गाए महासिन्धु से,
सिन्धु-नद तीरवासी!
सैन्धव तुरंगों पर
चतुरंग चमू संग
सवा सवा लाख पर
एक एक को चढ़ाऊँगा,
गोविन्द सिंह निज
नाम जब कहाऊँगा।
किसने सुनाया यह
वीर-जन-मोहन अति
दुर्जय संग्राम-राग,
फाग या खेला रण
बारहों महीनों में।
शेरों की माँदों में
आया है आज स्वार,
जागो फिर एक बार॥

प्रसंग – प्रस्तुत पंक्तियाँ महाकवि निराला द्वारा रचित 'जागो फिर एक बार' शीर्षक कविता से उद्धृत है। यहाँ कवि ने गुरु गोविन्दसिंह की वीरता का वर्णन किया है।

व्याख्या—गुरु गोविन्द सिंह युद्ध क्षेत्र मे अपने सैनिको को चेतावनी देते हुए कहते हैं कि हे वीरो ! तुम एक बार फिर जागृत हो जाओ अपने प्राणो को युद्ध क्षेत्र मे लड़ते हुए अमर कर दो। हे वीरो ! तुम इस प्रकार युद्ध क्षेत्र मे वीरता पूर्वक लड़ो कि सिन्धु नदी के किनारे निवास करने वाले लोग तुम्हारा गुणगान करें। हे वीर वरो ! तुम लोग सिन्धु देश मे उत्पन्न हुए श्रेष्ठ घोडो पर चढकर तथा अपने साथ चतुरंगिनी (घोड़े, हाथी, रथ और पैदल) सेना को लेकर इस प्रकार घमासान युद्ध करो कि तुम्हारे प्राण अमर हो जायँ। युद्ध क्षेत्र मे सिक्ख सैनिको द्वारा बोले जाने वाले नारे की चर्चा करते हुए गुरु गोविन्द सिंह कहते है कि आज मै सवा सवा लाख शत्रु सैनिको पर एक-एक अकाली सिक्ख का बलिदान कराऊँगा और ऐसा करने के पश्चात् ही मै अपने गोविन्द सिंह नाम को सार्थक करूँगा।

आगे की पंक्तियों मे कवि कहता है कि वीर पुरुषो को मोहित करने वाला तथा अत्यन्त दुर्जेय युद्ध का यह गीत किसने सुनाया था, जिसे सुनकर बारह महीने तक युद्ध का रंग खेला गया, अर्थात् बारह महीन युद्ध लड़ा गया था। ऐसे श्रेष्ठ वीरो की गुफा मे आज विदेशी शत्रु रूपी गीदड घुस आया है। इसलिए हे वीरो ! तुम एक बार फिर जाग जाओ और शत्रुओ को देश से बाहर निकाल दो।

विशेष—कवि विदेशी शासको के शासन से मुक्त होने के लिए भारतीयो को जगाता है।

सिंह की गोदी से छीनता है शिशु कौन ?
मौन भी क्या रहती वह रहते प्राण ?
रे अजान,
एक मेष माता ही
रहती है निर्निमेष
दुर्बल वह
छिनती सन्तान जब,

जन्म पर अपने अभिशप्त
तप्त आँसू बहाती है।
किन्तु क्या ?
योग्य जन जीता है,
पश्चिम की उक्ति नहीं,
गीता है गीता,
स्मरण करो बार-बार—
जागो फिर एक बार ॥

प्रसंग—प्रस्तुत कविता मे कविवर निराला जी ने भारतीयों को स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए प्रेरित किया है।

व्याख्या—कवि कहता है कि हे वीरो ! सिंहनी की गोद से उसके बच्चे को कौन छीन सकता है ? अर्थात् कोई नहीं। यदि कभी कोई व्यक्ति ऐसा कर भी लेता है तो क्या सिंहनी अपने बच्चे के छिन जाने पर भी कभी जीवित रह सकती है ? अर्थात् नही। हे मूर्ख व्यक्ति ! इस संसार में केवल एक भेड़ की ही माता ऐसी होती है जो अपने बच्चे को छिनते देखकर भी चुपचाप अपलक नेत्रों से छीनने वाले व्यक्ति की ओर देखती रहती है, उसका विरोध नहीं करती है। चूँकि वह दुर्बल होती है, इसलिए दूसरे लोग उसकी सन्तान को उसके हाथों से छीन ले जाते हैं। स्वयं भेड़ की माता अपने इस घृणित जीवन पर दुखः के आँसू बहाती है।

आगे कवि प्रश्न करता है कि क्या समर्थ एवं योग्य मनुष्य भी इस प्रकार के घृणित जीवन को बिताना चाहेगा निश्चय ही नहीं। संसार में योग्य एवं समर्थ व्यक्ति को ही जीवित रहने का अधिकार है, यह उक्ति पश्चिमी देशों की नही है, अपितु यह तो हमारे पूज्य गीता ग्रन्थ का उपदेश है। अतः हे वीरो ! गीता के इस उपदेश को स्मरण करो और अपने अन्दर शक्ति का संचय करो। तुम एक बार फिर जाग जाओ और अपने देश से शत्रुओं को बाहर कर दो।

व्याख्या-भाग

सूरदास

(विनय के पद)

चरन कमल बन्दौ हरि राई।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, अन्धे को सब कुछ दरसाई ॥

बहिरौ सुनै, मूक पुनि बोलै, रंक चलै सिर छत्र धराई।
सूरदास स्वामी करुनामय बार-बार बन्दौ तिहिं पाई॥

प्रसंग—प्रस्तुत पद 'नूतन काव्य-संग्रह' में संकलित सूरदास के विनय के पद शीर्षक से लिया गया है। इसमे महाकवि सूरदास ने ईश वन्दना की है।

व्याख्या—हे ईश्वर! मैं आपके चरण कमलों की वन्दना करता हूँ। जिन भगवान की कृपा से लंगड़ा व्यक्ति पर्वतो को लाँघ जाता है, नेत्र-विहीन व्यक्ति को सब कुछ दिखाई देने लगता है। बहिरा व्यक्ति सुनने के योग्य और गूँगा व्यक्ति बोलने के योग्य हो जाता है। साथ ही रंक अर्थात् निर्धन व्यक्ति अपने सिर पर छत्र धराने लगता है, अर्थात् राजा बन जाता है। सूरदास जी कहते हैं कि हे स्वामी! आप दयालु हैं और ऐसे दयालु भगवान् के चरणो की मै बारम्बार वन्दना करता हूँ।

विशेष– (१) प्रस्तुत पद में ईश्वर की दयालुता का प्रतिपादन किया गया है।

(२) विनय के सम्पूर्ण पद मे शान्त रस विद्यमान है।

(३) अलंकार - सम्पूर्ण में उल्लेख, 'चरन कमल' में रूपक।

मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै।
जैसे उडि जहाज को पक्षी फिर जहाज पर आवै।
कमल-नैन को छाँड़ि महातम, और देव को ध्यावै।
परम गंग को छाँडि, पियासो दुरमति कूप खनावै॥
जिहिं मधुकर अंबुज-रस चाख्यौ, क्यो करील फल भावै।
सूरदास प्रभु कामधेनु तजि, छेरी कौन दुहावै॥

प्रसंग—प्रस्तुत पद मे कवि सूरदास द्वारा सगुण भक्ति का महत्त्व दर्शाया गया है।

व्याख्या—कवि कहता है कि हे स्वामी! मेरा मन आपके चरणों मे ध्यान लगाने के अतिरिक्त और कहाँ सुख पा सकता है, अर्थात् कहीं नही। जिस तरह पानी के जहाज मे बैठा हुआ एक पक्षी किसी दूसरे आश्रय की खोज में उड़कर जाता है। परन्तु जब उसे कोई अन्य आश्रय (वृक्षादि) नहीं मिलता तो पुनः उसी जहाज पर लौट आता है। (पक्षी के समान ही मेरा मन भी कृष्ण के चरण कमलों से दूर हटकर दूसरे आश्रय की खोज मे आता है परन्तु शीघ्र ही बोध हो जाने पर पुनः चरणारविन्दों मे आ टिकता है।) वास्तव में ऐसा

कौन मूर्ख है जो कमल-नेत्र भगवान् श्रीकृष्ण के माहात्म्य को छोड़कर अन्य देव अर्थात् निराकार की उपासना करता है। कृष्ण भगवान् की आराधना को छोड़कर निराकार की आराधना तो वैसे ही है, जैसे कि कोई प्यास से पीड़ित मूर्ख अपने सामने प्रवाहित होने वाली गंगा से अपनी प्यास न बुझाकर कुआँ खोदने का प्रयास करे। जिन भ्रमरों ने कमल के सुन्दर रस का पान किया है उन्हें करील के कठोर फल क्यों भावेंगे अर्थात् नहीं भावेंगे। सूरदास जी कहते हैं कि ऐसा कौन अज्ञानी होगा जो कामधेनु को छोड़कर उसके स्थान पर बकरी को दुहावेगा अर्थात कोई नही।

विशेष—(१ विभिन्न दृष्टान्तों के द्वारा कवि ने निराकार को हेय और साकार ब्रह्म को स्वीकार्य घोषित किया है।

(२) सम्पूर्ण पद में दृष्टान्त अलंकार, 'कमल नैन'— में रूपक।

हम भक्तन के, भक्त हमारे।
सुनि अर्जुन परितिज्ञा मेरी, यह व्रत टरत न टारे॥
भक्तनि काज लाज जिए धरि कै पाय पियादे धाऊँ।
जहँ-जहँ भीर परै भक्तनि की तहँ-तहँ जाइ छुड़ाऊँ॥
जो भक्तनि सौ बैर करत है, सो बैरी निज मेरो।
देखि विचारि भक्त-हित कारन हाँकत हौं रथ तेरो॥
जीतै जीति भक्त अपने के हारें हारि विचारौ।
सूरदास सुनि भक्त-विरोधी, चक्र सुदर्शन धारौं॥

प्रसंग—प्रस्तुत पद में सूरदास जी ने भगवान् की भक्त-वत्सलता का परिचय दिया है।

व्याख्या—भगवान् कृष्ण अर्जुन से कहते है कि हे अर्जुन! मेरी इस प्रतिज्ञा और व्रत को तुम भली भाँति सुन लो—मैं सदैव अपने भक्तों का शुभ चिन्तक रहता हूँ और मैं अपने भक्तों का हूँ तथा भक्त मेरे है। हे अर्जुन! यह व्रत और प्रतिज्ञा किसी भी प्रकार टल नहीं सकती है, अपितु यह तो दृढ़ है। मैं अपने भक्तों के कार्य के लिए तो नंगे पैरों ही दौड़ जाता हूँ। जहाँ कहीं भी मेरे भक्तों पर कोई संकट आता है, मै वही जाकर अपने भक्तों को उस संकट से उबारा करता हूँ। जो कोई व्यक्ति मेरे भक्तों से शत्रुता रखता है, निश्चय ही वह व्यक्ति मेरा भी शत्रु है। हे अर्जुन! तुम भी तो मेरे भक्त हो इसीलिए तो मैं तुम्हारा रथ चलाने वाला सारथि बना हुआ हूँ। मैं अपने

प्रसंग—प्रस्तुत पद कवि सूरदास रचित 'बालकृष्ण' शीर्षक से लिया गया है। कृष्ण अपनी माँ यशोदा से बलदाऊ के चिढ़ाने की शिकायत करते है।

व्याख्या—कृष्ण कहते है कि हे माता ! मुझको बलराम भइया ने बहुत चिढ़ाया है। मुझको वे कहते हैं कि तू मोल लिया हुआ है। तुझको यशोदा माता ने कब पैदा किया है ? क्या करूँ मैं इस गुस्से के कारण इनके साथ खेलने भी नहीं जाता हूँ। वे बारम्बार मुझसे कहा करते है कि तेरे माता-पिता कौन है ? नन्दबाबा शरीर से गौरवर्ण के हैं, उसी प्रकार यशोदा माँ भी गौर-वर्ण की हैं। गोरे माता-पिता की सन्तान गोरी हुआ करती है, लेकिन तू काले वर्ण का क्यों है ? खुद तो चिढ़ाते ही हैं, इसके अतिरिक्त वे अपने साथी ग्वाल-बालों को भी सिखा देते हैं जिससे वे लोग चुटकी दे-दे कर नाचते है और मुस्करा कर हँसते हैं। तू तो हमेशा मुझको ही मारना जानती है बलदाऊ भैइयो पर कभी गुस्सा नही होती है। यशोदा माता कृष्ण-मुख की क्रोध से भरी हुई बाते सुनकर बहुत अधिक आनन्दित होती है। इसके पश्चात् फिर वे कृष्ण को अपने पास बुलाकर और उन्हें समझाती हुई कहती है कि हे कृष्ण सुनो ! बलराम तो जन्म से ही धूर्त है। सूरदास जी कहते है कि माँ यशोदा कहती हैं कि हे कृष्ण ! मैं गोधन की सौगन्ध खाकर तुझसे कहती हूँ कि मैं ही तेरी माँ हूँ और तू मेरा ही पुत्र है।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद में बाल स्वभाव का सुन्दर चित्र उपस्थित किया गया है।

(२) पुनि-पुनि, दै-दै, सुनि-सुनि—में पुनरुक्तिप्रकाश अलंकार।

चोरी करत कान्ह धरि पाए।
निसि-बासर मोहिं बहुत सतायो, अब हरि हाथहि आए॥
माखन-दधि मेरो सब खायो, बहुत अचगरी कीन्हीं।
अब तो बात परे ही लालन, तुम्हें भलै मैं चीन्हीं॥
दोउ भुज पकरि, कह्यो, कहँ जैहौ, माखन लेउँ मँगाइ।
तेरी सौ मैं नँकुन खायो, सखा गए सब खाइ॥
मुख तें बिहँसि हरि दीन्हो, रिस तब गई बुझाइ।
लियो श्यार लाय ग्वालिनी, सूरदास बलि जाइ॥

प्रसंग—प्रस्तुत पद में महाकवि सूरदास ने कृष्ण की माखन-चोरी एवं ग्वालिन में पकड़े जाने पर कृष्ण द्वारा की गई सफाई का सुन्दर चित्रण किया है।

व्याख्या नित्य की भाँति ग्वालिनियों के घर दही-माखन चुराने वाले कृष्ण एक दिन रंगे हाथों पकड़ लिए गए। पकड़ने वाली ग्वालिन कृष्ण से कहती है कि तुमने रात-दिन मुझको बहुत तंग किया है। अब बड़ी मुश्किल से मेरे हाथ आए हो अर्थात् पकड़े गए हो। तुमने मेरे घर का सब मक्खन-दही खा लिया है। तुमने मेरे साथ बहुत उद्दण्डता करी है। अब की बार मेरा मौका लग गया है और मैंने अच्छी तरह से तुम्हें पहचान भी लिया है अर्थात् तुम्हीं रोजाना मेरा मक्खन दही चुराकर खा जाया करते थे। इसके पश्चात् ग्वालिनी कृष्ण के दोनों हाथ पकड़कर कहती है कि अब मुझसे छूट कर कहाँ जाओगे? अब मैं तुमसे अपना आज तक का मक्खन वसूल कर लूँगी। ग्वालिनी की ऐसी बात सुनकर कृष्ण सफाई देते हुए कहने लगे कि हे ग्वालिनी मैं तेरी सौगन्ध खाकर कहता हूँ कि तेरा सारा मक्खन तो मेरे मित्र खा गए हैं। मैंने तो उसमें से जरा भी नहीं खाया है। इसके पश्चात् कृष्णजी उसके मुख की ओर देखकर हँस गए। कृष्ण की हँसी को देखकर ग्वालिनी का सारा क्रोध भाग गया। सूरदास कहते हैं कि ग्वालिनी कृष्ण पर न्यौछावर हो गयी और उन्हें छाती से लगा लिया।

विशेष—(१) चोरी करते हुए पकड़े गए कृष्ण की वाक्चातुरी का अच्छा चित्रण हुआ है।

(२) 'हाथ आना', 'बलि जाना' आदि मुहावरों का अच्छा प्रयोग मिलता है।

पार्वती-मंगल

प्रश्न १—पार्वती-मंगल का कथासार अपने शब्दों में लिखिए।

उत्तर—पार्वती-मंगल में कविवर गोस्वामी तुलसीदास जी ने देवाधिदेव भगवान शंकर एवं जगदम्बा पार्वती के कल्याणमय पाणिग्रहण का कल्याणमय एवं रसमय वर्णन किया है। लक्ष्मीनारायण सीता-राम, राधा-कृष्ण एवं रुक्मिणी-कृष्ण की ही भाँति गौरी-शंकर भी हम हिन्दुओं के परमाध्य एवं परम वन्दनीय आदर्श दम्पत्ति हैं। लक्ष्मी, सीता, राधा एवं रुक्मिणी की भाँति ही गिरिराज किशोरी पार्वती भी अनादि काल से हमारी पतिव्रताओं के लिए परमादर्श रही हैं इसीलिए हिन्दू कन्याएँ जब से होश संभालती है तभी से मनोवांच्छित वर की प्राप्ति हेतु गौरी पूजन किया करती हैं। जगदम्बा पार्वती ने भगवान् शंकर जैसे निरन्तर समाधि में लीन रहने वाले परम उदासीन वीतराग शिरोमणि को पति रूप में प्राप्त करने हेतु जो कठोर तपस्या की, वही इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपनी अमर लेखनी के द्वारा पार्वती की तपस्या एवं अनन्य निष्ठा का बड़ा ही हृदयग्राही एवं मनोरम चित्र अंकित किया है। निश्चय ही यह ग्रन्थ आज पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से पाश्चात्य आदर्शों के पीछे पागल हुई हमारी नवशिक्षिता कुमारियों के लिए मनन करने योग्य सामग्री प्रस्तुत करता है।

पार्वती-मंगल की कथा का सारांश यह है कि पार्वती का जन्म हिमालय के घर हुआ था उसकी माता का नाम मैना था वह शनैः शनैः युवावस्था को जब प्राप्त होने लगी तब उसके माता-पिता को उसके लिए योग्य वर ढूँढ़ने की चिन्ता हुई। इसी बीच एक दिन उनके घर नारद मुनि का आना हुआ। हिमवान ने नारद से अपनी कन्या हेतु योग्य वर बताने को कहा। नारद ने कुछ सोच-विचार के पश्चात् बताया कि पार्वती को जो वर प्राप्त होगा वह पागल (बावला) होगा। नारद मुनि की इस बात को सुनकर माता-पिता बहुत चिन्तित हुए। माता-पिता की चिन्ता देखकर नारद जी ने समझाया कि पार्वती के भाग्य का यह दोष शिव के आराधन से मिट सकता है। पर शिव को प्राप्त करना कोई सरल कार्य नहीं है अपितु उनकी प्राप्ति

हेतु तो पार्वती को दुस्साध्य तपस्या करनी होगी। पार्वती के माता-पिता ने खूब सोच विचार के पश्चात् अपनी कन्या को शिव की आराधना का आदेश दिया। फिर क्या था पार्वती तपस्या में लीन हो गयीं। पहले तो वह भोजन करती थीं फिर सीमित भोजन किया, कुछ दिनों पश्चात् उन्होंने भोजन बिल्कुल त्याग दिया और केवल बेल के सूखे पत्तों का खाना भी छोड़ दिया और तभी उनका नाम पार्वती से अपर्णा, अर्थात् बिना पत्तों वाली पड़ गया।

पार्वती की इस कठोर तपस्या को देखकर तथा अपने प्रति उनकी एक-निष्ठता एवं अनन्यता देखकर शिव ने ब्रह्मचारी का वेश धारण कर पार्वती की परीक्षा लेने का विचार किया। पार्वती के सामने जाकर उन्होंने शिव की मन भरकर निन्दा की। उन्होंने कहा कि तुमने यह बड़ा अनर्थ किया है यह तो बताओ कि क्या सुनकर तुम ऐसे कुलहीन वर पर रीझ गयीं जो गुण रहित, प्रतिष्ठा रहित, जाति रहित और माता-पिता विहीन है। वह तो भीख माँगकर खाता है और नित्य श्मशान (मरघट) में भस्म लगाकर रहता है नग्न होकर नाचता है तथा पिशाच-पिशाचिनी इनके दर्शन किया करते हैं। भाँग धतूरा ही इनका भोजन है, ये शरीर में राख लपटाये रहते हैं। ये योगी, जटाधारी और बौड़ी हैं इन्हें भोग अच्छे नहीं लगते। तुम सुन्दर मुख और सुन्दर नेत्रों वाली हो, किन्तु शिवजी के तो पाँच मुख और तीन आँखें हैं। उनका वामदेव नाम सार्थक है। वे कामदेव के मद को चूर करने वाले अर्थात् काम विजयी हैं—

कहहु काह सुनि रीझिहु बर अकुलीनहि।
अगुन अमान अजाति मातु पितु हीनहि ॥५५॥
भीख माँगि भव खाहिं चिता नित सोवहिं।
नाचहिं नगन पिसाच पिसाचिन जोवहिं ॥५६॥
भाँग धतूर अहार छार लपटावहिं।
जोगी जटिल सरोष भोग नहिं भावहिं ॥५७॥
सुनुखि सुलोचनि हर मुख पंच तिलोचन।
वामदेव फुर नाम काम मद मोचन ॥५८॥

ब्रह्मचारी वेश धारी शिव से शिव की निन्दा सुनकर भी पार्वती ने अपने प्रण का त्याग नहीं किया और वह अपनी कठोर तपस्या में लगी रहीं। जब पार्वती का मन उस प्रेम-पथ से विचलित नहीं हुआ तो शिवजी ने कृतज्ञता

पूर्वक आत्म समर्पण कर दिया। इसके पश्चात् शिव कैलास पर्वत लौट आए और उन्होंने सप्तऋषियों को बुलाया। उनसे उन्होंने कहा कि वे जाकर हिमालय से पार्वती के विवाह की बात पक्की करें। तदनन्तर सप्तर्षि हिमालय के पास पास पहुँचे और आपस में विचार-विमर्श के पश्चात् विवाह की तिथि का निश्चय किया गया। विवाह में सम्मिलित होने के लिए सभी देवताओं को आमन्त्रित किया गया और निश्चित तिथि पर बरात सजकर चल दी। बरात जब कन्या के घर पहुँची तो शिव के अमंगलमय रूप एवं भूत प्रेतादि की भयंकर सूरतें देखकर पार्वती की माँ मैना एवं अन्य परिवारी जन बहुत दुखी हुए। वे बार-बार सोचने लगे कि शिव के साथ पार्वती का विवाह कर हमने बड़ा अनर्थ किया। जब शिवजी ने कन्या के परिवारी जनों की इस चिन्ता को जाना तो उन्होंने अपनी माया से अपने कुरूप रूप को त्यागकर सुन्दर रूप एवं वेश धारण कर लिया साथ ही उनके गण जो बदसूरत एवं भयावने थे सुन्दर हो गये। जब मैना और उसके परिवारी जनों ने बरातियों का यह रूप देखा तो वे बहुत प्रसन्न हो उठे। कन्या पक्ष वालों ने बरातियों का यथोचित सम्मान किया। तदन्तर ज्यौनार होती है एवं शाखोच्चार के साथ ही पाणिग्रहण होता है। विवाह के पश्चात् हिमवान् ने दहेज के रूप में गाय, हाथी, घोड़े, दास-दासियों के अतिरिक्त अनेकानेक सुन्दर-सुन्दर वस्तुएँ प्रदान कीं। तदन्तर विदा का समय आया सबने मिलकर मिलनी की तथा बरात को विदा किया। हिमवान के घर विदा पाकर शिव पार्वती को लेकर कैलाश पर्वत चले जाते है। बस संक्षेप में यही पार्वती मंगल की कथा है।

प्रश्न २—'पार्वती मंगल' के काव्यरूप पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—भारतीय काव्य-शास्त्र मे काव्य के मुख्यतः दो भेद किए गए हैं—श्रव्य काव्य और दृश्य काव्य। दृश्य काव्य का आनन्द नेत्रों से उठाया जाता है जबकि श्रव्यकाव्य का आनन्द कर्णों (कानों) द्वारा। दृश्य काव्य के अन्तर्गत नाटक एव उसके भेद आते हैं जबकि श्रव्य के अन्तर्गत कविता, कहानी, उपन्यास आदि। श्रव्य काव्य के पुनः दो भेद होते है गद्य काव्य के अन्तर्गत निबन्ध, कहानी, उपन्यास आलोचना, यात्रा साहित्य आदि आते हैं जिनमें कविता की भाँति छन्दो का प्रयोग नहीं किया जाता है। पद्य का आशय छन्दों में निर्मित अथवा ऐसी अतुकान्त रचनाओं से होता है जिसमें नाद या लयात्मकता का निर्वाह किया जाता है। पद्य के पुनः दो उपभेद किए

गए है—प्रबन्ध और मुक्तक काव्य। प्रबन्ध काव्य के अन्तर्गत महाकाव्य, खण्ड काव्य आदि आते है। मुक्तको के भी दो भेद किए गए है—पाठ्य मुक्तक और गेय मुक्तक। पाठ्य मुक्तक केवल पठनीय होते है जबकि गेय मुक्तको मे गेयता और सगीतात्मकता होती है। सूर, महादेवी, मीरा आदि के गीत इसी प्रकार के गेय मुक्तक कहलाते है।

प्रबन्ध काव्य के दो भेद बताये गये है महाकाव्य और खण्डकाव्य। महाकाव्य मे जहाँ जीवन की समग्रता का सविस्तार वर्णन होता है वहाँ खण्ड-काव्य मे जीवन के एक पक्ष या घटना का वर्णन किया जाता है। दूसरे शब्दों मे खण्डकाव्य मे महाकाव्य के समान जीवन की अनेकरूपता का चित्रण नहीं होता है और ना ही उसमे महान् और विराट सन्देश होता है। वस्तुतः खण्ड-काव्य का कृतिकार किसी महत्त्वपूर्ण घटना या जीवन के किसी महत्त्वपूर्ण पक्ष को लेकर खण्डकाव्य का सृजन करता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते है कि तुलसी कृत 'पार्वती मगल' एक खण्ड काव्य है जिसमे कवि ने गिरिजा सुता एव शिव के विवाह की घटना को प्रस्तुत किया है। 'पार्वती मगल' के रचनाकाल के सम्बन्ध मे स्वय तुलसी ने कहा है—

जय सवत फागुन, सुदि पांचै गुरु दिन।
अस्विनि बिरचेउँ मगल सुनि सुख छिनु-छिनु ॥.॥

अर्थात् जय सवत मे 'पार्वती मगल' की रचना हुई थी और यह जय सवत् ज्योतिष के सिद्धान्तो के अनुसार सवत् १६४१ वि० से प्रारम्भ होकर सवत् १६४३ तक चला था अतः 'पार्वती-मगल' का रचना काल इसी के मध्य ठहरता है। तुलसी की अन्य रचनाओं के समान उनकी यह अमर कृति भी काव्य रस एव भक्ति रस से परिपूर्ण है। 'जानकी मंगल' मे जिस प्रकार मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम के साथ जगज्जननी जानकी के मगलमय विवाहोत्सव का वर्णन किया गया है। उसी प्रकार पार्वती-मगल' मे प्रातः स्मरणीय गोस्वामीजी ने देवाधि-देव भगवान् शकर के द्वारा जगदम्बा पर्वती के कल्याणमय पाणिग्रहण का काव्यमय एव रसमय चित्रण किया है। लक्ष्मी, सीता, राधा एवं रुक्मिणी की भाँति ही गिरिराज किशोरी पार्वती भी अनादि काल से हमारी पतिव्रताओं के लिए परमादर्श रही है। तभी से मनोवाञ्छित वर की प्राप्ति हेतु वे गौरी पूजन करती आ रही है। जगज्जननी तथा रुक्मिणी

तथा रुक्मिणी भी स्वयंवर से पूर्व गिरिजा-पूजन के लिए महल से बाहर जाती है तथा वृषभानु-किशोरी भी अन्य गोप-कन्याओं के साथ नन्दकुमार को पतिरूप मे प्राप्त करने के लिए हेमन्त ऋतु में बड़े सवेरे यमुना-स्नान करके वही यमुना तट पर एक मास तक भगवती कात्यायनी की वालुका की प्रतिमा बनाकर उनकी पूजा करती है।

जगदम्बा पार्वती ने भगवान शंकर जैसे निरन्तर समाधि में लीन रहने वाले, परम, उदासीन वीतराग शिरोमणि को पतिरूप में प्राप्त करने के लिए बड़ी ही दुस्साध्य तपस्या की। उन्होंने पहले तो संतुलित भोजन लिया फिर उसे भी त्याग दिया और केवल सूखे वेलपत्र खाने लगी कालान्तर में उसने उनको भी त्याग दिया और केवल वायु एवं जल का सेवन करने लगीं। उनकी इस कठोर तपस्या पर रीझकर शिव ने ब्रह्मचारी का वेश धारण कर पार्वती की परीक्षा लेनी चाही। इस परीक्षा में इन्होंने पार्वती के सामने शिव की अनेक प्रकार से निन्दा की लेकिन इतने पर भी जब पार्वती अपने प्रण से नहीं डिगीं तो उन्होंने अपना वास्तविक रूप दर्शा दिया कालान्तर बरात लेकर शिवजी देवगणों के साथ हिमालय पर्वत पर जाते है वहाँ हिमवान् सबका आतिथ्य-सत्कार करते है फिर पाणिग्रहण होता है और विदा के पश्चात् शिव पार्वती के साथ कैलास पर्वत पर लौट आते हैं, बस यही संक्षिप्त कथा है। कविवर तुलसी ने इस सामान्य सी दिखाई देने वाली घटना को एक मौलिक ढग से प्रस्तुत किया है। ग्रंथ के आरम्भ में मगलाचरण के रूप में कवि ने ग्रंथ की निर्विघ्न समाप्ति हेतु गुरू की, गुणी लोगो की, पर्वतराज हिमालय की और गणेशजी की वन्दना करके फिर जानकी और धनुष तथा तरकश धारण किये हुए श्रीराम का ध्यान किया है—

विनहि गुरहि गुनि गनहि, गिरिहि गननाथहि।
हृदय आनि सिय राम धरे धनु भाथहि ॥१॥
गावउँ गौरि गिरीश विवाह सुहावन।
पाप नसावन पावन मुनि मन भावन ॥२॥

इसके पश्चात् कवि ने अपनी विनम्रता एवं रचना काव्य का उल्लेख किया है। फिर कवि पर्वतों में शीर्ष स्थानीय, गुणों की खान हिमवान् पर्वत एवं उनकी श्रेष्ठ पत्नी मैना का वर्णन के उपरान्त पार्वती के जन्म के पश्चात्

हिमवान के घर में ऋद्धि-सिद्धि की जो उन्नति हुई उसका वर्णन करता है। पार्वती के जन्म के समाचार को पाकर मुनि जन सब प्रकार के नित्य नवीन मंगल और आनन्दमय उत्सव मनाते हैं। ब्रह्मादि देवता मनुष्य एवं नाग अत्यन्त प्रेम से हिमवान के सौभाग्य का वर्णन करते हैं। पिता, माता प्रियजन और कुटुम्ब के लोग उन्हें निहारकर आनन्दित होते है और उनका प्रेम से लालन-पालन करते हैं। ऐसा प्रतीत होता था मानो शुक्ल पक्ष मे चन्द्रशेखर भगवान् महादेव जी के ललाट मे चन्द्रमा की कला वृद्धि को प्राप्त हो रही हो। जैसे-जैसे पार्वती सयानी होती गयी माता-पिता को योग्य वर ढूँढने की चिन्ता हुई। एक दिन सयोग से जब नारदमुनि हिमवान के घर पधारे तो उन्होने नारदजी से अपनी चिन्ता व्यक्त की। त्रिलोक विहारी नारदजी ने शिव को वर के रूप मे बता दिया लेकिन साथ ही यह भी कह दिया कि उनको प्राप्त करना बहुत मुश्किल है। परिणामस्वरूप पार्वती जी शिव की प्राप्ति हेतु कठोर तपस्या करने लगी। पार्वती की कठोर तपस्या से रीझकर शिव प्रसन्न हो गए और उन्हे अपना दर्शन दे दिया। तत्पश्चात् बरात लेकर शिव हिमवान् के घर पहुँचे और विवाह के पश्चात् विदा होने पर शिव पार्वती के साथ अपने कैलास पर्वत पर लौट आये। इस प्रकार सम्पूर्ण ग्रन्थ मे पार्वती के अनन्य प्रेम एव कठोर साधना को ही दर्शाया गया है। प्रसग-वश बरात का वर्णन, अतिथि सत्कार एवं विदा आदि का बड़ा ही मनोहारी वर्णन कवि ने प्रस्तुत किया है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपनी अमर लेखनी द्वारा पार्वती की तपस्या एवं अनन्य निष्ठा का बड़ा ही हृदयग्राही एव मनोरम चित्र खीचा है जो पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से पाश्चात्य आदर्शो के पीछे पागल हुई हमारी नवशिक्षिता कुमारियों के लिए मनन करने योग्य सामग्री उपस्थित करता है। रामचरितमानस के समान ही यहाँ भी शिव बरात के वर्णन मे गोस्वामी जी ने हास्यरस का अत्यन्त मधुर पुट दिया है। कुमार सम्भव' की कथा का भी 'पार्वती मंगल' मे उपयोग किया गया है। अन्त में विवाह एवं विदाई का बडा ही मार्मिक एवं रोचक वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

'पार्वती-मंगल' की भाषा भी एक खण्ड-काव्य के अनुरूप ही लालित्यादि गुणो से परिपूर्ण है। कवि ने आद्योपान्त सहज एव सरल भाषा का प्रयोग किया है। एक उदाहरण प्रस्तुत है—

भइ जेवनार बहोरि बुलाइ सकल सुर।
बैठाए गिरिराज धरम धरनि धुर॥
परुसन लगे सुआर बिबुधजन नेवहिं।
देहिं गारि नर नारि मोद मन भेवहिं॥

कवि ने प्रसंगानुसार भावों की सशक्त अभिव्यक्ति की है। अलंकारों का सहज एवं स्वाभाविक प्रयोग 'पार्वती-मंगल' की भाषा का अपना ही आकर्षण बन पड़ा है। यथा अनुप्रास की छटा इस छन्द में प्रस्तुत है—

हिमवान दीन्हें उचित आसन सकल सुरसन मानि कै।
तेहि समय साज समाज सब राखे सुमडप आनि कै॥

इसी प्रकार उत्प्रेक्षा अलंकार का सुन्दर प्रयोग दृष्टव्य है—

सखी सुआसिनि संग गौरि सुठि सोहति।
प्रगट रूपमय मूरति जनु जग मोहति॥

इसी भाँति व्यतिरेक अलंकार का सुन्दर प्रयोग दृष्टव्य है—

कहहु काहि पटतरिय गौरि गुन रूपही।
सिन्धु कहिय केहि भाँति सरिस सर कूपही॥

छन्द योजना—पार्वती मंगल में केवल दो छन्दो का प्रयोग हुआ है—'सौहर और हरि गीतिका' सौहर एक प्रकार का ग्रामीण छन्द है जिसमें संयुक्त प्रान्त की स्त्रियाँ विवाह के अधिकतर गीत गाती हैं। हरि गीतिका छन्द साहित्यिक है। इस ग्रंथ में 'सौहर और हरि गीतिका' छन्दों की माला एक विशेष क्रम से बनाई गई है। कवि ने साधारणतः ग्रंथ भर में आठ सौहर छन्दों के पश्चात् एक हरि गीतिका छन्द का प्रयोग किया है।

शैली—पार्वती-मंगल की शैली मध्यम प्रकार की है। माध्यमिक रचनाओं की शैली सुव्यवस्थित है और परिपक्व होने के कारण आडम्बरहीन होती है उसमें एक अटूट धारा स्पष्ट ज्ञात होती है विचारों में प्रौढ़ता होने के कारण अनावश्यक विस्तार बहुत कम मिलता है और उसमें कवि की अपनी मौलिकता अंकित रहती है।

उद्देश्य—प्रस्तुत ग्रंथ रचना का उद्देश्य जहाँ पार्वती की कठोर तपस्या एवं अनन्य निष्ठा का वर्णन करना रहा है वहाँ पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से पाश्चात्य आदर्शों के पीछे पागल हुई हमारी नवशिक्षिता कुमारियों के लिए एक मनन योग्य सामग्री उपस्थित करना भी रहा है।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि 'पार्वती-मंगल' एक सफल खण्ड काव्य है। कथावस्तु, भाषा-शैली, अलंकार एवं रस व्यंजना आदि सभी कसौटियों पर यह एक सफल खण्ड काव्य ठहरता है। कविवर गोस्वामी तुलसीदास ने इस अल्प काव्य खण्ड काव्य में अपनी मौलिकता एवं नवीनता का प्रयोग किया है और वर्ण्य विषय को खण्ड काव्य के अनुसार शैली में प्रस्तुत किया है।

महत्त्वपूर्ण व्याख्यांश

कवित रीति नहिं जानऊँ, कवि न कहावउँ।
शंकर चरित सुसरित मनहिं अन्हवावउँ ॥३॥
पर अपवाद विवाद विदूषित बानिहि।
पावनि करउँ सो गाइ भवेस-भवानिहि ॥४॥१॥

प्रसंग—प्रस्तुत छन्द श्री गोस्वामी तुलसीदास कृत 'पार्वती-मंगल' काव्य से अवतरित है। इन छन्दों में कवि ने अपनी विनम्रता वर्णन के साथ ही साथ काव्य के प्रतिपाद्य का वर्णन किया है।

व्याख्या—कविवर तुलसीदास जी कहते है कि मैं न तो कविता की रीति अर्थात् काव्य रचना के नियमों (छन्द, अलंकार आदि) को जानना चाहता हूँ और न अपने आपको मैं कवि कहलाना चाहता हूँ। मैं तो इस कविता द्वारा अपने मन को शिव के चरित्र की सुन्दर नदी मे स्नान करा रहा हूँ। मेरी वाणी जो दूसरो की निन्दा तथा झगड़ो मे पड़कर विदूषित (अपवित्र) हो गई है अब मैं उसी वाणी को शिव तथा पार्वती का गुणगान करके पवित्र करना चाहता हूँ।

विशेष—(१) प्रथम छन्द के प्रथम चरण मे कवि ने अपनी अतिशय विनम्रता का परिचय दिया है। कवि का यह विनम्र रूप उनकी प्रत्येक वृत्ति में देखने को मिल जाता है। 'रामचरित मानस' के प्रारम्भ में भी कवि ने इसी बात को कहा है—

कवि न होऊँ नहिं चतुर कहावउँ।
मति अनुरूप रामगुन गावउँ॥

(२) तुलसी मूलतः रामभक्त थे पर उनकी श्रद्धा शंकर के प्रति भी थी। इस ग्रन्थ में उनकी इसी शैव भक्ति का परिचय मिलता है।

(३) भाषागत सरलता, सहजता एवं सरसता द्रष्टव्य है।

(४) विवाद विदूषित बानिहि - में वृत्यानुप्रास अलंकार।

(५) भवेस—भवनिहि—में छेकानुप्रास।

(६) 'सोहर' नामक छन्द का प्रयोग।

(७) शंकर चरित सुसरित में रूपक।

कहहु सुकृत केहि भाँति सराहिय तिन्ह कर।
लीन्ह जाइ जग जननि जनम जिन्ह के घर॥७॥
मंगल खान भवानि प्रकट जबतें भइ।
तब तें ऋधि-सिधि सम्पत्ति गिरिगृह नित नइ॥८॥२॥

प्रसंग—प्रस्तुत छन्दों में गोस्वामी तुलसीदास जी ने गिरिजा के हिमालय पर्वत के घर जन्म लेने से हुई समृद्धि का वर्णन किया है—

व्याख्या—कवि कहता है कि उनके पुण्यों की प्रशंसा किस प्रकार की जाय जिनके घर जग जननी पार्वती ने जन्म लिया हो। और जिस दिन से जग जननी पार्वती ने पर्वतराज के घर जन्म धारण किया है तभी से मंगलों की खान उनके घर में प्रकट हो गई है और पर्वतराज के घर में नित्य ही नवीन-नवीन ऋद्धियाँ और सिद्धियाँ तथा अनेक बहुमूल्य पदार्थों की वृद्धि होने लगी है।

विशेष—(१) पार्वती का जन्म सम्भवतः पर्वतराज के पुण्यों के फलस्वरूप ही हुआ था।

(२) पार्वती के जन्म लेते ही पर्वतराज का गृह सुख समृद्धियों से परिपूर्ण हो गया।

(३) जाई जग जननि जनम जिन्ह—वृत्यानुप्रास।

(४) सम्पूर्ण में अनुप्रास की छटा।

(५) 'सोहर' नामक छन्द का प्रयोग।

प्रसंग—नारद जी के मुख से यह समाचार सुनकर कि पार्वती को बावला वर मिलेगा, हिमवान्-मैना सोच में पड़ गये और नारद जी से प्रार्थना करने लगे कि हे नाथ ! किसी प्रकार पार्वती के भाग्य दोष (पागल पति मिलने के दोष) को दूर करने का उपाय सुझाइए—

व्याख्या—हिमवान एवं मैना नारद जी से प्रार्थना करते हुए कहने लगे कि हे नाथ ! वह उपाय बताइए जिससे हमारी पुत्री (पार्वती) के इस भाग्य का नाश हो सके अर्थात् भाग्य दोष से उसे पागल पति मिलने का विधान है अतः आप कोई ऐसी युक्ति बतावें जिससे उसे पागल के स्थान पर गुण सम्पन्न पति मिल सके। हिमवान एवं मैना की प्रार्थना सुनकर नारद जी ने उनसे कहा कि सारे दोषों का नाश करने वाले शशि भूषण महादेव ही हैं अतः उन्हीं की कृपा से तुम्हारी यह मनोकामना पूर्ण हो सकेगी। क्योंकि साहस से श्रेष्ठ साधन भी सफल हो जाता है और फिर शिवजी की आराधना तो करोड़ों कल्पवृक्षों के समान सिद्धिदायक है।

विशेष—(१) नारद जी ने शिव आराधना का उपदेश दिया है।

(२) शिवजी ही सब अमंगलों के विनाशकर्ता है।

(३) "अवसि होइ सिधि" "सुसाधन"—सूक्ति का काव्या मक प्रयोग।

(४) अन्तिम पंक्ति में उपमा अलंकार।

(५) "सोहर" छन्द का प्रयोग।

मेवहि भगति मन वचन करम अनन्य गति हर चरन की।
गौरव सनेह सकोच सेवा जाइ केहि विधि वरन की॥
गुन रूप जोवन सीव सुंदरि निरखि छोभ न हर दिएँ।
ते धीर अछत विकार हेतु जे रहन मनसिज वस किएँ॥२७॥५॥

प्रसंग—इस छन्द में हिमवान तथा मैना द्वारा नारद जी की बात मानकर पार्वती से शिवजी की आराधना करने के आदेश एवं उनकी सेवा का वर्णन किया गया है—

व्याख्या—माता पिता की आज्ञा प्राप्त कर पार्वती अपने मन को शिव की आराधना में लगाने लगीं तथा मन, वचन और कर्म से उसने एकमात्र शिव के चरणों का अवलम्बन किया। उनके गौरव, स्नेह, शील-संकोच और सेवा की महानता का वर्णन किस प्रकार किया जा सकता है। पार्वती जी गुण, रूप एवं यौवन की सीमा थी किन्तु ऐसी अनुपम सुन्दरी को देखकर भी शिवजी के मन

मे तनिक भी क्षोभ (विकारता) उत्पन्न नही हुआ। सच है जो लोग विकार का कारण रहते हुए भी कामदेव को वश मे किये रहते है, वे ही सच्चे धीर है।

विशेष—(१) पार्वती जी की शिव के प्रति अनन्य सेवा भावना का वर्णन किया गया है।

(२) गुन रूप जोवन सीव—से आशय यह है कि पार्वती जी अनुपम रूप गुण सम्पन्न सुन्दरी थी।

(३) अंतिम चरण में धीर पुरुषों का लक्षण बताया गया है। भाव साम्य के लिए मिलाइए —

"विकारहेतौ सत्विक्रियन्ते येषां न धीरः ते एव वीरः।"

(४) अनुप्राप्त की छटा।

(५) 'हरि गीतिका' छन्द का प्रयोग।

फिरेउ मातु पितु परिजन सखि गिरिजापन।
जेहि अनुरागु लागु चितु सोइ हितु आपन ॥ ३७॥
तेजेनु भोग जिमि रोग, लोग अहिगन जनु।
मुनि मनसहु ते अगम, तपहि लायनु मनु ॥ ८॥६॥

प्रसंग—पार्वती जी शिव को प्राप्त करने हेतु कठोर साधना में लग जाती है। उन्हे अपने शरीर की सुध-बुध तक नही रहती है। पार्वती की कठोर साधना को देखकर माता-पिता एवं परिवारी जनों को दारुण दुःख होता है और वे सब पार्वती को समझाने के लिए जाते हैं पर पार्वती जी अपने दृढ निश्चय से नही हटती है, उसी का यहाँ वर्णन किया गया है—

व्याख्या—कवि कहता है कि पार्वती जी की दृढ़ प्रतिज्ञा (शिव आराधना) को देखकर माता-पिता तथा अन्य परिवारी जन लौट आये। जिस व्यक्ति के चित्त मे जिसके प्रति प्रेम उत्पन्न हो जाता है वही उसे अपना हित चिन्तक ज्ञात होता है। आज पार्वती की दशा भी कुछ ऐसी ही है वह शिव के अतिरिक्त किसी अन्य की बात सुनना ही नही चाहती है। पार्वती ने समस्त लोगों को रोगों के समान त्याग दिया अथवा इस प्रकार त्याग दिया जिस प्रकार लोग सर्पों के झुण्ड को त्याग देते है। जिसकी मुनि भी कल्पना नही कर सकते ऐसे कठिन तप में उस (पार्वती) ने अपना मन लगा दिया।

विशेष—(१) पार्वती का शिव के प्रति अनन्य प्रेम वर्णित है।

(२) प्रेमी की उस दशा का वर्णन किया गया है जिसमें प्रेमी को अपने इष्ट के अतिरिक्त कुछ और दिखाई ही नहीं देता।

(३) 'तजेउ भोग जिमि रोग' – में उपमा।

(४) 'सोहर' छन्द का प्रयोग।

नाम अपरना भयो परन जब परिहरे।
नवल धवल कल कीरति सकल भुवन भरे॥ ८३॥
देखि सराहहिं गिरिजहि मुनिवरु मुनि बहु।
अस तप सुना न दीख कबहुँ काहू कहूँ॥ ८४॥७॥

प्रसंग—पार्वती शिव की आराधना में कठोर व्रत का पालन करने लगी। उनके लिए रात-दिन का अन्तर समाप्त हो गया वे प्रतिक्षण शिव-नाम का उच्चारण करने लगीं। पहले तो उन्होंने कन्द मूल फल का सेवन किया फिर जल एवं वायु का सेवन किया और फिर बेल के सूखे पत्ते ही खाने लगीं लेकिन कुछ काल और बीतने पर उन्होंने बेल के सूखे पत्तों का भी प्रयोग बन्द कर दिया। पार्वती जी की इसी दशा का यहाँ वर्णन किया गया है।

व्याख्या—कवि कहता है कि जब पार्वती जी ने सूखे बेल-पत्तों का खाना भी त्याग दिया तब उनका नाम 'अपर्णा' अर्थात् 'बिना पत्तों के रहने वाली' हो गया। उनकी नवीन, निर्मल एवं मनोरम कीर्ति से चौदह भुवन भर गये। उनकी इस कठोर तपस्या को देखकर बहुत से मुनिवर एवं मुनिजन उनकी प्रशंसा करने लगे और कहने लगे कि ऐसा तप न तो कभी कहीं किसी ने देखा है और न सुना ही है।

विशेष—(१) पार्वती की कठोर तपस्या का बड़ा ही मर्मस्पर्शी वर्णन हुआ है।

(२) 'पार्वती' का 'अपर्णा' नाम कैसे पड़ा इसका वर्णन किया गया है।

(३) पार्वती जैसी कठोर तपस्या चौदह भुवनों में कहीं भी न देखी गयी और न सुनी गई।

(४) अनुप्रास की छटा।

(५) 'सोहर' छन्द का प्रयोग।

अगम न कछु जग तुम कहँ मोहि अस सूझइ।
बिनु कामना कलेस कलेस न बूझइ॥ ४५॥

जौ वर लागि करहु तप तौ लरिकाइअ।
पारस जौ घर मिलै तौ मेरु कि जाइअ ॥४६॥८॥

प्रसंग—पार्वती के अनन्य प्रेम, उसके व्रत एवं तपस्या को देखने के लिए ब्रह्मचारी का वेश धारण कर शिव पार्वती के पास गये और उन्होंने अपने हृदय मे पार्वती को आत्म समर्पण करके इस प्रकार की बातें कही—

व्याख्या—कविवर तुलसी कहते हैं कि ब्रह्मचारी वेशधारी शिव ने पार्वती से कहा कि मुझे ऐसा लगता है कि आपको ससार में कोई भी वस्तु अलभ्य नहीं है, फिर बिना किसी फल की इच्छा के जो कष्ट आप उठा रही हैं, उसका रहस्य समझ मे नही आता है। यदि आप सुन्दर वर पाने के लिए तपस्या कर रहीं हैं तो यह आपका लड़कपन है क्योंकि यदि पारस पत्थर घर मे ही हो तो फिर उसके लिए सुमेरु पर्वत पर जाने की क्या आवश्यकता है?

विशेष—(१ शिवजी पार्वती जी की परीक्षा लेना चाहते है।

(२) शिवजी पार्वती को समझाते हुए कहते है कि तुम जैसी अनुपम सुन्दरी को वर की तलाश नही करनी चाहिए अपितु वर ही तुम्हें तलाशेगा। जिस प्रकार कि अमृत रोगी को नही ढूँढ़ता है बल्कि रोगी ही अमृत को ढूँढता है उसी प्रकार वर भी स्वयं तुम्हारी तलाश करेगा।

(३) 'पारस' एक प्रकार का पत्थर होता है जिसके विषय में यह धारणा है कि यदि लोहा उसे छू ले तो वह सुवर्ण हो जाता है।

(४) अनुप्रास की छटा।

(५) 'सोहर' छन्द का प्रयोग।

भाँग धतूर अहार, छार लपटावहिं।
जोगी जटिल सरोष भोग नहिं भावहिं ॥५७॥
सुमुखि सुलोचनि हर मुख पच तिलोचन।
वामदेव फुर नाम काम मद-मोचन ॥५८॥

प्रसंग—प्रस्तुत छन्दों मे ब्रह्मचारी बने हुए शिव पार्वती को यह समझाते हैं कि तुमने जो शिव को पति रूप में वरण करने हेतु यह कठोर साधना की है वह व्यर्थ जायेगी क्योंकि वह वर तो तुम्हारे लिए अमगलकारी सिद्ध होगा उसकी वेश-भूषा, खान-पान सभी तुम्हारे लिए विपरीत सिद्ध होंगे।

व्याख्या— कवि कहता है कि ब्रह्मचारी के वेश में शिव पार्वती से शिव (स्वयं) की निन्दा करते हुए कहते हैं कि शिव का भोजन भाँग और धतूरा है वे शरीर में राख मलते हैं। वे योगी हैं, उनकी जटायें बढ़ी हुई हैं, वे क्रोध से भरे रहते है और उनको भोगो से घृणा है। तुम सुन्दर मुख और सुन्दर नेत्रों वाली हो शिव के पाँच मुख और तीन नेत्र है। उनका वामदेव (टेढ़े देवता) नाम यथार्थ है। वे काम देव के मद को चूर करने वाले अर्थात् काम विजयी हैं।

विशेष—(१) ब्रह्मचारी बने हुए शिव अपनी ही निन्दा पार्वती से करके उनके प्रेम की परीक्षा लेना चाहते है।

(२) शिवजी की वेश-भूषा एवं भोजन सामग्री का वर्णन किया गया है।

(३) पुराणों मे शिव को पंच मुख वाला और तीन नेत्र वाला कहा गया है।

(४) 'वामदेव' का सार्थक प्रयोग।

(५) अनुप्रास की छटा।

(६) 'सोहर' छन्द का प्रयोग।

साँच सनेह साँचि रुचि जो हठि फेरइ।
सावन सरित सिन्धु रुख सूप सौं घेरइ ॥६६॥
मीन बिनु फनि जस हीन मीन तनु त्यागइ।
सो कि दोष गुन गनइ जो जेहि अनुरागइ ॥६७॥१०॥

प्रसंग—ब्रह्मचारी ने पार्वती से शिव की निन्दा करते हुए अनेकों बातें कही पर पार्वती का पर्वत तुल्य दृढ़ मन उनसे नाम मात्र भी डिगा नहीं। इसी बात को कवि ने यहाँ प्रस्तुत किया हैं।

व्याख्या—कवि कहता है कि जो कोई व्यक्ति किसी के सच्चे प्रेम और सच्ची कामना को हठ वश दूसरी ओर करना चाहता है वह तो मानो सावन के महीने अर्थात् वर्षा ऋतु में नदी के समुद्र की ओर प्रवाह को सूप जैसी तुच्छ वस्तु से घुमाने की असफल चेष्टा करता है। मणि के बिना सर्प और जल के बिना मछली अपना शरीर त्याग देती है ऐसे ही जो व्यक्ति जिसके साथ प्रेम करता है वह क्या उसके गुण-दोषों का विचार करता है? भाव यह है कि सच्चा प्रेमी अपने इष्ट के गुण-दोषों की ओर ध्यान नही देता है वह तो अनन्य भाव से उससे प्रेम ही करता है।

व्याख्या—मानो चतुर विधाता ने कामदेव की राजधानी को और ही अलौकिक ढंग से रचा है। उसकी विचित्र रचना को देखकर दर्शकों के नेत्र जहाँ जाते हैं वहीं ठिठक कर रह जाते है। इस भाँति विवाह का साज सजाकर हिमवान् बरात का रास्ता देखने लगे। गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं कि दूसरी ओर मुनियों ने शिवजी को जाकर लगन-पत्रिका दे दी। इससे शिवजी आनन्दोत्सव में मग्न हो गये।

विशेष—(१) पार्वती के पिता के घर का कवि ने बड़ा ही मनोहारी वर्णन प्रस्तुत किया है।

(२) प्रथम पंक्ति में उत्प्रेक्षा तथा अन्यत्र अनुप्रास की छटा।

(३) 'हरि गीतिका' छन्द का प्रयोग।

बाजहिं निसान सुगान नभ चढ़ि बसह बिधुभूषन चले।
बरषहिं सुमन जय-जय करहिं सुर सगुन सुभ मंगल भले॥
तुलसी बराती भूत प्रेत पिसाच पसुपति संग लसे।
गज छाल ब्याल कपाल साल बिलोकि बर सुर हरि हँसे॥

प्रसंग—प्रस्तुत छन्द में कविवर तुलसी शिवजी की बरात का वर्णन करते हुए कहते है—

व्याख्या—कवि कहते है कि जब शिवजी एवं उनके गणों की बरात चलने लगी तो आकाश में नगारे बजने लगे और गाने का मधुर शब्द होने लगा। शिवजी (दूल्हा) बैल पर चढकर चले। देवता लोग जयजयकार करने लगे और उनके ऊपर फूलों की बरसा करने लगे। साथ ही बरात के आगे बढ़ने पर शुभ शकुन होने लगे। कविवर तुलसी कहते हैं कि महादेव जी के साथ भूत प्रेत एवं पिशाच बरातियों के रूप में शोभायमान हो रहे थे। उस क्षण दूल्हा शिव को गज चर्म, कपाल पर सर्प तथा मुण्डो की माला धारण किए हुए देखकर देवतागण तथा विष्णु भगवान् हँसने लगे।

विशेष— १ शिवजी का अटपटा वेश ही देवताओं की हँसी का कारण था।

(२) शिवजी की बरात का स्वाभाविक वर्णन हुआ है।

(३) अनुप्रास की छटा।

(४) 'हरिगीतिका' छन्द का प्रयोग।

(५) हास्य रस की अनुभूति होती है।

गन भए मगन वेष मदन मन मोहन ।
सुनत चले हिय हरषि नारि नर जोहन ॥
सभु सरद राकेस नखतगन मुरगन ।
जनु चकोर चहु ओर बिराजहि पुरजन ॥

प्रसंग—कुछ आगे चलने पर शिवजी ने अपना आकर्षक रूप धारण कर लिया साथ ही उनके बरातियों ने भी जो सुन्दर रूप धारण कर लिया है, उसी का यहां वर्णन किया गया है—

व्याख्या—कुछ और आगे बरात के चलने पर शिवजी के गणों का वेष भी मंगलमय हो गया और वे सौन्दर्य में कामदेव के भी मन को मोहने लगे। जब यह समाचार हिमालय प्रदेश के नर नारियों ने सुना तो वे सभी हृदय में आनन्दित होकर उन्हें देखने के लिए चल पड़े। उस समय ऐसा प्रतीत होता था मानो शिवजी शरद ऋतु की पूर्णिमा के चन्द्रमा हैं, देवतागण नक्षत्रों के समान हैं तथा उन्हें देखने के लिए उनके चारों ओर पुरवासी लोग चकोर समुदाय की भाँति सुशोभित हो रहे थे।

विशेष—(१) बरातियों एवं दूल्हा की सुन्दरता का वर्णन किया गया है।

(२) अन्तिम दो पंक्तियों में सांगरूपक अलंकार का प्रयोग हुआ है। शिव शारदी चन्द्र हैं, साथ के देवतागण नक्षत्र हैं और उनको देखने वाले पुरवासी लोग चकोर पक्षी हैं।

(३) अनुप्रास की छटा।

(४) 'सोहर' छन्द का प्रयोग।

मुख सिंधु मगन उतारि आरति करि निछावर निरखि कै।
मगु अरघ बसन प्रसून भरि लेइ चली मंडप हरषि कै॥
हिमवान दीन्हे उचित आसन सकल सुर सनमानि कै।
तेहि समय साज समाज सब रानें सुमंडप आनि कै॥

प्रसंग—जिस समय बरात हिमवान के घर पर पहुँची तो मैना (शिव की सास) ने वर की आरती तथा हिमवान ने सभी को उचित आसन दिये, उसी का यहाँ वर्णन है—

व्याख्या—कविवर तुलसीदासजी कहते हैं कि बरात के हिमालय के घर आने पर सास अर्थात् हिमवान की पत्नी मैना ने सुख सिन्धु में डूबकर

वर की आरती उतारी और फिर निछावर करके तथा मार्ग में अर्घ और पाँवड़े देती हुई फूल से लदे हुए वर को आनन्द के साथ मण्डप में ले गयी। दूसरी ओर हिमवान ने सभी आगन्तुक देवताओं का सम्मान करके उन्हें उचित आसन प्रदान किये। उस समय का जो साज सामान था वह सब उस सुन्दर मण्डप में लाकर रखा गया।

विशेष—(१) मण्डप की शोभा का वर्णन किया गया है।

(२) हिमवान तथा उनकी पत्नी की आनन्द दशा का वर्णन हुआ है।

(३) सुख सिन्धु में रूपक।

(४) तीसरी तथा चौथी पंक्ति में वृत्यानुप्रास की छटा।

(५) हरि गीतिका छन्द का प्रयोग।

पेखेउ जनम फलु या विवाह उछाह उमगहिं दस दिसा।
नीसान गान प्रसून झरि तुलसी सुहावनि सो निसा॥
दाइज बसन मनि धेनु धन हय गय सुसेवक सेवकी।
दीन्ही मुदित गिरिराज जे गिरिजहि पिआरी पेव की॥

प्रसंग— शिव और पार्वती का जब विवाह हो गया तो हिमवान् ने जो दहेज दिया है, उसी का यहाँ वर्णन हुआ है —

व्याख्या—कविवर तुलसीदास जी कहते हैं कि इस प्रकार शिव और पार्वती के विवाह को देखकर सभी ने अपना जन्मफल देखा। विवाह के पश्चात् दसों दिशाओं में आनन्द उमड़ पड़ा। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं कि नगरों के घोष, गानों की ध्वनि और फूलों की वर्षा से वह रात्रि सुहावनी हो गयी। पर्वतराज हिमवान् ने वस्त्र, मणियों, गौ, धन, हाथी, घोड़े, दास, दासियों—जो कुछ भी गिरिजा को प्रिय थे, वे सभी प्रेमपूर्वक दहेज में प्रदान किये।

विशेष—(१) शिव पार्वती के विवाह को देखकर सभी नर, नारियों ने अपने भाग्य को सराहा।

(२) इस छन्द से यह प्रमाण मिलता है कि प्राचीन काल में भी कन्या की प्रसन्नता हेतु कन्या के पिता द्वारा वे सभी वस्तुएँ दहेज के रूप में दी जाती थीं जो कन्या को प्रिय लगती थीं।

(३) अनुप्रास की छटा।

(४) 'हरिगीतिका' छन्द का प्रयोग।

भेंटि विदा करि बहुरि भेंटि पहुचावहि।
हुंकरि हुंकरि धेनु धावहि॥
उमा मातु मुख निरखि नैन जल मोचहि।
नारि जनमु जग जाय सखी कहि सोचहि॥

प्रसंग—इन छन्दों में पार्वती की विदा का दृश्य वर्णित हुआ है। माता मैना बार-बार अपनी पुत्री के समीप उसी प्रकार पहुँच जाती है जिस प्रकार कि हाल की बियाई हुई (प्रसवती) गाय हुंकार भर-भरकर अपने बछड़े के समीप पहुँच जाती है

व्याख्या—कविवर तुलसी कहते हैं कि पार्वती की माता मैना का प्रेम अपनी कन्या के प्रति विशेष रूप से उमड़ा पड़ रहा है वे एक बार मिलकर अपनी पुत्री को विदा कर देती हैं और फिर मिलकर पहुँचाने जाती हैं। उनका प्रेम देखकर ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो हाल की बियाई हुई (सद्य प्रसवधर्ता) गाय हुंकार भर-भरकर अपने वत्स के समीप जाती हो। पार्वती जी माता मैना के मुख को देखकर अपने नेत्रों से आँसू बहा रही हैं और साथ की सखियाँ कह रही हैं कि संसार में स्त्री का जन्म ही व्यर्थ है क्योंकि उसे पराये बन्धन में बँधना पड़ता है।

विशेष—(१) मैना की पुत्री के प्रति अत्यधिक प्रेम भाव उमड़ा है।

(२) अन्तिम पंक्ति में नारी की उस दयनीय दशा का वर्णन हुआ है जिसमें वह परवश मानी है। तुलसी ने रामचरित मानस में भी ऐसा ही भाव व्यक्त किया है—

कत विधि सृजी नारि जग माही।
पराधीन सुख सपनेहु नाही॥

(३) दूसरी पंक्ति में उत्प्रेक्षा।

(४) 'सोहर' छन्द का प्रयोग।

मौर्य विजय–१

श्री सियारामशरण गुप्त

प्रश्न १—मौर्य-विजय की कथावस्तु अपने शब्दों में लिखिए।

उत्तर—श्री सियारामशरण गुप्त ने पाटलिपुत्र के सम्राट चन्द्रगुप्त एवं यूनानी सम्राट सेल्यूकस के युद्ध को ही इस खण्डकाव्य का कथानक बनाया है। सर्वप्रथम कवि ने अपने इष्ट भगवान् श्रीराम की वन्दना की है तत्पश्चात् मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त की यश गाथा का उल्लेख किया है। सम्राट चन्द्रगुप्त के शासन काल में ग्रीक सेनापति सेल्यूकस ने भारत पर आक्रमण किया था यह बात इतिहास में अंकित है। इसी कथानक को कवि ने कल्पना के रंग में रंगकर पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया है। इस युद्ध में सेल्यूकस की सुशिक्षित यूनानी सेना को बुरी तरह हार खानी पड़ी थी। यूनानी सेना इससे पूर्व आधी मध्य एशिया को जीत चुकी थी अतः उसका हौंसला बढ़ गया था और उसके सम्राट सेल्यूकस ने भारत विजय का स्वप्न देखा। भारतीय सेना से मुँह की खाने के पश्चात् सेल्यूकस ने चन्द्रगुप्त से सन्धि की और अपनी एकमात्र पुत्री एथेना का विवाह चन्द्रगुप्त से कर दिया। साथ ही सेल्यूकस भारत की सीमा के अन्दर जीते हुए प्रदेशो कन्धार, हीरात आदि को उपहार के रूप मे चन्द्रगुप्त को सौंपकर स्वदेश लौट गये। यही घटना मौर्य विजय काव्य का आधार है।

कथासार—चन्द्रगुप्त के शासन में प्रजा सुखी थी और सब ओर समृद्धि विराज रही है। देश पर शत्रुओं का कोई आतंक नहीं था सभी लोग प्रसन्न चित्त रहते थे कही भी दुःख एवं क्लेश नही देखे जाते थे। दीन, हीन, जड़ रुग्ण, विलासी या दुराचारी दूर-दूर तक नही दिखा देते थे। सभी लोग परस्पर सद्भावना एवं प्रेम से रहते थे। चन्द्रगुप्त की सेना के योद्धा इतने वीर थे कि उनके सामने शत्रु तो क्या यमराज भी डरते थे। देश के लोगों मे आलस्य एवं अकर्मण्यता नही थी सभी लोग नीतिनिष्ठ एवं धर्म-भीरु थे।

इसी समय विश्व विजय का स्वप्न देखने वाले यूनानी सम्राट सेल्यूकस ने लगभग आधी विजय को जब जीत लिया तो अपने विजय के मद में चूर

होकर उसने भारत पर भी आक्रमण कर दिया। अपनी सुशिक्षित सेना के बल पर उसने सीमान्त के दो-तीन दुर्गों को भी जीत लिया। इसके पश्चात् उसने आगे बढकर सिन्धु नदी के किनारे अपना डेरा डाल लिया। यूनानी सम्राट ने चन्द्रगुप्त की वीरता एव सेना की वीरता को तो सुन रखा था पर विश्व विजय के स्वप्न ने उसे मदान्ध बना डाला था। इसके साथ ही भारत की प्राकृतिक रमणीयता देख कर इस देश को जीतने की उसकी लालसा दुगुनी हो उठी।

जब सेल्यूकस के चढ आने की खबर चन्द्रगुप्त को प्राप्त हुई तो उसने सबसे पहले अपने गुरु चाणक्य से मन्त्रणा की फिर अपनी मन्त्री परिषद से। इसके पश्चात् वह भी अपने श्रेष्ठ योद्धाओ को साथ लेकर युद्ध क्षेत्र में आ पहुँचे। सैनिको मे असीम उत्साह था वे देशप्रेम के गीत गा रहे थे। जिस समय वीरवेश धारण कर सम्राट चन्द्रगुप्त युद्ध क्षेत्र मे आये तो सैनिकों ने उनका 'जय जयकार' के साथ स्वागत किया। फिर सम्राट चन्द्रगुप्त ने अपने सैनिको को निर्भय होकर मातृभूमि की रक्षा करने का आदेश दिया। दोनो ओर की सेना मे भयकर युद्ध होने लगा। यद्यपि यूनानी सैनिक कम वीर नही थे फिर भी भारतीय सैनिको ने उनके छक्के छुडा दिए। अन्त में यूनानी सैनिक युद्ध क्षेत्र मे भाग खडे हुए। सेल्यूकस भी निराश होकर अपने शिविर मे लौट गया।

इधर सेल्यूकस की एकमात्र पुत्री एथेना युद्ध से घृणा करती है और अपने पिता से युद्ध न करने का निवेदन करती है। इसी समय ग्रीस से सेल्यूकस को यह समाचार मिलता है कि वहाँ उसके विरुद्ध विद्रोह होने लगा है। इसी बीच मे चन्द्रगुप्त अपने सैनिको के साथ उसका शिविर घेर लेता है। चन्द्रगुप्त को सामने देखकर सेल्यूकस ने उत्तेजित होकर अपनी तलवार का वार उस पर करना चाहा। चन्द्रगुप्त मुस्कराते हुए सेल्यूकस के हाथ से तलवार छीन लेता है। उसी समय सेल्यूकस की पुत्री एथेना सामने दिखाई पडती है। चन्द्रगुप्त उसके सौन्दर्य पर मुग्ध हो उठते है। इसके पश्चात् सेल्यूकस ने चन्द्रगुप्त से सन्धि की और अपनी पुत्री एथेना का विवाह चन्द्रगुप्त से कर दिया तथा उपहार स्वरूप गान्धार, हिरात आदि प्रदेश चन्द्रगुप्त को भेंट किये। भारतीय सैनिक अत्यन्त आनन्दित होकर भारत की गौरव गाथा गाते रहते है। यही आकर मौर्य विजय की कथा समाप्त हो जाती है। भारत पर यूनानी सम्राट सेल्यूकस के आक्रमण, चन्द्रगुप्त की विजय एवं सेल्यूकस की

प्रश्न ८—'मौर्य विजय' खण्ड काव्य के आधार पर 'सेल्यूकस' का चरित्र-चित्रण कीजिए।

उत्तर—यूनानी सम्राट् सेल्यूकस मौर्य विजय काव्य का प्रति नायक है। आधी एशिया जीतने के पश्चात् भारत को जीतने की उसे अभिलाषा हुई। फलतः उसने अपनी सुशिक्षित सेना को लेकर भारत पर आक्रमण कर दिया। प्रारम्भ में उसने दो तीन दुर्ग जीत लिए इसके पश्चात् उसने आगे बढ़कर सम्राट चन्द्रगुप्त पर आक्रमण करने की ठानी। सेल्यूकस एक महान् योद्धा एवं वीर था उसकी इसी वीरता का वर्णन कवि ने इस ग्रन्थ में किया है। कवि ने प्रारम्भ में ही उसकी वीरता का वर्णन एक आँधी के समान किया है —

जीत दुर्ग दो तीन लिए आते ही उसने,
वहाँ जय-ध्वज उड़ा दिये आते ही उसने।
करके भी उद्योग वहाँ के शासक सारे,
रोक न उनको सके परिश्रम करके हारे।
वश प्रबल पवन के वेग को,
सह सकते हैं तरु निकर।
उसके सहने की शक्ति तो,
रखता है बस शैलवर॥

सेल्यूकस एक महान् योद्धा होने के साथ ही साथ चतुर सेना नायक भी था। चन्द्रगुप्त की सेना के भीषण आक्रमण से जब यूनानी सैनिक विचलित हो उठे तब वह उनको उत्साह प्रदान करते हुए कहता है—

विश्वविदित तुम वही वीरवर हो यूनानी,
दीख पड़ा है नहीं कहीं भी जिसका पानी।
वह आज्ञा देता है कि 'पालन करो स्वधर्म का',
अब भेद करो शीघ्र ही शत्रुजनों के मर्म का॥

सेल्यूकस ने जब आधा एशिया जीत लिया तो उसने विश्वविजय की महत्त्वाकांक्षा की और इसी से प्रेरित होकर उसने भारत पर आक्रमण करने की ठानी। यद्यपि वह भली-भांति जानता था कि भारत को जीतना बड़ा ही मुश्किल कार्य है क्योंकि उसने भारतीय वीरता के अनेक किस्से सुन रखे

यूनानी सम्राट सेल्यूकस में व्यावहारिक बुद्धि थी। जब उसने देखा कि इस युद्ध क्षेत्र में मैं चन्द्रगुप्त से पराजित हो चुका हूँ साथ ही देश में भी विद्रोहियों ने विप्लव कर डाला है तो वह असमन्जस में पड़ जाता है। दूसरी ओर उसकी पुत्री ने भी चन्द्रगुप्त से प्रेम करना शुरू कर दिया तो वह वस्तु-स्थिति को जानकर उस पर अमल करता है। वह समझने लगता है कि भारत पर आक्रमण करके मैंने गलती की है फलतः मुझे इसका प्रायश्चित करना चाहिए और इसी प्रायश्चित के फलस्वरूप उसने अपनी पुत्री का विवाह चन्द्रगुप्त से कर दिया और सीमान्त के कन्धार, हीरात आदि जीते हुए प्रदेश उपहार में देकर स्वदेश लौट जाता है। सेल्यूकस की व्यावहारिक बुद्धि का प्रमाण इस छन्द में देखने को मिलता है—

"ठीक रहा तो यही, व्यर्थ क्यों बैर बढ़ावे;
बस यह करके लौट देश को अब हम जावे।
मचा रहे हैं शत्रु वहाँ भी हलचल भारी,
है उनके दमनार्थ हमें करनी तैयारी।
समयानुसार ही कार्य अब
हमको करना है उचित।
पड़ और बखेड़ों में यहाँ
करें व्यर्थ ही क्यों अहित ?"

वीर एवं साहसी होने पर भी सेल्यूकस बड़ा ही भावुक व्यक्ति था। जिस समय भारत पर आक्रमण करने के विचार से उसने सिन्धु तट पर अपना डेरा डाला तो वहाँ की प्राकृतिक सुषमा देखकर वह बहुत प्रभावित हुआ। अपनी पुत्री एथेना के प्रति उसमें वात्सल्य था और यही कारण था कि वह भारत पर आक्रमण करने के समय भी उसे अपने साथ लेकर आया था। इसी बीच जब चन्द्रगुप्त एवं सेल्यूकस की सेनाओं में घमासान युद्ध होने लगता है तो एथेना युद्ध से डरने लगती है और अपने पिता से युद्ध त्याग देने का निवेदन करती है तो पुत्री की बात को वह स्वीकार कर लेता है। युद्धक्षेत्र से लौटने पर मानसिक विक्षोभ के कारण जब वह अपनी पुत्री के प्रश्न का उत्तर तुरन्त नहीं दे पाता है तो वह दुःखी होता है और अपनी पुत्री से क्षमा माँगता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि कविवर गुप्त को सेल्यूकस के चरित्र-चित्रण में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। उसमें असीम

महत्त्वाकांक्षा एवं अदम्य दर्प होते हुए भी वात्सल्य एवं प्राकृतिक सुषमा के प्रति प्रेम पाया जाता है।

प्रश्न ५—सिद्ध कीजिए कविवर सियाराम शरण गुप्त ने 'मौर्य विजय' नामक काव्य में भारत के अतीत गौरव का वर्णन प्रस्तुत किया है।

उत्तर—कविवर सियाराम शरण गुप्त राष्ट्र-कवि मैथिली शरण गुप्त के अनुज थे। राष्ट्र प्रेम भावना गुप्त परिवार मे कूट-कूट कर भरी थी। कविवर सियाराम शरण गुप्त मे भी अनुपम देश-प्रेम था। उनके मन मे भारत के स्वर्णिम अतीत के प्रति विशेष गर्व एव आदर था। कवि की आकाक्षा है है कि हम आज के भारतवासी अपने पूर्वजो के उस अतीत के गौरव का स्मरण करें और पुन आज उसी गौरव को प्राप्त करने हेतु प्रयत्न करें। 'मौर्य विजय' मे स्थान-स्थान पर उन्होने इसी गौरव गाथा का वर्णन किया है—

पुण्य भूमि यह हमे सर्वदा है सुखकारी;
माता के सम मातृभूमि है यही हमारी।
हमको ही क्या सभी जगत को है यह प्यारी;
इतनी गुरुता और कही क्या गई निहारी?

यह वसुधा सर्वोत्कृष्ट है,
क्यो न कहे फिर हम यही,
जय-जय भारतवासी कृती,
जय-जय-जय भारतमही॥

× × ×

"इसी भूमि पर रामकृष्ण ने जन्म लिया है,
ऋषि मुनियो ने प्रथम ज्ञान विस्तार किया है।
है क्या कोई देश यहाँ से जो न जिया है?
सदुपदेश-पीयूष सभी ने यहाँ पिया है।

नर क्या इसको अवलोक कर
कहते हैं सुर भी यही—
जय-जय भारतवासी कृती,
जय-जय-जय भारतमही॥

कवि के देश-प्रेम ने ही उसे प्रकृति की सुन्दरता का वर्णन करने को प्रेरित किया है। इस खण्ड काव्य के आरम्भ में सेल्यूकस के शब्दों मे कवि ने भारत की प्राकृतिक सुषमा की सुन्दर झाँकी प्रस्तुत की है। सिन्धु नदी के प्रवाह का कल-कल नाद, आकाश में चमकता हुआ पूर्णचन्द्र, धरती पर छिटकती हुई शुभ्र चाँदनी, चहकती चिड़ियों का उड़ना, कोयल का कल कूजन, सुरभित शीतल एवं मन्द पवन का बहना, दूर दिखाई पड़ने वाले पर्वत आदि सेल्यूकस के हृदय को आकृष्ट कर लेते है। वह मन ही मन भारत की प्रशसा किए बिना नहीं रह पाया—

'कल-कल करता हुआ सिन्धु नद बहता जाता;
रजत कान्तमय विमल सलिल मन को ललचाता।
उसमें निज प्रतिबिम्ब व्याज के तारे—
क्रीड़ा सी कर रहे, विपुल सुन्दरता धारे।
बालू फैली तटकान्त मे
जो दृग्गीत-पर्यन्त है।
वह विधु किरणो से चमककर,
हुई रुचिर अत्यन्त है॥
नीले नीले दूर दीख पडते जो भूधर—
वे दृष्टि-प्राकार तुल्य लगते है सुन्दर।
पृथ्वी मानो वसन चन्द्रिका है पहने;
नभ के ग्रह-नक्षत्र बने है उसके गहने।
ये दृश्य देखकर ग्रीक सब
आमोदित है हो रहे
निज मातृ-भूमि सौन्दर्य का
गर्व सभी है खो रहे॥"

इस प्रकार सम्पूर्ण ग्रंथ में हमें देश-प्रेम के ही गीत सुनने को मिलते है। शिविर में बैठकर गाने वाले भारतीय योद्धा देश की इसी गौरव गाथा का बखान करते हैं। वे गाते हुए कहते है कि हमारी मातृभूमि सर्वदा सुख देने वाली पुण्य भूमि है आज हमें जो कुछ भी मिला है वह सब इसी की कृपा का पुण्य फल है। भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्ण का अवतार इसी देश मे हुआ है। यहाँ के ऋषि मुनियों ने ज्ञान का ऐसा विस्तार किया है कि विश्व-

भर को सदुपदेश का अमृत प्राप्त हुआ है। इसका सौन्दर्य स्वर्गीय सौन्दर्य से भी महान् है—

"पुण्य भूमि यह हमे सर्वदा है सुखकारी;
माता के सम मातृ भूमि है यही हमारी।
हमको ही क्या, सभी जगत को है यह प्यारी,
इतनी गुरुता और कहीं क्या गई निहारी?
यह वसुधा सर्वोत्कृष्ट है
क्यो न कहें फिर हम यही—
जय-जय भारतवासी कृती,
जय-जय-जय भारत मही॥

× × ×

धरणी सागर, शैल जहाँ तक गये निहारे,
हे तेरे ही यशोगान से गुँजित सारे।
सभी देश हैं अतुलनीय तेरा ऋण धारे,
कीर्ति-धवल कर गये तुझे हैं पितर हमारे।
सब सुनें, गिरा यह गूँजकर
है अनन्त मे छा रही,
जय-जय भारतवासी कृती,
जय-जय-जय भारत मही।"

कवि ने भारतीय जनता और इसकी सेना द्वारा देश-प्रेम हेतु जो बलिदान किये गये है उसमें भी हमे भारत के गौरव की झाँकी मिलती है। इस ग्र थ में भारतीय सैनिकों ने रण-गीत द्वारा इसी भाव को व्यक्त किया है। वे कहते है कि हम वीर सैनिक है। हमें किसी का डर नही है। हमारा घर रणक्षेत्र है। ऐसा कोई भी काम नहीं है जिसे हम न कर सकते हों। हमारा गतिरोध करने की शक्ति संसार में किसी को नहीं है। प्राण देकर भी हम विजय का झण्डा फहरायेंगे। हमारे प्रेरणा स्रोत भीम और अर्जुन हैं। राम और कृष्ण हमारे रक्षक है। मातृ-भूमि के लिए सिर चढ़ाने को हम प्रस्तुत हैं। कवि के शब्दों में इसे देखिए—

हम सैनिक हैं, हमें जगत में किसका डर है ?
रणक्षेत्र ही सदा हमारा प्यारा घर है ।
हृदय हमारा विपुल वीरता का आकर है,
आनन-सा है हमें भुवन, प्रकटित गर्व प्रखर है ।
यह कौन कार्य है हम जिसे
कर न सकें पूरा कभी ?
निज भारतीय बल-वीर्य का
आओ परिचय दें अभी ।।

× × ×

भरा हमी में भीम और अर्जुन का बल है,
कम्पित हमसे कहाँ नहीं होता रिपु दल है ?
वीर प्रण सब काल हमारा अचल, अटल है,
राम कृष्ण का अभय दान हम पर निश्चल है ।
ये यवन हमारे सामने
टिक सकते हैं क्या कभी ?
निज भारतीय बल-वीर्य का
आओ, परिचय दें अभी ।।

इसी प्रकार सम्राट् चन्द्रगुप्त ने भी सैनिकों को उद्‌बोधन देते हुए भारत के महान् गौरव की झाँकी प्रस्तुत की है । चन्द्रगुप्त ही भारत के वीरपुत्रों में महान् थे । उनका चरित्र भारत के महान् गौरव की उद्‌घोषणा करने वाला है । चन्द्रगुप्त अपने सैनिकों को उद्‌बोधित करते हुए कहते हैं—

देखो, तुम हो आर्य वीर, यह भूला न देना;
अपनी सारी कीर्ति सदा को सुला न देना ।
आर्यों की सन्तान श्रेष्ठ है हम बलधारी—
जान जाय यह बात आज यह पृथ्वी सारी ।
जो कार्य तुम्हारे योग्य है
करके दिखलादो अभी ।
ये म्लेच्छ भूलकर भी इधर
मन में न करें जिसमें कभी ।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि 'मौर्य विजय' काव्य में आरम्भ से अन्त तक कवि ने भारत के गौरव की सुन्दर झाँकी प्रस्तुत की है। आशा है इस काव्य के अध्ययन से प्रत्येक भारतवासी इस महान् संस्कृति से कुछ प्रेरणा प्राप्त कर सकेगा

मौर्य विजय

व्याख्या-भाग

भक्त जनों के हृदय-कमल विकसित करने को,
अनुपम धर्मालोक भुवन भर में भरने को,
जिन प्रभु ने अवतार स्वयं ही धारण करके,
मारे निशिचर-वृन्द भार भूतल का हरके,
वे रावणारि रघुवंश-रवि,
विश्वेश्वर, कल्याणमय,
दें इस जीवन-संग्राम में,
हमें अभय करके विजय ॥१॥

संदर्भ—यह छन्द श्री सियाराम शरण गुप्त कृत 'मौर्य-विजय' काव्य से लिया गया है।

प्रसंग—यह ग्रंथ का प्रथम छन्द है जिसमें कवि ने अपने ग्रंथ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए रघुवंश रवि श्रीराम की वन्दना करते हुए कहा है—

व्याख्या—कवि कहता है कि भक्त लोगों के हृदय रूपी कमल को खिला देने को और सम्पूर्ण संसार में अनुपम धर्म का प्रकाश भर देने को जिन प्रभु ने स्वयं ही पृथ्वी पर अवतार धारण किया था और जिन्होंने पृथ्वी का भार हल्का करने के लिए सम्पूर्ण राक्षसों का विनाश किया था वे ही रावण के शत्रु, रघुकुल के सूर्य, संसार के स्वामी, कल्याण देने वाले हमारे इस जीवन रूपी युद्ध में हमें अभय करके हमें विजय प्रदान करें।

विशेष—(१) कवि ने अपने इष्ट राम की वन्दना की है।
(२) यह मंगला चरण का छन्द है।

(३) हृदय कमल में रूपक, जीवन-संग्राम में रूपक।

(४) जब पृथ्वी पर राक्षसों के अत्याचार बढने लगते है तो पृथ्वी से उनका बोझ हल्का करने के लिए भगवान् मनुष्य रूप में पृथ्वी पर अवतार लेते हैं इस भाव को बताया गया है।

भारत भूपति चन्द्रगुप्त थे तेजोधारी
शासन उनका प्रजावर्ग को था सुखकारी,
थे वे सद्गुणशील और बल-विक्रम वाले,
पद-मर्दित सब शत्रु उन्होंने थे कर डाले,
उनकी सु-राजधानी विदित,
पाटलिपुत्र मनोज्ञ थी।
जिसकी उपमा के अर्थ बस,
अमरपुरी ही योग्य थी ॥२॥

संदर्भ—वही।

प्रसंग—इस छन्द में कवि ने भारत के भूपति पाटलिपुत्र के राजा चन्द्रगुप्त के शासन एवं उनकी राजधानी की सुन्दरता का वर्णन किया है।

व्याख्या—कवि कहता है कि उस काल मे भारत के भूपति चन्द्रगुप्त थे वे बड़े ही तेजवान राजा थे और उनका शासन प्रजा के लिए बड़ा ही हितकारी था। वे स्वयं सद्गुणो से युक्त थे तथा बल पराक्रम वाले थे। उन्होंने अपने सभी शत्रुओं को पद दलित कर डाला था। उनकी राजधानी पाटलिपुत्र बड़ी ही सुन्दर थी तथा उसकी तुलना केवल इन्द्र की राजधानी अमरपुरी से ही की जा सकती थी।

विशेष—(१) राजा चन्द्रगुप्त के यश एवं कीर्ति का वर्णन किया गया है।

(२) राजा प्रजा वत्सल एवं सद्गुण सम्पन्न था।

(३ वह अद्वितीय वीर था।

(४) अन्तिम दो पंक्तियों में उपमा अलंकार का प्रयोग हुआ है।

यद्यपि वे श्री चन्द्रगुप्त जग में कहलाये,
प्रकट चन्द्र से किन्तु उन्होंने गुण थे पाये।
सज्जन रूप चकोर समूहों को सुखदायी,
उनकी उज्जवल कीर्ति चन्द्रिका-सी थी छाई।

निज रुचिर गुणों से वे सुधी,
सबको प्रिय थे सर्वदा।
होता है प्यारा कुमुदपति,
कुमुद-समूहों को यथा ॥३॥

संदर्भ—वही।

प्रसंग—प्रस्तुत छन्द मे कवि ने पाटलिपुत्र के अधिपति चन्द्रगुप्त के गुणो का वर्णन करते हुए कहा है—

व्याख्या कवि कहता है कि पाटलिपुत्र के राजा जगत में श्री चन्द्रगुप्त नाम से प्रसिद्ध हुए पर वास्तव मे उनमे चन्द्रमा जैसे ही गुण थे। चन्द्रमा जिस प्रकार चकोर पक्षियो को आनन्दित करता रहता है उसी प्रकार सम्राट् चन्द्रगुप्त भी सज्जन लोगो को अपने व्यवहार से आनन्दित किया करते थे। साथ ही उनकी कीर्ति भी चन्द्रमा की चाँदनी के समान सारे संसार मे फैल रही थी। वे अपने सुन्दर एव रुचिकर गुणो से सभी मनुष्यो को आनन्द प्रदान किया करते थे। सज्जन लोग उनसे उसी प्रकार आनन्दित होते थे जिस प्रकार कि कुमुदपति अर्थात् चन्द्रमा कुमुद समूहों को आनन्दित करता रहता है।

विशेष (१) श्री चन्द्रगुप्त की तुलना चन्द्र ग्रह से की गयी है।
(२ सज्जन रूप चकोर—मे रूपक, चन्द्रिका-सी मे उपमा।
(३) अन्तिम पक्ति मे उपमा।

भारत-भाग्याकाश स्वच्छ था सु-प्रसन्न था,
था सर्वत्र सुकाल, विपुल-धन और अन्न था।
फैला था आलोक-ज्ञान-रूपी दिनकर का,
हटा रहा था अन्धकार जो भूतल भर का,
दुर्वृत्त निशाचर देश मे,
आते कहीं न दृष्टि थे;
सब दृश्य यहाँ के दिव्य थे,
करते जो सुख सृष्टि थे ॥४॥

सन्दर्भ—वही।

प्रसंग—प्रस्तुत छन्द में कविवर श्री सियारामशरण गुप्त श्री चन्द्रगुप्त के शासन काल मे भारत की जो सुखद दशा थी, उसका वर्णन करते हुए कहते हैं —

व्याख्या—कवि कहता है कि चन्द्रगुप्त के शासन काल में भारत का भाग्य-रूपी आकाश स्वच्छ एवं प्रसन्न था अर्थात् उस समय देश में किसी प्रकार का अभाव एवं संकट नहीं था। सब ओर देश धन और धान्य से परिपूर्ण था तथा आनन्द का वातावरण था। उस काल में ज्ञान रूपी सूर्य का प्रकाश फैल रहा था तथा वह संसार भर के अन्धकार को हटा रहा था। कहने का भाव यह है कि उस काल में भारत सारे संसार को ज्ञान दे रहा था। बुराइयाँ एवं राक्षस कहीं भी देश में दृष्टिगोचर नहीं हो रहे थे उस समय तो यहाँ सर्वत्र खुशहाली एवं आनन्द ही था।

विशेष—(१) महाराज चन्द्रगुप्त के सुशासन का वर्णन किया गया है।

(२) उस काल में भारत धन एवं धान्य से परिपूर्ण था।

(३) भारत-भाग्याकाश-में रूपक, ज्ञानरूपी दिनकर-में रूपक।

यूनानी सम्राट वीरवर सिल्यूकस था,
अर्द्ध एशिया खण्ड हो चुका उसके वश था।
उसने रण में सदा विजय-गौरव था पाया,
बड़े गर्व से भरत-भूमि पर वह चढ़ आया।
उसके सैनिक निज कार्य में
शिक्षित थे, वीरवर थे,
वे कभी नहीं संग्राम में
देखे गये अधीर थे ॥५॥

सन्दर्भ—वही।

प्रसंग—जिस समय भारत में चन्द्रगुप्त के शासन में खुशहाली थी तभी सिल्यूकस ने भारत पर आक्रमण कर दिया, उसी आक्रमण का वर्णन प्रस्तुत छन्द में कवि ने प्रस्तुत किया है—

व्याख्या—कवि कहता है कि जिस समय भारत भू पर सम्राट् चन्द्रगुप्त का शासन था उसी समय यूनान देश के सम्राट् वीरवर सिल्यूकस ने भारत पर आक्रमण कर दिया। इससे पूर्व वह आधी एशिया के देशों को जीत चुका था। उसका यह सौभाग्य था कि अभी तक उसने जहाँ-जहाँ तथा जिस देश पर चढ़ाई की वहाँ उसे सफलता ही मिली। अपने इस विजय गर्व से भरकर उसने भारतभूमि पर भी आक्रमण कर दिया। उसके सैनिक अद्वितीय

वीर एवं युद्ध कला में पूर्ण शिक्षित थे साथ ही वे युद्ध-क्षेत्र में कभी भी अधीर नहीं होते थे।

विशेष—(१) सिल्यूकस के आक्रमण का वर्णन है।

(२) सिल्यूकस की वीरता एवं दक्षता का वर्णन है।

पूर्णचन्द्र है उदित सुनील नभो मण्डल में।
चारु चन्द्रिका छिटक रही है वसुधातल में।
विहग-गणों का बन्द हुआ है आना जाना;
नहीं रुका है किन्तु पिकों का मधु बरसाना।
चलकर सुरभित शीतल पवन
सबका श्रम है हर रही।
देकर सुगन्धि सुखदायिनी,
मन को मोहित कर रही ॥६॥

सन्दर्भ—वही।

प्रसंग - प्रस्तुत छन्द में कवि ने प्रकृति का सुन्दर चित्रण किया है।

व्याख्या—कविवर श्री गुप्त जी कहते हैं कि जिस समय सिल्यूकस ने सिन्धु नदी पर डेरा डाला है उस समय वहाँ के मनोहारी प्रकृति रूप को देखकर वह मुग्ध हो उठता है। उस समय आकाश मण्डल में पूर्णचन्द्र उदित हो चुका है और पृथ्वीतल पर उसकी सुन्दर चाँदनी बिखर रही है। रात्रिकाल हो जाने से पक्षीगण अपने-अपने घोंसलों में बसेरा कर रहे हैं फलतः उनका आवागमन बन्द हो चुका है पर इस समय कोयलो का मीठा गाना नहीं रुका है अर्थात् कोयल 'पीउ-पीउ' पुकार रही हैं। इसी समय शीतल, मन्द एवं सुगन्धित वायु सबकी थकावट हरते हुए बह रही है और वह सुखदायिनी सुगन्ध देकर सबका मन मोहित कर रही है।

विशेष—(१) प्रकृति की अनुपम छटा का वर्णन हुआ है।

(२ अनुप्रास की छटा।

इसी भूमि पर राम-कृष्ण ने जन्म लिया है,
ऋषि मुनियो ने प्रथम ज्ञान-विस्तार किया है।
है क्या कोई देश यहाँ से जो न जिया है?
सदुपदेश-पीयूष सभी ने यहाँ पिया है।

नर क्या, इसको अवलोक कर
कहते हैं सुर भी यही—
जय-जय भारतवासी कृती,
जय-जय-जय भारत मही ॥७॥

सन्दर्भ—वही ।

प्रसंग—प्रस्तुत छन्द में कवि भारतभूमि के महत्त्व का वर्णन करते हुए कह रहा है—

व्याख्या—कवि कहता है कि हमारे इस देश की भूमि पर ही राम एव कृष्ण ने क्रमशः त्रेता युग और द्वापर युग में अवतार लिया था। यहाँ के ऋषि-मुनि बड़े ज्ञानी एवं विद्वान हुए हैं उन्होंने ही ससार में सर्वप्रथम अपने ज्ञान का प्रसार किया था। क्या संसार मे कोई भी ऐसा देश है जिसने भारत से किसी न किसी रूप मे प्रेरणा न ली हो ? अर्थात् नही। यहाँ के विद्वानों के सदुपदेश रूपी अमृत को सभी ने पिया है। मनुष्यो की तो क्या बात है देवता लोग भी इसको देखकर यही कहने लग जाते है कि पुण्यात्मा भारतवासी जय जयकार के योग्य है इस भारतमाता की हम बार-बार जय-जयकार करते है।

विशेष—(१) भारत के प्राचीन वैभव का कवि ने वर्णन किया है।
(२) भारत प्राचीनकाल में जगत गुरू था।
(३) सदुपदेश—पीयूष में रूपक।

यह पुनीत संगीत गूँजकर गगन स्थल मे,
है वर्षण कर रहा अमृत-सा अवनीतल में।
दीख रहे है आज-बाज सब ओर निराले;
मानो सब हो रहे हर्ष से है मतवाले।
बैठे हैं अपने शिविर मे
चन्द्रगुप्त मंत्री-सहित।
कर रहे वहाँ वे मन्त्रणा
ग्रीकों के अवरोध हित ॥८॥

सन्दर्भ—वही।

प्रसंग—जिस समय भारतभूमि का गान करने वाला संगीत गूँज रहा था उसी समय चन्द्रगुप्त को यह सूचना मिली कि ग्रीक देश के सम्राट

सिल्यूकस ने भारत पर आक्रमण कर दिया है। फिर चन्द्रगुप्त अपने मन्त्री सहित इस समस्या पर मन्त्रणा करते हैं, इसी भाव का वर्णन यहाँ किया गया है।

व्याख्या—जिस समय वातावरण में भारत के गौरव को गाने वाला संगीत आकाश में गूँज रहा था तथा वह पृथ्वी तल पर अमृत जैसी वरसा कर रहा था। उस समय सभी साजबाज अनोखे दिखाई दे रहे थे मानो हर्ष से मतवाले हो गये हों। इसी समय यूनानी सम्राट आक्रमण की खबर पाकर चन्द्रगुप्त अपने मन्त्री सहित इस आयी हुई विपत्ति का सामना करने हेतु मन्त्रणा कर रहे थे।

विशेष—(१) वातावरण का बड़ा ही सजीव चित्रण किया गया है।

(२) अमृत-सा-मे उपमा।

(३) मानो सब"""" मतवाले मे उत्प्रेक्षा।

बोले नय चाणक्य—"यद्यपि कुछ हमे न भय है,
अति अजेय यह भरत-भूमि अब भी निश्चय है।
किन्तु शत्रु को तुच्छ समझकर अपने मन में,
अनवधान हे वत्स, कभी मत रहना रण में।
लघु से लघुतम भी शत्रु को
तुच्छ समझना भूल में;
ग्रीको पर तो सन्तत रही
जय लक्ष्मी अनुकूल है ॥६॥

सन्दर्भ—वही।

प्रसंग—जब चाणक्य के सामने यूनान सम्राट के आक्रमण की बात आयी तो उन्होंने चन्द्रगुप्त को हिम्मत बँधाते हुए कहा कि शत्रु का निडरता से सामना करो इसी भाव का वर्णन यहाँ हुआ है—

व्याख्या—सिल्यूकस के आक्रमण की बात सुनकर चन्द्रगुप्त ने अपने गुरु चाणक्य से कहा कि हम शत्रु को अच्छा सा पाठ पढ़ा देंगे। इस उत्तर को सुनकर गुरुदेव शत्रु राजा से हमे जरासी भय नही है क्योकि भारतभूमि अजेय है इसे आज तक कोई भी जीत नही पाया है। इसके बाद वे चन्द्रगुप्त को सावधान करते हुए कहते है कि माना हम अजेय हैं फिर भी शत्रु को कभी भी अपने से हीन नहीं समझना चाहिए अर्थात् सावधानी से तुम्हें उसके आक्रमण

का विरोध करना होगा। इसके साथ ही ग्रीकों पर जय लक्ष्मी अनुकूल रही है। वे अभी तक आधी से अधिक एशिया के देशों को जीत चुके हैं।

विशेष—(१) चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को राजनीति का यह रहस्य बताया है कि शत्रु को कभी भी कमजोर नहीं समझना चाहिए।

ऊषा का आगमन हो रहा था सुखकारी,
था वह रहा सुगन्ध मन्द मारुत श्रमहारी।
एक-एक कर लुप्त हो चुके थे सब तारे;
पाते प्रभुता तिमिर-मध्य ही वे लघु सारे।
कोकिल कीरादिक विहग-वर
सुस्वर से थे गा उठे,
अथवा सबको करके सजग,
श्रवण-सुधा बरसा उठे ॥१०॥

सन्दर्भ—यह छन्द 'मौर्य-विजय' के द्वितीय सर्ग से लिया गया है। इसके रचयिता कवि सियारामशरण गुप्त हैं।

प्रसंग—इस छन्द में उषा के उस वातावरण का बड़ा ही भावग्राही चित्रण हुआ है जिसमे राजा चन्द्रगुप्त की सेना शत्रु से लड़ने हेतु तैयारी कर रही थी।

व्याख्या—कवि कहता है कि चन्द्रगुप्त की सेना ने रात्रिभर जागकर युद्ध की तैयारी की और अब उषाकाल आ गया है। यह उषाकाल बड़ा ही सुखदायक था उस समय शीतल, मन्द एवं सुगन्धित वायु बह रही थी जो सैनिकों का रात्रि का श्रम हर रही थी। इस समय तक आकाश के सभी तारे एक-एक करके छिप गये थे। अन्धकार के बीच में ही वे छोटे तारागण महत्त्व पा रहे थे। प्रातःकाल होते ही कोयल, तोता आदि पक्षीगण सुन्दर स्वर में गीत गा रहे थे अथवा ऐसा लग रहा था मानो वे पक्षीगण सबको जगाकर उनके कानों में अमृत रस की वर्षा कर रहे थे।

विशेष—(१) वातावरण का लुभावना चित्रण है।
(२) अनुप्रास की छटा।
(३) अन्तिम पंक्ति में सन्देह।

थे मानो प्रत्यक्ष इन्द्र वे अवनीतल के;
थे उनके भुज यशः स्तम्भ से अतुलित बल के।

थी विशाल अत्यन्त सुदृढ़तर उनकी छाती;
उज्ज्वल आँखें दीप्ति सर्वदा थी बरसाती।
था भव्य शीश पर मणि-जटित,
मुकुट सुशोभित हो रहा,
जो रवि-किरणों से और भी
था आलोकित हो रहा ॥११॥

सन्दर्भ—वही।

प्रसंग—जब यूनानी सम्राट् सिल्यूकस से युद्ध क्षेत्र में लड़ने के लिए चन्द्रगुप्त भी सज-धज कर चल दिया तभी का यहाँ वर्णन प्रस्तुत है—

व्याख्या—युद्ध क्षेत्र के लिए सज कर चलने वाले सम्राट चन्द्रगुप्त उस समय ऐसे लग रहे थे मानो वे साक्षात् पृथ्वीतल के इन्द्र ही हों। उनकी भुजाएँ यश के स्तम्भ-सी अतुल बल वाली थीं। उनका वक्षस्थल विशाल एवं अत्यन्त सुदृढ़ था तथा उनके नेत्र सदैव उज्ज्वल कान्ति की बरसा कर रहे थे। उनके सिर पर मणियों से जड़ा हुआ मुकुट शोभित हो रहा था तथा जब उस मुकुट पर सूर्य की किरणें पड़ती तो वह और भी अधिक प्रकाशित हो रहा था।

विशेष—(१) राजा चन्द्रगुप्त के वीर वेष एवं उनके यश का वर्णन हुआ है।
(२) प्रथम पंक्ति में उत्प्रेक्षा।
(३) भुज यश. स्तम्भ से-में उपमा।

रण क्षेत्र से लौट आयेंगे पिता आज जब,
विरत युद्ध से उन्हें करूँगी निश्चय तब।
बेटी का अनुरोध नहीं क्या वे मानेंगे?
रक्त-पात ही वीर-धर्म अपना जानेंगे!
क्या ऐसा भीरुत्व काण्ड भी
हो सकता सत्कर्म है?
इस घोर युद्ध का रोकना
निश्चय मेरा धर्म है ॥१२॥

सन्दर्भ—वही।

प्रसंग—प्रस्तुत छन्द में यूनानी सम्राट् सिल्यूकस की पुत्री एलेना का मनोभाव व्यक्त किया गया है जिसमें वह युद्ध को बन्द कर देने की बात पिता से कहती है—

व्याख्या—युद्ध के मार-काट एवं दुःखों के प्रति एथेना अपना विरोध दिखाती है। वह कहती है कि जब मेरे पिता सिल्यूकस युद्ध क्षेत्र से लौट कर आयेंगे तो मैं उन्हें युद्ध की ओर से विरत (विलग) करने का निश्चय करूँगी अर्थात् पिताजी से कहूँगी कि वे युद्ध को त्याग दें। मुझे विश्वास है कि मेरे इस अनुरोध को वे निश्चय ही मान लेंगे। आगे वह कहती है वीरों का धर्म क्या केवल रक्त-पात में ही होता है ? अर्थात् नहीं। आगे वह पुनः प्रश्न करती है कि युद्ध जैसा भीषण काण्ड भी क्या कभी अच्छा कर्म हो सकता है ? अर्थात् नहीं। आगे वह फिर कहती है कि मेरा यह दृढ़ निश्चय है कि मै इस घोर युद्ध को रुकवा दूँगी।

विशेष—(१) युद्ध की बुराइयों को एथेना जान गयी है अतः वह इसका विरोध करती है।

(२) अनुप्रास की छटा।

फिर एथेना नियत समय पर नृप ने पाई,
मौर्य-विजय प्रत्यक्ष मिली मानो मन-भाई।
यही नहीं, कन्धार, हीरातादित प्रदेश भी,
मिले उन्हें उपहार-रूप त्यों यश अशेष भी ॥

रिपु-हृद्धामों में गर्व का
जला दीप जो था नया,
वह भारतीय बल-वायु का
झोंका खाकर बुझ गया ॥१३॥

सन्दर्भ—वही।

प्रसंग—मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त के रूप लावण्य पर मोहित हो एथेना ने अपना भाव पिता से कह दिया। पिता को भी सद्बुद्धि आ गयी और उसने चन्द्रगुप्त से सन्धि करते हुए अपनी पुत्री एथेना का विवाह चन्द्रगुप्त से कर दिया। उसी समय का वर्णन कवि ने यहाँ किया है—

व्याख्या—कवि कहता है कि उचित समय पर सम्राट चन्द्रगुप्त ने सिल्यूकस की पुत्री एथेना को प्राप्त कर लिया इस तरह चन्द्रगुप्त को प्रत्यक्ष विजय प्राप्त हो गयी। इतना ही नहीं ग्रीक सम्राट् सिल्यूकस ने उपहारस्वरूप अपने देश के कन्धार, हीरात आदि प्रदेश भी उन्हें भेंट किये। शत्रुओं के

हृदय रूपी धामों में जो भारत पर आक्रमण करते समय वीरता का नया दीप जला था वह भारतीय पराक्रम रूपी वायु का झोंका खाकर शीघ्र ही बुझ गया।

विशेष—(१) एथेना के विवाह एवं उपहार मे मिली वस्तुओं का वर्णन है।

(२) रिपु-हृद्धामों मे रूपक, बल-वायु में रूपक।

साक्षी है इतिहास, हमी पहले जागे हैं,
जागृत सब हो रहे हमारे ही आगे हैं।
शत्रु हमारे कहाँ नही भय से भागे है,
कायरता से कहाँ प्राण हमने त्यागे हैं?
है हमी प्रकम्पित कर चुके
सुरपति तक का हृदय,
फिर एक बार हे विश्व! तुम
गाओ भारत की विजय ॥१४॥

सन्दर्भ—वही।

प्रसंग - इस छन्द मे कवि भारत की यशगाथा गाता हुआ कहता है—

व्याख्या—कविवर श्री गुप्त जी कहते हैं कि इतिहास इस बात का साक्षी है कि ससार मे हमी लोग सबसे पहले जागे है अर्थात् भारत में ससार मे सबसे पहले ज्ञान का प्रकाश उदय हुआ था और आज ससार मे जो कुछ भी ज्ञान का प्रकाश है वह सब हमारा ही दिया हुआ है। संसार मे ऐसा कौन-सा देश है जहाँ के शत्रु हमारे बल पराक्रम को देखकर नहीं भागे हों अर्थात् संसार के सभी लोग हमारे बल पराक्रम के आगे भागे है। इसके आगे वे कहते हैं कि हमने कभी भी कायरता से अपने प्राणों को नही त्यागा है। हममे इतनी शक्ति है कि हमने इन्द्र तक का हृदय कँपा दिया था। ऐसे वीर देश भारत की हे संसार के मनुष्यों आओ एक बार फिर जय बोले।

विशेष – (१) भारत की यशगाथा कवि ने गाई है।

(२) अनुप्रास की छटा।

द्वितीय प्रश्न-पत्र

- हिन्दी गद्यालोक
- नूतन कहानी-संग्रह

हिन्दी गद्यालोक

मुख्य पाठों का सारांश

प्रश्न १—'कर्त्तव्य और सत्यता' पाठ का सार लिखिए।

उत्तर—मनुष्य की शोभा सदैव कार्य करने में ही है। सच्चा कार्य या कर्त्तव्य वही है जिसे करते समय हमारी आत्मा का समर्थन मिले। कर्त्तव्य और सत्यता में आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः हमें कर्त्तव्य के समय कभी भी सत्य को नहीं छोड़ना चाहिए। कर्त्तव्य पालन मानव का परम धर्म है। कर्त्तव्य न करने वाला व्यक्ति जहाँ एक ओर समाज में आदर का पात्र नहीं रहता है, वहीं दूसरी ओर वह अपने चरित्र से भी गिर जाता है। बाल्यावस्था में तो हममें कर्त्तव्य पालन की भावना दूसरों के दबाव या भय से आती है पर कालान्तर में कर्त्तव्य के प्रति हम में रुचि उत्पन्न हो जाती है।

बालक कर्त्तव्य भावना का पहला पाठ अपने घर पर ही पढ़ता है; क्योंकि वहाँ वह अपनी आँखों से माता-पिता, बड़े भाई-बहिनों, स्वामी-सेवक द्वारा एक-दूसरे के प्रति किए जाने वाले कर्त्तव्यों को देखता है। इसके पश्चात् कर्त्तव्य भावना का दूसरा पाठ बालक कुछ बड़ा होकर घर से बाहर मित्रों, पड़ोसियों, राजा, प्रजा आदि के कर्त्तव्यों में पढ़ता है। इस प्रकार क्रमिक रूप से उसकी कर्त्तव्य-बुद्धि विकसित होती जाती है।

कर्त्तव्य वस्तुतः वही है जिसका समर्थन आत्मा द्वारा हो। बुरा कार्य करने पर हमें स्वयं ग्लानि होती है। बुरा कार्य करने वाला सदैव शंकालु रहेगा तथा अच्छा कार्य करने वाला सदैव निर्भीक। इसलिए जिसे हमारी आत्मा कहे उसी कार्य को हमें करना चाहिए दूसरे को नहीं। कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि बुरे कार्यों से सम्पन्न बने हुए व्यक्तियों को देखकर हमें भी लालच हो जाता है और हम भी उसी प्रकार के बुरे कार्यों को करने के लिए उद्यत हो उठते हैं पर हमें ऐसा करना नहीं चाहिए; क्योंकि इस प्रकार के कार्यों से मनुष्य को अपने जीवन में सच्चा संतोष प्राप्त नहीं होता है, अतः चाहे हमारे प्राण ही क्यों न चले जायें, हमें सन्मार्ग से विचलित नहीं होना चाहिए।

धर्म के पालन करने मे दो बाधाएँ हैं—१. चित्त की चंचलता, २. सत्य की अनिश्चितता। यदि मनुष्य इसी के चक्कर मे रहता है तो एक ओर तो वह कर्त्तव्य पथ से हट जाता है और दूसरी ओर उसका चरित्र पतित हो जाता है। अतः हमे इन बाधाओं को हटाकर अपने मार्ग पर डटे रहना चाहिए। कर्त्तव्य पालन मे उपकार की भावना का होना नितान्त आवश्यक है। जिस जाति मे कर्त्तव्य पालन की भावना जितनी ही उच्च होगी वह जाति उतनी ही महान मानी जायेगी। इसके विपरीत जिस जाति मे कर्त्तव्य की भावना जितनी ही नीची होगी वह जाति उतनी ही नीची समझी जाएगी। इसी बात को सिद्ध करने के लिए लेखक ने उदाहरण दिए है। अंग्रेजो की महानता का वर्णन करते हुए लेखक कहता है कि एक बार अंग्रेजो के जहाज में छेद हो जाने से पानी भर गया। अंग्रेजो ने अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुए उसमें बैठे हुए बच्चो एव स्त्रियो को नावो मे बैठाकर सुरक्षित स्थान पर भेज दिया पर स्वय डूब गए। यह उनका उच्च कर्त्तव्य था। इस बात से उनकी जाति की बड़ी प्रशसा हुई लेकिन फ्रांसीसी लोग एक बार ऐसी स्थिति उपस्थित होने पर स्वय तो भाग गए पर उसमे बैठे हुए बच्चे एव स्त्रियाँ डूब गयीं, उनके इस कार्य की सर्वत्र निन्दा हुई।

कर्त्तव्य और सत्यता मे गहन सम्बन्ध है। जो व्यक्ति कर्त्तव्य का पालन करेगा वह अवश्य ही अपने वचनो मे सत्य को स्थान देगा। ससार में सच्चाई का अब भी महत्त्व है, बिना सचाई के कोई नही चलता है। यदि संसार के सभी लोग झूठ बोलने लगें तो संसार मे कोई काम नही हो सकता है। झूठ से बुरा काम ससार में कोई नही है। कुछ लोग समय और नीति के अनुसार झूठ बोलना उचित मानते हैं। कुछ लोग सत्य को घुमा-फिरा कर कहते हैं लेकिन लेखक के मत मे इस प्रकार की बातें भी झूठ के ही स्तर की हैं। जो लोग झूठ बोलकर दूसरो को धोखा देते हैं, निश्चय ही ऐसे लोग समाज के बहुत बड़े शत्रु हैं।

झूठ के भेदो का वर्णन करते हुए लेखक कहता है कि चुप रहना, किसी बात को बढा चढाकर कहना, सत्य बात को छिपाना, भेद बदलना, झूठी बातो मे हाँ में हाँ मिलाना, प्रतिज्ञा तोडना आदि झूठ के कई प्रकार हैं। ये सब बातें अधर्म की हैं। इस प्रकार ये झूठ बोलने से मनुष्य समाज मे अपनी हँसी कराता है।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि हम सबका यह परम धर्म है कि हम सत्य भाषण करें। सत्य बोलने में हमें चाहे कितनी ही कठिनाइयाँ क्यों न उठानी पड़ें, हमें अपने मार्ग से विचलित नहीं होना चाहिए। सत्य बोलने से ही हमें समाज में उचित आदर प्राप्त होगा क्योंकि सच्चे व्यक्ति को सब चाहते है झूठ से सब घृणा करते हैं। सत्य बोलते हुए ही हम अपने कर्त्तव्य-पालन में सफल हो सकेंगे।

प्रश्न २—'साहित्य की महत्ता' नामक पाठ का सार लिखिए।

उत्तर—ज्ञान राशि का संचित कोष ही साहित्य कहलाता है। किसी भी भाषा की श्रेष्ठता उसमें पाये जाने वाला ज्ञान राशि का कोष ही होता है। जिस भाषा में यह साहित्य नही होता है वह देखने में चाहे कितना ही सुन्दर क्यों न हो पर उसका समाज में उसी प्रकार आदर सम्मान नही होता है जिस प्रकार कि रूपवती भिखारिन का। यदि किसी जाति की उन्नति या अवनति या राजनीतिक दशाओं का हमें सही लेखा-जोखा देखना है तो वह उस जाति के साहित्य में ही उपलब्ध हो सकता है। असभ्य जातियों में साहित्य का अभाव हुआ करता है। साहित्य सभ्यता का द्योतक है। साहित्य का एक ऐसा दर्पण है जिसमें जाति विशेष की भूतकाल एव वर्तमान काल की जीवन-शक्ति का परिचय हमें प्राप्त हो जाता है।

जिस प्रकार शरीर की स्वस्थता भोजन पर निर्भर करती है, उसी प्रकार मस्तिष्क की स्वस्थता भी साहित्य पर निर्भर करती है। अतः शारीरिक स्वस्थता के साथ ही साथ मानसिक स्वस्थता के लिए हमें नित्य ही सत् साहित्य का सेवन करना चाहिए और साथ ही नवीन साहित्य का निर्माण करना चाहिए। जिस प्रकार विकृत भोजन से शरीर अस्वस्थ हो जाता है, उसी प्रकार बुरे तथा अश्लील साहित्य से भी हमारा मस्तिष्क विकृत हो जाता है। अतः हमें सदैव साहित्य का उत्पादन तथा सेवन करना चाहिए।

यदि हम संसार के अन्य देशों तथा जातियों के साहित्य का अध्ययन करें तो हम पावेंगे कि वहाँ साहित्य ने बड़े-बड़े क्रान्तिकारी परिवर्तन किए हैं। साहित्य में जितनी अधिक शक्ति छिपी हुई है उतनी तोप, तलवार और बम में भी नहीं होती है। यूरोप की धार्मिक रूढ़ियो को समाप्त करने तथा वहाँ स्वतन्त्रता के बीज बोने का काम साहित्य ने ही किया था। पोप की प्रभुता में

कमी, फ्रांस मे प्रजा के राज्य की स्थापना तथा इटली का मान-सम्मान बढाने वाला साहित्य ही था। यदि किसी जाति या देश को जीवित रहना या उन्नति करनी है तो उसे अपने यहाँ सत्साहित्य की उन्नति करनी होगी। जो मनुष्य साहित्य सेवा मे रत नही होता है वह निश्चय ही देशद्रोही एवं आत्महन्ता है। उन्नत भाषाओ का यह स्वभाव होता है कि वे अन्य भाषाओं पर अपना आधिपत्य जमा लेती हैं, जिस प्रकार फ्रेंच भाषा ने जर्मनी-रूस और इटली आदि देश की भाषाओं पर एक बार अपना आधिपत्य जमा लिया था। इसी भाँति अंग्रेजी भाषा पर भी फ्रेंच और लैटिन भाषाओं का दबाव देखा जा सकता है। कभी-कभी राजनैतिक कारणो से भी एक भाषा का दूसरी पर अधिकार हो जाता है तथा विजेता जाति की भाषा विजित जाति की भाषा पर अपना आधिपत्य जमा लेती है। इस प्रकार दबी हुई भाषाओं मे कम साहित्य का निर्माण हुआ करता है। लेकिन जैसे ही राजनीतिक अंकुश हटा कर विजित जातियाँ स्वतन्त्र हो जाती हैं, उनके यहाँ पुनः नए साहित्य का निर्माण होने लगता है।

वास्तव में अपनी भाषा और साहित्य की सेवा ही अपने देश और जाति की सेवा है। विदेशी भाषा का हम चाहे कितना भी साहित्य अर्जित क्यो न कर लें; उससे अपने देश को कोई लाभ नही पहुँच सकता। अपनी भाषा को छोडकर विदेशी भाषा की प्रगति मे जटना बैसा ही है, जैसे कोई व्यक्ति अपनी माता की सेवा छोडकर दूसरे की माता की सेवा करता है। ऐसा व्यक्ति निश्चित रूप मे पापी एव कृतघ्न है।

अन्त मे लेखक कहता है कि किसी भी विदेशी भाषा का सीखना अनुचित नही है, अपितु हमे अपनी योग्यता एवं शक्ति के अनुसार अनेकानेक भाषाएं सीखकर अपना ज्ञान बढाना चाहिए। पर इसका यह अभिप्राय नही कि विदेशी भाषा और साहित्य की चमा-दमक मे हम अपनी मातृभाषा को उपेक्षित कर दें। क्योकि अपनी जाति या देश का उपकार अपनी भाषा या साहित्य की उन्नति द्वारा ही सम्भव है। ज्ञान, विज्ञान, धर्म और राजनीति की भाषा सदैव ही लोक भाषा या मातृभाषा होनी चाहिए। अतः हमें अपनी भाषा के साहित्य की सेवा मे रत होना चाहिए।

प्रश्न ३—'सच्ची वीरता' नामक पाठ का सार लिखिए।

उत्तर—सच्ची वीरता पाठ के रचयिता अध्यापक पूर्णसिंहजी हैं। सच्चे

वीरों के गुणों का वर्णन करते हुए वे कहते है कि सच्चे वीर पुरुष धैर्यवान्, गम्भीर एवं स्वतन्त्र प्रकृति के होते हैं। उनके मन की गम्भीरता और शान्ति समुद्र की भाँति विशाल और गहरी या आकाश की भाँति स्थिर और अचल होती है। चंचलता जैसी तुच्छ प्रवृत्तियाँ उनके पास फटकने तक नहीं पाती हैं। वीर पुरुषों में सत्त्वगुण की प्रधानता होती है। इसी गुण के वशीभूत होकर वीर पुरुष आत्मा की आवाज को पहचान लेते हैं और उसी के अनुसार वे अपने कर्मों का संचालन किया करते हैं। सच्चे वीर इतने मदोन्मत्त होते हैं कि उनकी निद्रा सरलता से नहीं खुल पाती है। कुम्भकर्ण की गाढ़ी नींद को भी लेखक ने वीरता का रूप माना है। वीर पुरुष जब जागते हैं तो उनकी गूँज सारे संसार में गूँजा करती है। अरब प्रदेश मे पैगम्बर मुहम्मद साहब ने जो वीरता की आवाज गुंजित की वह सदियों के बीत जाने पर भी आज तक लुप्त नहीं हुई है। मुहम्मद साहब अपने प्रारम्भिक रूप में एक साधारण पुरुष थे और वे एक महिला के यहाँ नौकरी किया करते थे पर उन्होंने अपनी आध्यात्मिक शक्ति के बल पर संसार के सब लोगों पर अपना आधिपत्य जमा लिया। मुसलमान धर्म का प्रवर्तक यही महान् पुरुष हुआ। इसी वीर पुरुष ने अपनी वीरता के बल पर आज भी संसार के बहुत बड़े जनमानस पर अपना प्रभाव जमा रखा है। उसके द्वारा चलाये हुए धर्म का काफी प्रसार-प्रचार हुआ और आज भी उसके अनुयायी उसके धर्म की रक्षा हेतु अपने जीवन को कुर्बान करने के लिए तैयार रहते हैं।

हजरत मोहम्मद साहब के पश्चात लेखक ने दुनियाँ के अन्य सच्चे वीरों का नाम गिनाते हुए एक बागी गुलाम 'अनहलक' की घोषणा करने वाले मसूर शम्स तरवेज आदि के महान् कार्यों का वर्णन किया है। इसके पश्चात् उसने जगतगुरु शंकराचार्य और कापालिक का वार्तालाप, जिसमें शंकराचार्य ने कापालिक को अपना सिर उतार लेने की आज्ञा दे दी थी, का वर्णन किया है।

दुनिया के सच्चे वीरों को गिनाते हुए उसी क्रम में लेखक ने अकबर के दरबार में आये हुए दो वीरों द्वारा वीरता का परिचय देने की कहानी बताई है जिसमे वे आपस में ही लड़कर टुकड़े-टुकड़े हो गये थे। भगवान् बुद्ध द्वारा मृग की रक्षा के लिए अपना शरीर आगे कर देना, योरोप के पादरी मार्टिन लूथर का रोम के पोप का खुलकर विरोध करना और पोप द्वारा अनेक प्रकार

के डर दिखाने पर भी उनका अपने सत्यमार्ग से न हटना आदि गुणो के द्वारा सच्चे वीरो का परिचय दिया है।

आगे लेखक ने सच्चे वीरों के कुछ और उदाहरण भी दिये हैं, जिनमें महाराजा रणजीतसिंह का चढ़ी हुई अटक नदी को सेना सहित पार कर जाना, नैपोलियन द्वारा एल्प्स पर्वत को पार कर जाना, फ्लोरेंज नाइटिंगेल द्वारा दिन-रात गरीबों और असहायों की सेवा करना, 'जॉन आव आर्क' द्वारा फ्रांस को भारी शिकस्त से बचाना तथा ईमामगीह के नाम से प्रसिद्ध हुए, बेचारी मरियम के लड़के आदि सच्चे पुरुषों के वीरतापूर्ण कार्यों का परिचय दिया है।

कारलायल और जापान निवासी ओशियो को भी लेखक ने इसी क्रम मे स्थान दिया है। लेखक का दृढ विश्वास है कि युद्ध-क्षेत्र में वीरता प्रदर्शित करने वाले या दूसरों की खून-पसीने की कमाई पर पलने वाले लोग सच्चे वीर नही हैं। सच्चे वीर तो वे हैं जिनका आत्मिक विकास हो चुका है। जिनकी आत्मा दबी हुई है या कमजोर है, वे सच्चे वीर नही कहे जा सकते।

सच्ची वीरता एक दैवी गुण है और इसकी प्रेरणा मनुष्य को इलहाल (ईश्वर की कृपा) द्वारा प्राप्त होती है। सच्चा वीर वही है जो दिखावे में विश्वास नही करता है और न ही उसे वीर बनने के लिए किसी से शिक्षा ही ग्रहण करनी होती है। वे तो अपने ही महान् कार्यो से वीर बन जाया करते हैं।

सच्चे वीर सत्वगुण सम्पन्न, ईमानदार, परोपकारी तथा अत्याचार के प्रबल विरोधी होते हैं। साधारण एवं छोटी-छोटी बातों से वे विचलित नहीं होते हैं।

अन्त मे लेखक ने वर्तमान युग के उन ढोंगियों एवं पाखण्डियों की निन्दा की है जो परोपकार के नाम पर अपना नाम और चित्र समाचार-पत्रों में छपवाया करते हैं और अपने आप ही हीरो बन जाया करते हैं। सच्चा वीर बनने के लिए लेखक मनुष्यों को उपदेश देते हुए कहता है कि यदि वास्तव में तुम्हें सच्चा वीर बनना ही है तो तुम शीघ्र गर्म और शीघ्र ठण्डे हो जाने वाले होने का स्वभाव छोड़ दो और चट्टान के समान सच्चाई पर दृढ़ता से डटे रहो।

प्रश्न ४—'आत्मनिर्भरता' पाठ का सार लिखिये।

उत्तर—आत्म-निर्भरता के द्वारा ही मनुष्य अपने आपको दृढ़ बनाता

है। जो व्यक्ति आत्म-निर्भर नहीं होते वे देश एवं समाज के लिए व्यर्थ हुआ करते हैं। आत्म-निर्भरता की प्राप्ति के लिए मनुष्य में मानसिक स्वतन्त्रता का होना नितान्त आवश्यक है।

विद्वानों का यह कथन सत्य है कि नम्रता से ही स्वतन्त्रता का जन्म हुआ करता है। कुछ लोग भ्रमवश अहकार को ही स्वतन्त्रता की जननी मान लिया करते हैं, जो पूर्णतः अनुचित है। स्वतन्त्रता के लिए अहकार आवश्यक है या नम्रता—हम इस पचड़े में न पड़कर इतना तो अवश्य ही मानते हैं कि आत्म-संस्कार अर्थात् आत्मा की शुद्धि के लिए मनुष्य मे मानसिक स्वतन्त्रता का होना आवश्यक है। मर्यादापूर्वक जीवन-यापन करने के लिए स्वतन्त्रता आवश्यक है और स्वतन्त्रता से ही आत्मनिर्भरता का विकास होता है।

युवावर्ग के लोग अपने मन में सोच-विचार तो बहुत करते है पर उनमें कार्य सम्पन्न करने की क्षमता नहीं होती है। उन्हें अपने बड़ो का सम्मान करना चाहिए तथा समान उम्र वालों एवं अपने से छोटों के साथ प्यार करना चाहिए। संसार की व्यापकता एवं अपनी छोटी दशा को देखकर मनुष्य को स्वतः ही नम्र होना चाहिए। परन्तु नम्रता का अर्थ दब्बूपन से नही है, क्योंकि दब्बूपन से तो मनुष्य बुद्धिहीन एवं पिछड़ा बन जाता है। मनुष्य की नैया उसी के हाथों में केन्द्रित है, चाहे वह अपने आपको उबार ले या फिर डूब जाये। सच्ची आत्मा अपना मार्ग स्वयं निर्मित कर लेती है।

अपने भविष्य का निर्माता मनुष्य स्वयं हुआ करता है। परन्तु इसका अभिप्राय यह नही है कि हम दूसरों की बातों पर ध्यान ही न दें, हमें दूसरों की बातें ध्यान से सुननी चाहिए पर उनका अन्तिम निर्णय हमें अपने विवेक से करना चाहिए। जो व्यक्ति जितना ऊँचा देखता है उतना ही ऊँचा वह जीवन में उठ जाता है, इसके विपरीत जो व्यक्ति सदैव नीची दृष्टि किये रहता है वह जीवन में कभी भी उन्नति के पथ पर आरूढ़ नही हो सकता है। अतः मनुष्य को जीवन में उन्नत बनने के लिए अपने लक्ष्य को सदैव ऊँचा रखना चाहिए।

इसके पश्चात् लेखक कुछ दृढ़ चित्त वाले महान् पुरुषों के उदाहरण देते हुए कहता है कि इन पुरुषों ने मरते दम तक भी अपने पथ को नहीं त्यागा। यही कारण है कि आज भी उनका नाम संसार में अमर है। इस प्रसंग में लेखक ने सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहा है

कि राजा हरिश्चन्द्र ने सत्य के लिए अनेकानेक मुसीबतों को झेला पर वे सत्य के मार्ग से विचलित नहीं हुए। उनकी तो यह दृढ प्रतिज्ञा थी—

चन्द्र टरै सूरज टरै, टरै जगत व्यवहार।
पै दृढ श्री हरिचन्द्र कौ, टरै न सत्य विचार॥

आत्मनिर्भरता एव महान् पुरुषों की उदाहरण शृखला मे लेखक ने दूसरा नाम महाराणा प्रताप का गिनाया है। महाराणा प्रताप ने अपने स्वाभिमान एवं देश की रक्षा हेतु अनेकानेक विपत्तियो को सहा। स्वयं जंगल की खाक छानते फिरे, बच्चे भूखो मरे। लेकिन वाह रे! वीर! अपने पथ से तू नही हटा। इसी प्रकार हकीकत राय नामक बालक ने भी नंगी तलवार को देखकर भयभीत न होकर अपना धर्म नही छोड़ा। गुरु गोविन्दसिंह के दोनो बच्चे जीवित अवस्था में दीवार मे चिन दिए गए। उन्होने मृत्यु को स्वीकार किया लेकिन अपने धर्म को नही छोड़ा। इसी प्रकार जब बलवाइयो ने रोमन राजनीतिज्ञ से पूछा कि तेरा किला कहाँ है?' रोमन राजनीतिज्ञ ने सहज भाव से ही अपने हृदय पर हाथ रखकर बता दिया कि यहाँ।

आगे लेखक बतलाता है हमें बात-बात में दूसरो की ओर नही ताकना चाहिए। जो मनुष्य प्रत्येक बात के लिए दूसरो का मुँह जोहा करते हैं, वे निश्चय ही जीवन में कभी उन्नति के शिखर को नही चूम सकते है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने जो कुछ भी प्रसिद्धि प्राप्त की है, इसके मूल में भी उनकी आत्मनिर्भरता ही थी। उसके विपरीत अपने मे आत्मनिर्भरता न रखने वाले केशव जैसे व्यक्ति भी उतनी प्रसिद्धि नही प्राप्त कर पाते हैं जितनी कि आत्मनिर्भरता रखने वाले व्यक्ति। अतः किसी विद्वान के इस कथन से हम पूर्णतः सहमत हैं कि—"प्रत्येक मनुष्य का भाग्य उसके हाथ मे है।"

जिन लोगो में आत्मनिर्भरता का गुण है, वे असम्भव कार्यों को भी सम्भव बना लेते है। इसी प्रेरणा के बल पर राम-लक्ष्मण ने लंका में विजय प्राप्त की, कृष्ण ने कंस एवं अन्य अत्याचारियों का वध किया। हनुमान ने सीता की खोज की, कोलम्बस ने अमेरिका को ढूंढ़ निकाला। इसी आत्मनिर्भरता के बल पर महाकवि सूरदास ने तत्कालीन शासक अकबर के निमन्त्रण को ठुकराते हुए कहा।

सतन कहा सीकरी सौ काम।

इसी भाव से मनुष्य कष्टों एवं विपत्तियो को भी सहर्ष सहन कर लिया

करता है, दरिद्र व्यक्ति धनवान, मूर्ख ज्ञानी तथा निकम्मा और आलसी व्यक्ति उद्यमी बन जाता है।

आत्मनिर्भर व्यक्ति विपत्तियों में कभी भी घबड़ाता नहीं है, वह तो सदैव यही कहता रहता है कि —"मैं राह ढूंढूंगा या निकालूंगा।" इसी गुण के द्वारा शिवाजी ने औरंगजेब के दांत खट्टे किए, एकलव्य ने भी इसी गुण के बल पर पत्थर की मूर्ति से धनुष चलाने की विद्या प्राप्त कर ली थी।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि आत्मनिर्भरता नामक गुण से ही व्यक्ति सामान्य धरातल को छोड़कर उच्च एवं महान् बन जाता है। आत्मनिर्भरता से जहाँ व्यक्ति स्वयं बड़ा बनता है, वहाँ वह दूसरों के लिए मार्ग प्रशस्त कर देता है। अंग्रेजी भाषा के प्रसिद्ध उपन्यासकार सर विलियम स्कॉट ने केवल उपन्यास लिख-लिख कर ही एक बड़े ऋण से मुक्ति पायी थी। निस्सन्देह आत्मनिर्भरता एक श्रेष्ठ गुण है। इसका हमें विकास करना चाहिए।

प्रश्न ५—महात्मा गांधी द्वारा लिखित 'भारतीय सभ्यता' पाठ का सारांश लिखिए।

उत्तर—'भारतीय सभ्यता' पाठ के लेखक हमारे राष्ट्रपिता श्री महात्मा गांधीजी हैं। वे कहते हैं कि भारत ने जिस सभ्यता का विकास किया है, वह अमर है। हमारे पूर्वजों ने सभ्यता के जो बीज बोये थे वे अनुपम हैं। संसार की अनेकानेक सभ्यताएँ बड़ी तीव्र गति से उठीं और फिर मिट्टी में मिल गयी उनमें ग्रीक, रोम, मिस्र जापान, चीन आदि की सभ्यताएँ आती हैं पर हमारे देश की वह प्राचीन सभ्यता भग्नावस्था में आज भी किसी न किसी रूप में पक्की नींव पर खड़ी है।

यूरोप के निवासी यह सोचते हैं कि ग्रीस और रोम की संस्कृतियाँ महान् थीं और जिनका अब कोई भी गौरव नहीं बचा है उनसे वे कुछ सीखने का प्रयत्न करते हैं पर जिन गलतियों का अनुसरण कर ये सभ्यताएँ स्वयं नष्ट हो चुकी हैं क्या वे इन यूरोपियनों का आज कोई हित कर सकेंगी ? लेकिन इनके सबके मध्य भारतीय सभ्यता आज भी अडिग रूप में टिकी हुई है।

हमने अपने आचार-विचार को बड़ी सावधानीपूर्वक कसौटियों पर कसकर बनाया है और जो मार्ग हमारे पूर्वजों ने दर्शाया है उसी पर चलने का हम गर्व करते हैं पर हमारे इस गुण को विदेशी लोग दोष मानते हैं और इस

आधार पर हमें असभ्य तथा अनजान बताते हैं। भारत अपने प्राचीन राह पर चलने में ही गौरव का अनुभव करता है, यही उसका सौन्दर्य है।

सभ्यता का अर्थ होता है 'सद्व्यवहार' सभ्यता का आचरण है जिसके द्वारा मनुष्य नैतिकता से अपना कर्त्तव्य पालन करता है और नैतिकता के पालन का आशय यह है कि हम अपने मन और भावनाओं पर पूर्ण नियन्त्रण रखें। यदि यह परिभाषा ठीक है तो भारत को सभ्यता सीखने के लिए कहीं भी जाने की आवश्यकता नहीं है। इसी बात को बहुत से अंग्रेज लेखकों ने कहा है। हमारे पूर्वजों ने इच्छाओं को नियन्त्रण में रखने के लिए इन्द्रिय परायणता की बात कही है जो वस्तुतः सही है। सुख का सम्बन्ध मानव की मानसिक स्थिति से होता है धन से नहीं। हम देखते हैं धनाभाव दुखी जीवन जीते हैं जबकि निर्धन सुखी जीवन। फलतः इसी आधार पर हमारे पूर्वजों ने धन एवं वैभव को त्याज्य बताया है।

हम में कुछ भी परिवर्तन नहीं आया है। हमारे खेतों में आज भी वही हल चलता है जो हजारों वर्ष पूर्व चलता था। हमारी झोपड़ियों एवं हमारी शिक्षा पद्धति सभी कुछ प्राचीन ही हैं। हम इसी प्राचीनता में आनन्द की अनुभूति करते हैं।

यह बात नहीं है कि हमारे देश में वैज्ञानिक नहीं है अपितु मुख्य बात तो यह है कि मशीनों के आविष्कार से जो एक प्रकार की गुलामी की गन्ध आती है उससे हमारे पूर्वज परहेज करते थे। संभवतः इसी आधार पर उन्होंने यह निश्चय किया कि हमें वही कार्य करना चाहिए जो हम अपने हाथ पैरों से कर सकें।

अपने हाथ पैरों से काम करने में हमारे पूर्वजों ने यह पाया कि इससे हमारा सुख और स्वास्थ्य दोनों ठीक रहते हैं। साथ ही उन्होंने यह भी सोचा कि मशीनों के अधिकाधिक प्रयोग से बड़े नगरों का विकास होगा और उनमें रहने वाले चोर ठगों के दल एवं वेश्याओं के दुर्गुणों में फँस जायेंगे साथ ही गरीबों का शोषण बिना वैज्ञानिक आविष्कार किये छोटे-छोटे गाँवों में ही रहना उचित समझा।

इसके साथ ही हमारे पूर्वजों ने राजाओं से बड़ा ऋषि-मुनियों एवं फकीरों को माना।

प्राचीन काल में हमारे यहाँ न्यायालय थे तथा वकील एवं डाक्टर भी थे पर ये सब गरीबों का शोषण न करके जनता की सेवा करते थे।

उस काल में खेती बाड़ी करते हुए लोग सच्चे घरेलू शासन का आनन्द लिया करते थे। भारत के जिन भू-भागों में आज भी अभिशप्त आधुनिक सभ्यता नहीं पहुँची है वहाँ के लोग खुशहाल हैं।

उपर्युक्त बातों को प्रस्तुत करने के पश्चात् गांधीजी कहते है कि आप समझ गए होंगे कि सच्ची सभ्यता किसे कहा जाता है और जो हमारी प्राचीन पद्धति को बदल डालने की बात कहते है वास्तव में वे देश के शत्रु एवं पापी हैं।

आगे लेखक कहता है कि भारतीय सभ्यता नैतिकता का प्रचार करती है जबकि पाश्चात्य सभ्यता अनैतिकता का। भारतीय सभ्यता का आधार ईश्वर को मानना है। अतः प्रत्येक भारत प्रेमी को अपनी प्राचीन सभ्यता से उसी तरह चिपके रहना चाहिए जिस प्रकार बच्चा माँ के स्तन से चिपका रहता है।

प्रश्न ६ - मुंशी प्रेमचन्द द्वारा लिखित 'आत्माराम' का सारांश लिखिए।

उत्तर – प्रेमचन्द ने इस कहानी में वेदोग्राम के महादेव नामक सुनार के जीवन की सुन्दर झाँकी प्रस्तुत की है। महादेव सुनार का परिवार बहुत बड़ा था और कमाने वाला अकेला वही था। फलतः परिवार में आए दिन क्लेश और अशान्ति मची रहती थी। अपने अशान्त जीवन से छुटकारा पाने के लिए उसने पिंजड़े में एक तोता पाल लिया था वह उसी के पास बैठकर 'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता' नामक मन्त्र का जाप करता हुआ आनन्द का अनुभव करता था। उसे यदि संसार में किसी से प्रेम था तो केवल उस तोते से ही।

एक दिन किसी व्यक्ति ने पिंजड़े का दरवाजा खोल दिया और तोता इधर-उधर उड़ता हुआ अन्त में एक जंगल में पहुँच जाता है। महादेव भी अपने हाथ में पिंजड़ा पकड़े हुए उसी के पीछे-पीछे भागता है।

इसी भाग-दौड़ में सूर्यास्त हो जाता है। तोता पेड़ की ऊँची डाल पर तथा महादेव पेड़ के नीचे पिंजड़ा लेकर उसी की प्रतीक्षा करता है। यदा कदा वह 'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता' नामक मन्त्र का जाप भी कर लिया

करता है। अचानक ही आधी रात के लगभग उसे कुछ दूरी पर दीपक के प्रकाश में बैठे हुए लोग दिखाई दिये। वे लोग तुलसी पी रहे थे। तमाकू की गन्ध सूँघकर महादेव में न रहा गया और वह लोगों की ओर भागा। लोग चोर थे और चोरी के धन का हिस्सा बाँट करने वहाँ बैठे हुए थे। महादेव को अपनी ओर आकर्षित होता हुआ देखकर वे उठकर भाग गये और जल्दबाजी में अशर्फियों से भरा हुआ एक मटका छोड़ गये। बेचारे महादेव को तमाकू पीने को न मिली परन्तु अशर्फियों से भरा मटका पाकर वह आनन्दित हो उठा। इसी बीच में लीला भी उसी जिस्टे में आकर बैठ जाता है। तोते और धन को पाकर महादेव फूला न समाया।

घर पर आकर उसने क्या कराई, सम्पूर्ण गाँव वालों को उसने भोज दिया और जाने-अनजाने में लिए हुए कर्ज को माफ करने की घोषणा की और रुपया माँगने वालों का एक महीने तक इन्तजार भी किया। जब एक महीने तक भी कोई भी रुपया लेने नहीं आया तो महादेव को ज्ञात हुआ कि यह संसार बुरे व्यक्तियों के लिए बुरा है, अच्छे व्यक्तियों के लिए अच्छा है।

महत्त्वपूर्ण स्थलों की व्याख्या

कर्त्तव्य और सत्यता

(डा० श्यामसुन्दर दास)

(१) धर्म पालन करने के .... योग्य हो जायेगा।
(पृष्ठ ७३-७४)

प्रसंग—प्रस्तुत गद्यांश हमारी पाठ्य-पुस्तक के 'कर्त्तव्य और सत्यता' नामक निबन्ध से लिया गया है। इसके रचयिता डा० श्यामसुन्दर दास हैं। लेखक का कथन है कि धर्म पालन करना प्रत्येक मनुष्य का परम कर्त्तव्य है। धर्म तथा कर्त्तव्य पालन के मार्ग में पड़ने वाली कठिनाइयों का यहाँ लेखक ने विवेचन किया है।

व्याख्या—लेखक कहता है कि धर्म के पालन करने में मनुष्य के सामने सबसे बड़ी बाधाएँ मन की चंचलता, उसकी दुर्बलता, उद्देश्य की अनिश्चितता, स्वार्थपरता, कायरपन, आलस्य एवं असत्यता आदि की आती हैं। अच्छे कार्यों को पूरा करने में सबसे बड़ी बाधा मन की अस्थिरता ही है। यदि

किसी का मन दुर्बल है तो वह कभी दृढ़ विश्वास को अपने मन में जाग्रत न कर पाएगा और बिना दृढ़ विश्वास के हम अपने लक्ष्य को पूरा न कर पायेंगे। इस दशा के प्रकट हो जाने पर वह न तो अपने धर्म का ही पालन कर पाएगा, और न कर्त्तव्य का ही और जिस व्यक्ति का मन चंचल है तो निश्चय ही उसका ध्येय भी अस्थिर ही होगा।

मनुष्य जिस क्षण अपने कर्त्तव्य पथ पर चलता है, उस समय उसकी आत्मा उसे अच्छे कर्मों को करने की प्रेरणा देती है, लेकिन दूसरी ओर उसका मन आलस्य और स्वार्थ को अधिक महत्त्व देने लग जाता है। अतः यदि हमें अपने कर्त्तव्य का नेक-नीयती से पालन करना है तो हमें निश्चय ही अपने स्वार्थ और आलस्य का त्याग करना होगा। मनुष्य को अपने कर्त्तव्य पालन के लिए दृढ़ होकर अपने कर्त्तव्य में जुट जाना चाहिए। मन की चंचलता और आलस्य को पूर्णतया त्याग देना चाहिए। जो व्यक्ति कर्त्तव्य से विमुख हो जाता है। वह व्यक्ति समाज में अनादर तथा अपमान को भोगता है।

(२) **संसार में जितने पाप हैं .... झूठ बोलें।**

(पृष्ठ ७५)

प्रसंग—प्रस्तुत गद्यांश 'कर्त्तव्य और सत्यता' नामक पाठ से लिया गया है। इसके लेखक डा० श्यामसुन्दरदास जी हैं। यहाँ पर लेखक ने कर्त्तव्य-पालन और सत्यता में घनिष्ठ सम्बन्ध बताते हुए सत्यता को ऊँचा स्थान दिया है।

व्याख्या—लेखक कहता है कि झूठ बोलने से संसार का काम नहीं चल सकता है। असत्य बोलने से बढ़कर संसार में कोई पाप नहीं है। झूठ की उत्पत्ति के मूल कारण पाप, दुष्टता और कायरता माने जाते है। बहुत से व्यक्ति ऐसे होते हैं जो बात-बात में स्वय तो झूठ बोलते ही है अपने सेवकों से भी झूठ बुलवाया करते हैं। लेकिन जब ऐसे व्यक्तियों के साथ स्वयं उनके नौकर झूठ बोला करते हैं तो वे अत्यधिक क्रुद्ध हुआ करते हैं। लेखक कहता है कि ऐसे मालिकों को अपने नौकर पर क्रोध करने का कोई अधिकार नहीं है, क्योंकि उन नौकरों को झूठ बुलवाने की आदत उन्हीं के द्वारा डाली गयी है।

विशेष—भाव मिलाइए।

साँच बराबर तप नहीं और झूठ बराबर पाप
जाके हृदय साँच है ताके हृदय आप॥

(३) बहुत से लोग .... प्रकार सम नहीं है।

प्रसंग प्रस्तुत पंक्तियाँ 'सत्यता और सरलता' नामक पाठ से ली गई हैं। इसके रचयिता डा० श्यामसुन्दर दास हैं। लेखक ने यहाँ झूठ की बुराई की है—

व्याख्या—लेखक कहता है कि संसार में कुछ ऐसे भी व्यक्ति होते हैं जो नीति विशेष कर राजनीति के अनुसार कभी-कभी झूठ बोलना भी आवश्यक मानते हैं। ऐसे लोगों का विचार है कि किसी बात को छिपा लेना अथवा सत्य बात के स्थान पर कोई दूसरी बात कह देना झूठ नहीं है अपितु इसे तो नीति एवं समय के अनुसार ही उचित ही मानते हैं। कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो बात सत्य कहते हैं पर उस सत्य बात को कहने का ढंग उनका इस प्रकार होता है कि श्रोता उसे झूठ ही समझता है और दूसरी बात सत्य मानता है। इस प्रकार घुमा-फिरा कर बात कहने वाले सदैव ही झूठ बोलने का पाप कमाया करते हैं। अतः हमें कभी भी और किसी भी रूप में झूठ नहीं बोलना चाहिए।

विशेष—लेखक झूठ न बोलने की सलाह पाठकों को देता है।

साहित्य की महत्ता

(आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी)

(४) ज्ञानराशि के संचित .... अवलम्बित रहती है। (पृष्ठ ८२)

प्रसंग प्रस्तुत गद्यांश आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी कृत 'साहित्य की महत्ता' नामक पाठ से लिया गया है। यहाँ लेखक ने बताया है कि किसी भी भाषा का महत्त्व उसके साहित्य से आँका जाता है।

व्याख्या 'साहित्य' क्या है, इसकी व्याख्या करते हुए लेखक कहता है कि ज्ञान देने वाले शब्द समूह को हम साहित्य कहा करते हैं। दूसरे शब्दों में, जिस शब्द-समूह से हमें कुछ ज्ञान हो उसे ही साहित्य कह सकते हैं। किसी भी भाषा की समृद्धि का प्रमाण उसमें रचा गया साहित्य माना जाता है। यदि कोई भाषा चाहे वह कितनी सक्षम एवं सब प्रकार से विचारों को व्यक्त करने ही वाली क्यों न हो और यदि उसमें उसका अपना साहित्य नहीं है तो निश्चय ही साहित्य-विहीन भाषा अन्य प्रकार के गुणों से युक्त होने पर भी वैसे ही आदर की अधिकारिणी नहीं हो सकती है, जैसे कि रूप-सम्पन्न

भिखारिणी। प्रत्येक भाषा की सम्पन्नता मान-मर्यादा तथा उसकी शोभा आदि सभी कुछ साहित्य पर ही अवलम्बित रहता है।

विशेष—बिना साहित्य के कोई भी भाषा सम्पन्न नहीं मानी जा सकती है।

(५) जिस जाति की .... न रह जाएगा।

(पृष्ठ ८२-८३)

प्रसंग—प्रस्तुत पंक्तियाँ 'साहित्य की महत्ता' नामक पाठ से ली गयी हैं। इसके रचयिता आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी हैं। लेखक कहता है कि किसी भी जाति की वास्तविक दशा का ज्ञान उसके साहित्य द्वारा ही सम्भव है।

व्याख्या—लेखक कहता है कि जिस जाति की सामाजिक दशा जैसी होती है उसका साहित्य भी वैसा ही हुआ करता है। जिस प्रकार दर्पण के सम्मुख खड़े होने पर देखने वाले की आकृति अपने वास्तविक रूप में दिखाई देने लगती है, उसी प्रकार किसी जाति के साहित्य के अध्ययन से भी उस जाति की वास्तविक दशा का हमें ज्ञान हो जाता है, उसकी उन्नत या अवनत दशा का पता चल जाता है। उसको अतीत और वर्तमान दशा का समुचित ज्ञान हो जाता है।

आगे लेखक मनुष्य के जीवन में साहित्य का महत्व बताते हुए कहता है कि जिस प्रकार शरीर को पुष्ट रखने के लिए भोजन आवश्यक है उसी प्रकार मस्तिष्क को पुष्ट रखने के लिए साहित्य आवश्यक है। जिस प्रकार पौष्टिक आहार न लेने पर शरीर दुर्बल होने लगता है और शनैः-शनैः एक दिन नाश को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार साहित्य के अभाव में हमारा मस्तिष्क दुर्बल होकर शनैः-शनैः किसी काम का नहीं रह जाता है। अतः मस्तिष्क को स्वस्थ बनाये रखने के लिए सत्साहित्य का अध्ययन आवश्यक है।

(६) बात यह है कि .... कर सकता है।

(पृष्ठ ८४-८५)

प्रसंग—प्रस्तुत गद्यावतरण 'साहित्य की महत्ता' नामक पाठ से अवतरित है। यहाँ आचार्य द्विवेदी कहते हैं कि मातृभाषा की उन्नति से ही जाति और राष्ट्र की उन्नति सम्भव है।

व्याख्या—लेखक कहता है कि किसी जाति या देश की उन्नति उसकी मातृभाषा की उन्नति पर ही अवलम्बित है। कोई व्यक्ति यदि विदेशी भाषा को

सीखता है, उसमें दक्षता प्राप्त करता है तो उसमें श्रेष्ठ साहित्य का सृजन तो कर सकता है, लेकिन ऐसा व्यक्ति अपनी जाति या देश की कोई भलाई नहीं करता है। विदेशी भाषा की उन्नति की ओर ध्यान देना वैसे ही है जैसे कोई व्यक्ति दूसरे की माता की सेवा में लगा रहता है। ऐसा व्यक्ति अपनी माता को असहाय एवं गरीब मानकर निश्चय ही कृतघ्नता का परिचय देता है। उसके द्वारा किया हुआ यह पाप अक्षम्य है। ऐसे पापी को क्या दण्ड मिलना चाहिए, इसका निर्णय तो समाज के लिए नियमो की रचना करने वाले मनु, याज्ञवल्क्य, आपस्तम्ब जैसे मानीषी ही कर सकते हैं। अतः प्रत्येक मनुष्य को अपनी मातृभाषा की उन्नति में जुट जाना चाहिए।

विशेष—भारतेन्दुजी ने भी अपनी मातृभाषा की उन्नति को ही सब प्रकार की उन्नति का समाधान माना था—

निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल।
पै निज भाषा ज्ञान बिन मिटै न हिय को सूल।

सच्ची वीरता

(अध्यापक पूर्णसिंह)

(७) सच्चे वीर पुरुष .... बजने लगती है।
(पृष्ठ १३०)

प्रसंग—प्रस्तुत गद्यांश हमारी पाठ्य-पुस्तक के 'सच्ची वीरता' नामक पाठ से लिया गया है। इसके रचयिता अध्यापक पूर्णसिंहजी हैं। यहाँ लेखक ने सच्चे वीर के गुणों पर प्रकाश डाला है।

व्याख्या—सरदार पूर्णसिंहजी कहते हैं कि सच्चे वीर पुरुषों के अन्दर धीरता, गम्भीरता एवं स्वतन्त्रता की भावना होती है। उनके मन की गम्भीरता एवं शान्ति की थाह या विशदता नापते हुए लेखक कहता है कि या तो वह समुद्र के समान विशद एव गहरी होती है या फिर आकाश के समान स्थिर एवं अडिग रहती है। दूसरे शब्दों में, हम कह सकते है कि उनकी वीरता सरलता से विचलित नही हो सकती। रामायणकालीन कुंभकरण (रावण के भाई) की प्रगाढ़ निद्रा को भी लेखक ने वीरता का चिन्ह माना है।

सच्चे वीर पुरुष सदा अपनी ही धुन में लगे रहते हैं। सांसारिक प्रलोभन और परिवर्तन भी उन्हें मार्ग से हटा नही सकते। सच्चे वीरो के हृदय में सत्व गुणों की प्रधानता होती है, वे सत्य गुण रूपी क्षीरसागर में डुबे रहते है।

संसार के अन्य पदार्थों का आकर्षण उन्हें अपनी ओर नही खींच सकता। ऐसे पुरुष अपने जीवन में सदैव ही परोपकार एवं परकल्याण में लगे रहते हैं। इन वीर पुरुषों में इतनी क्षमता होती है कि इशारे-इशारे में सम्पूर्ण दृश्य जगत् को हलचल में डाल देते हैं। जब शेर जैसा स्वभाव रखने वाले सच्चे वीर अपनी गर्जना करते हैं तो उनका प्रभाव सैकड़ों वर्षों तक लोगों को पथ दिखाया करता है। उनकी ध्वनि के आगे अन्य ध्वनियाँ शान्त पड़ जाती हैं। ऐसे ही सच्चे वीरों के हाथों अनेकानेक व्यक्तियों की प्राण रूपी सारंगी बजने लगती है। कहने का अर्थ यह है कि सच्चे वीरों से प्रेरणा पाकर ही साधारण व्यक्ति भी उसी मार्ग पर चलने लगते हैं।

(८) सत्व गुण के समुद्र में .... साधु पुरुष है।
(पृष्ठ १३०)

प्रसंग—प्रस्तुत गद्यांश हमारी पाठ्य-पुस्तक के 'सच्ची वीरता' नामक पाठ से लिया गया है। इसके लेखक अध्यापक पूर्णसिंहजी हैं। यहाँ पर लेखक ने बताया है कि जिसमें दैवी गुण होते हैं, वही सच्चा वीर होता है।

व्याख्या—लेखक कहता है कि सच्चे वीर या महात्मा की एकमात्र पहचान यह है कि उस व्यक्ति में सत्त्व गुण की सम्पन्नता होनी चाहिए। जिसमें सत्त्व गुण नहीं होते हैं वे कभी भी महान् या सच्चे वीर नहीं हो सकते हैं। सच्चे वीर सांसारिक तुच्छ जीवन को त्याग देते है और उसके स्थान पर दैवी जीवन प्राप्त कर लिया करते हैं। ऐसे पुरुषों का जीवन संसार के साधारण पुरुषों की तुलना में बहुत ऊँचा होता है। वे महामानव होते हैं। ऐसे सच्चे वीरों का स्वागत करने के लिए प्रकृति स्वयं आगे आती है, वह उनके माथे पर राजतिलक लगाती है। आकाश स्वयं धूप से रक्षा करने के लिए उनके ऊपर बादलों के छाते लगा देता है। वास्तव में ये ही सच्चे वीर हैं, ये ही लोगों के हृदय पर राज्य करने वाले राजा हैं।

(९) ऐसे दैवी वीर .... बड़ा बना देते हैं।
(पृष्ठ १३२)

प्रसंग—यह गद्यांश हमारी पाठ्य-पुस्तक के 'सच्ची वीरता' नामक पाठ से लिया गया है। इसके लेखक अध्यापक पूर्णसिंहजी हैं। यहाँ पूर्णसिंहजी ने यह बताया है कि सच्चे वीर किसी क्षण की प्रतीक्षा नहीं करते हैं, बल्कि अपने कार्यों द्वारा वे छोटे अवसरों को भी महान् बना देते हैं।

व्याख्या—लेखक कहता है कि सच्चे वीर धन-दौलत का दान नहीं करते हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि मे धन का दान तो बाहरी दिखावा है। मनुष्य के दान की सबसे ऊँची कसौटी उसका शरीर होता है। सच्चे वीर अवसर आने पर शरीर दान में भी पीछे नहीं हटते। भगवान् बुद्ध सच्चे वीर थे। एक बार, जब उन्होने एक राजा को मृग मारते देखा तो मृग की रक्षा के लिए वे स्वयं राजा के तीर के आगे आ गए। उनका उद्देश्य था कि चाहे मेरा शरीर चला जाए पर मृग का वध न होने पाए। इस प्रकार जो सच्चे वीर होते हैं वे किसी बड़े अवसर की प्रतीक्षा नही करते हैं, बल्कि छोटे अवसरो को ही अपने कार्यो से महान् बना देते हैं।

आत्मनिर्भरता

(आचार्य रामचन्द्र शुक्ल)

(१०) विद्वानों का यह कथन .... उत्पन्न हो।
(पृष्ठ १३७)

प्रसंग—प्रस्तुत गद्यांश हमारी पाठ्य-पुस्तक के 'आत्मनिर्भरता' नामक पाठ से लिया गया है। यहाँ लेखक बताता है कि मानव की आत्मा की शुद्धि के लिए उसमें थोड़ी बहुत स्वतन्त्रता अवश्य होनी चाहिए।

व्याख्या—लेखक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कहते है कि विद्वानों के इस मत से मैं सहमत हूँ कि स्वतन्त्रता का जन्म नम्रता से ही होता है, अहंकार से नहीं। जो लोग स्वतन्त्रता का जन्म अहंकार प्रवृत्ति से मानते हैं वे भ्रम मे डूबे हुए है। यह अहकार प्रकृति उनकी माता न होकर सौतेली माता है जो उनका सर्वनाश कर डालती है। कहने का अर्थ यह है कि लोग अहंकार भावना से काम करते हैं वे एक दिन नाश को प्राप्त हो जाते हैं। लेखक कहता है कि मैंने जो यह बात कही है कि स्वतन्त्रता का जन्म नम्रता से होता है, अहंकार से नहीं चाहे यह सम्बन्ध ठीक हो या गलत पर इस बात को सभी लोग एक मत से स्वीकार करते हैं कि आत्मा की शुद्धि के लिए मनुष्य में थोड़ी बहुत स्वतन्त्रता का होना अनिवार्य है। बिना स्वतन्त्रता के आत्मा की पूर्ण शुद्धि नहीं हो सकती है।

(११) नम्रता से मेरा अभिप्राय .... आप निकलती हैं।
(पृष्ठ १३६-१४०)

प्रसंग—प्रस्तुत गद्यांश हमारी पाठ्य-पुस्तक के 'आत्म-निर्भरता' नामक

शैलियाँ

प्रश्न १—निम्नलिखित लेखकों में से किसी एक का संक्षिप्त परिचय देते हुए उसकी साहित्य-सेवा एवं भाषा-शैली पर प्रकाश डालिए—

डा० श्यामसुन्दर दास, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, बाबू गुलाबराय, सरदार पूर्णसिंह और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।

(१) डा० श्यामसुन्दरदास

जीवन-परिचय—बाबू श्यामसुन्दरदास का जन्म सं० १९३२ में काशी में एक खत्री परिवार में हुआ था। आपके पिता का नाम देवदास था। प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त करके आपने बी० ए० किया। बी० ए० पास करने के पश्चात् वे हिन्दू स्कूल में अध्यापक हो गए। फिर मालवीय जी के अनुरोध पर काशी विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष हो गए। जीवन-भर वे साहित्य सेवा में जुटे रहे। उन्होंने विश्वविद्यालय की उच्च कक्षाओं के लिए हिन्दी में पुस्तकें लिखीं। सरस्वती पत्रिका का सम्पादन भी किया। आपकी हिन्दी साहित्य की सेवाओं से प्रसन्न होकर काशी विश्वविद्यालय ने आपको डी० लिट् की उपाधि प्रदान की। हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने आपको 'साहित्य वाचस्पति' की उपाधि से विभूषित किया और अंग्रेजी सरकार ने 'रायबहादुर' तथा 'राय साहब' उपाधियाँ दीं। संवत् २००२ में आपका स्वर्गवास हो गया।

रचनाएँ—आपकी रचनाओं को तीन भागों में बाँटा जा सकता है—१. मौलिक, २. सम्पादित, ३. निबन्ध साहित्य।

(१) **मौलिक रचनाएँ**—आपने मौलिक रचनाएँ लिखकर हिन्दी साहित्य के भण्डार को खूब भरा है। आपकी मौलिक रचानाओं में हिन्दी कोविदमाला, भाषा-विज्ञान, साहित्यालोचन, हिन्दी भाषा का विकास, हिन्दी भाषा और साहित्य तथा रूपक आदि पुस्तकें है।

(२) **सम्पादित रचनाएँ**—इसमें आपने चन्द्रावली, पृथ्वीराज रासो, कबीर

ग्रन्थावली, सतसई सप्तक, भारतेन्दु नाटकावली, हिन्दी शब्द सागर, नागरी प्रचारिणी पत्रिका आदि प्रमुख हैं।

(३) निबन्ध साहित्य—आपने अनेक विषयों पर मौलिक निबन्ध भी लिखे हैं। आपके प्रसिद्ध निबन्ध ये हैं— कर्त्तव्य और मन्यता, भारतीय नाट्यशास्त्र, नागरी जाति और नागरी लिपि की उत्पत्ति, सुन्दरदास, रामो शब्द आदि।

भाषा-शैली—आपने चूंकि गम्भीर रचनाओं को लिखा है अतः आपकी भाषा-शैली गूढ और गम्भीर है। उसमें हास-परिहास का कोई स्थान नहीं। आपकी भाषा निबन्धों के अनुरूप शुद्ध साहित्यिक है। उसमें अधिकतर तत्सम शब्दों का ही प्रयोग किया गया है। उर्दू-फारसी के शब्दों का प्रायः कम ही प्रयोग किया गया है और जिन उर्दू के शब्दों का प्रयोग भी किया है, उन्हें हिन्दी प्रवृत्ति के अनुसार ढाल लिया है। ग्रामीण रूप में जो नीचे नुक्ते लगते हैं उनका उन्होंने लोप कर दिया है। उनकी भाषा शुद्ध साहित्यिक होते हुए भी क्लिष्ट नहीं है। मुहावरों और कहावतों का प्रयोग नहीं के बराबर हुआ है। उन्होंने खड़ी बोली को अपनाया है।

शैली की दृष्टि से आपने व्यास शैली का प्रयोग किया है गम्भीर विषयों के विवेचन में इस प्रकार की शैली का प्रयोग आवश्यक होता है।

(२) आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी

जीवन परिचय—हिन्दी भाषा के प्रमुख आचार्य पं० महावीर द्विवेदी का जन्म सवत् १९२१ में रायबरेली जिले के दौलतपुर नामक ग्राम में हुआ था। प्रारम्भिक शिक्षा घर एवं एक गाँव के स्कूल में हुई। तत्पश्चात् रायबरेली, फतेहपुर, उन्नाव आदि स्थानों पर शिक्षा प्राप्त कर तार का काम सीखने बम्बई चले गए और थोड़े ही दिनों पश्चात् वहाँ तार बाबू बनकर अपनी जीविका चलाने लगे। ज्ञान की प्यास आप में प्रारम्भ से ही बहुत थी। अतः आपने धीरे-धीरे बगला, गुजराती, मराठी एवं संस्कृत आदि भाषाओं का ज्ञान प्राप्त कर लिया और यदा-कदा आप हिन्दी तथा संस्कृत में कविता करने लगे। बाद में आपकी एक अधिकारी से कहासुनी हो जाने पर आपने सरकारी तार-घर की नौकरी छोड़ दी और सन् १९०३ में 'सरस्वती' मासिक पत्रिका के सम्पादक के रूप में आप पूरी तरह साहित्य-सेवा में जुट गए।

द्विवेदीजी से पूर्व भारतेन्दु काल में हिन्दी गद्य का खूब प्रचार और प्रसार तो हो चुका था परन्तु भाषा में शुद्धता और स्थिरता नहीं थी। व्याकरण के

नियमों और विराम-चिह्नों का कोई प्रयोग नहीं जानता था अतः सबसे पहला कार्य जो आपने किया, वह था हिन्दी भाषा के शुद्ध रूप को लोगों को बताना साथ ही व्याकरण के नियमों एवं विराम-चिन्हों आदि का प्रयोग करना। सरस्वती पत्रिका में स्वयं लेख लिखकर आपने हिन्दी भाषा के परिष्कार एवं परिमार्जन की ओर साहित्यकारों का ध्यान आकर्षित किया। इस प्रकार हिन्दी भाषा को शुद्ध एवं स्थिर बनाने में आपका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

निबन्धकार के अतिरिक्त द्विवेदीजी श्रेष्ठ कवि एवं समालोचक भी थे। समालोचना के क्षेत्र में तो आप हिन्दी के प्रथम समालोचक थे। कविता आप खड़ी बोली में तथा इतिवृत्तात्मक रूप में ही लिखा करते थे, जिसके कारण उनमें सरसता का अभाव है।

रचनायें—आपकी रचनाओं में दो प्रकार के ग्रन्थ हैं— मौलिक और अनूदित। अनूदित ग्रन्थों की संख्या मौलिक ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक है। कुछ रचनायें इस प्रकार हैं—

काव्य मंजूषा, कविता कलाप, हिन्दी भाषा की उत्पत्ति, सम्पत्ति शास्त्र, साहित्य सन्दर्भ साहित्य सीकर, रसज्ञ रंजन, सुकवि संकीर्तन आदि प्रमुख रचनाएँ हैं।

भाषा—द्विवेदीजी ने अपने ग्रन्थों में संरस एवं जनसाधारण में प्रचलित भाषा का ही प्रयोग किया है। साथ ही, आपने तत्कालीन हिन्दी में प्रचलित संस्कृत, अरबी, फारसी, उर्दू आदि की भाषाओं के शब्दों का प्रयोग तो खुल कर किया है, परन्तु उन्हें हिन्दी की प्रकृति के अनुसार ही मोड़कर प्रयोग किया है। आपकी भाषा परिष्कृत एवं पूर्ण शुद्ध है कविता के क्षेत्र में आपने संस्कृतनिष्ठ हिन्दी भाषा का प्रयोग किया है। विषय के अनुसार भाषा का प्रयोग करने में आप पूर्ण दक्ष थे।

शैली—आपके द्वारा लिखे गए निबन्धों में तीन प्रकार की शैलियाँ अपनायी गयी हैं—

१. **परिचयात्मक**, २. **आलोचनात्मक और** ३. **गवेषणात्मक**।

(१) **परिचयात्मक शैली**—यह शैली सरल व सुबोध है। इसमें आपने नवीन प्रकार के विषयों पर लेखनी चलाकर हिन्दी साहित्य को समृद्ध किया है। यथा सम्पत्तिशास्त्र आदि।

(२) **आलोचनात्मक शैली**—इस प्रकार की शैली में आपने तर्कपूर्ण मत

देते हुए अपने पक्ष को प्रस्तुत किया है। इस प्रकार की शैली में भाषा गम्भीर एवं संयत है।

(३) गवेषणात्मक शैली—गम्भीर विषयों के विवेचन में आपने इस शैली को अपनाया है। इस प्रकार के लेखों में जहाँ किसी बात को आप विद्वानों को समझाना या बताना चाहते हैं, वहाँ तो आपने संस्कृतनिष्ठ भाषा में लम्बे-लम्बे वाक्यों का प्रयोग किया है और जहाँ आप किसी बात को जनसाधारण को समझाना चाहते हैं तो वहाँ आपके वाक्य छोटे और भाषा सरल तथा सुबोध होती है।

(३) बाबू गुलाबराय

जीवन-परिचय—बाबूजी का जन्म सन् १९४४ में इटावा नगर में हुआ था। पर आपका बाल्यकाल एवं शिक्षा-दीक्षा मैनपुरी में हुई। आपके पिता श्री भगवती प्रसाद अत्यन्त धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे और आपकी माता कृष्ण भक्त थीं। फलतः गुलाबरायजी पर बाल्यावस्था में ही धार्मिक संस्कारों का अधिक प्रभाव पड़ा था। आगरा कॉलेज से आपने बी० ए० परीक्षा तथा सेण्ट जॉन्स कालेज आगरा से एल-एल० बी० की भी परीक्षा पास की थी।

अध्ययन समाप्त करके आप महाराजा छतरपुर के निजी सेक्रेटरी हो गये। वहाँ उन्नति करते-करते आप चीफ जज हो गये थे। छतरपुर के महाराज की मृत्यु के पश्चात् आप आगरा चले आए। यहाँ वे सेण्ट जॉन्स कालिज में हिन्दी के आंशिक अध्यापक नियुक्त हो गए। आपने यहाँ रहकर 'साहित्य संदेश' नामक पत्रिका का सम्पादन किया। आपकी साहित्य सेवाओं के उपलक्ष्य में आगरा विश्वविद्यालय ने आपको डी. लिट्. की उपाधि से विभूषित किया। १४ अप्रैल सन् १९६३ को ७६ वर्ष की आयु में आपका स्वर्गवास हो गया।

रचनायें—आपने हिन्दी साहित्य की अनेक प्रकार से सेवा की है। आपकी कृतियाँ तीन प्रकार की हैं—

(१) आलोचनात्मक—काव्य के रूप, साहित्य समीक्षा, हिन्दी काव्य विमर्श सिद्धान्त और अध्ययन, हिन्दी नाट्य विमर्श।

(२) दर्शन शास्त्र विषयक रचनायें—तर्कशास्त्र, शान्तिधर्म, कर्त्तव्यशास्त्र, फिर निराशा क्यों ?

(३) निबन्ध साहित्य—मेरी असफलताएँ, ठलुआ क्लब, कुछ उथले कुछ गहरे, मेरे निबन्ध, जीवन और जगत्।

निबन्ध रचना के क्षेत्र में बाबूजी अत्यधिक सफल रहे हैं। आपने अपने निबन्धों में मनोविज्ञान, संस्कृति, दर्शन, इतिहास आदि को आधार बनाया है। कुछ निबन्ध आपने आत्माभिव्यंजक रूप में भी लिखे हैं; यथा—अक्ल बड़ी कि भैंस, जय उलूकराज आदि। आपके निबन्धों में भारतेन्दु युगीन, द्विवेदी युगीन एवं परवर्ती काल के निबन्धों की सभी प्रवृत्तियाँ देखने को मिल जाती हैं।

भाषा-शैली—बाबूजी ने अपनी रचनाओं में शुद्ध साहित्यिक एव व्यावहारिक भाषा का प्रयोग किया है। भाषा में प्रवाह तथा जिन्दादिली लाने के लिए आपने यत्र-तत्र उर्दू फारसी के शब्दों का भी प्रयोग किया था। यही कारण है कि आपके दार्शनिक निबन्ध भी नीरस न होकर सरस हैं। संस्कृत के पूर्ण पण्डित होते हुए भी उनकी रचनाओं में पाडित्य प्रदर्शन की कहीं भी बू नहीं है।

विषय प्रतिपादन की शैली बड़ी रोचक है। वे किसी बात को कहते समय न तो लम्बी-चौड़ी भूमिका बाँधते हैं और न अपनी बात को घुमा-फिराकर कहते हैं। वे तो प्रत्येक बात को सीधे-सीधे ढंग से व्यक्त कर देना चाहते हैं। गागर में सागर भरना अर्थात् थोड़े में बहुत कहना उन्हें खूब रुचता है, साथ ही विषय का व्यर्थ विस्तार उन्हें रुचिकर नहीं लगता है। उनके विषय प्रतिपादन में कहीं भी अस्पष्टता नही है। निबन्ध का विषय चाहे साधारण हो या गम्भीर पर शैली का रूप सर्वत्र एक-सा पाया जाता है। उनके कथन में विदग्धता रहती है, अपनी बात को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए इन्होंने कहावतों, मुहावरों एवं बीच-बीच में अंग्रेजी संस्कृत आदि के उद्धरणों का भी खूब प्रयोग किया है—

आपने अपने निबन्धों में तीन शैलियों का प्रयोग किया है—

१. भावात्मक, २. विचारात्मक, और ३. व्यक्तित्वव्यंजक।

भावात्मक शैली के निबन्ध आपने बहुत कम लिखे हैं। राष्ट्रीय भावनाओं से सम्बन्धित निबन्धों में इसी शैली का प्रयोग मिलता है। आपके अधिकांश निबन्ध विचारात्मक शैली में लिखे गये हैं। इस शैली में लिखे गए निबन्धों की भाषा गम्भीर, संयत और परिष्कृत होती है। इसमें प्रयुक्त वाक्य, बड़े-बड़े एवं शब्द तत्सम प्रधान होते हैं। व्यक्तित्वव्यंजक शैली का प्रयोग आपने आत्माभिव्यंजक निबन्धों में किया है। यह शैली बड़ी ही विदग्ध और

चमत्कारपूर्ण। इस प्रकार की शैली में भाषा का लाक्षणिक सौन्दर्य तथा हास्य व्यंग्य की फुहारें देखने को मिल जाती हैं।

(४) सरदार पूर्णसिंह

जीवन-परिचय—सरदार पूर्णसिंहजी का जन्म संवत् १९३८ में सीमाप्रांत के एबटाबाद जिले के एक गाँव में हुआ। आपके पिताजी एक साधारण राज कर्मचारी थे। आपकी प्रारम्भिक शिक्षा रावलपिण्डी के एक स्कूल में हुई। इसके पश्चात् हाईस्कूल लाहौर में रहकर पास किया। जब बी० ए० के छात्र थे तभी इन्हें रसायनशास्त्र में जापान जाकर उच्च अध्ययन करने के लिए एक सरकारी छात्रवृत्ति मिल गई। जापान में रहते हुए एक दिन उनकी भेंट स्वामी रामतीर्थ से हो गई। रामतीर्थ से प्रभावित होने के कारण सरदारजी साधु बनकर भारत में लौट आये। पर बाद में विवाहित होकर वे ग्रहस्थ बनकर रहने लगे। फिर आप देहरादून के इम्पीरियल फारेस्ट इंस्टीट्यूट में एक उच्च पद पर नियुक्त हो गये। यहीं पर एक सिक्ख संन्यासी से भेंट होने पर इन्होने सिक्ख धर्म स्वीकार कर लिया। कुछ समय बाद उन्होंने स्वयं कृषि करना आरम्भ कर दिया। जीवन के अन्तिम दिन बड़े कष्टमय बीते। संवत् १९८८ में आपका शरीरान्त हो गया।

रचनाएँ—सरदार पूर्णसिंहजी ने केवल छह निबन्ध लिखे हैं जो इस प्रकार हैं—१. कन्यादान, २. पवित्रता, ३. आचरण की सभ्यता, ४. मजदूरी और प्रेम, ५. सच्ची वीरता, ६. अमेरिका का मस्त जोगी वाल्टव्हिटमैन।

जिस प्रकार गुलेरीजी ने केवल तीन कहानी लिखकर हिन्दी साहित्य में अपना आसन जमा दिया था, उसी प्रकार सरदार पूर्णसिंहजी ने केवल छह निबन्धों के द्वारा हिन्दी साहित्य में अपना स्थान जमा लिया था।

भाषा-शैली—सरदार पूर्णसिंहजी बड़े ही सहृदय एवं भावुक साहित्यकार थे। उन्हें भारतीय संस्कृति में पूर्ण विश्वास रहा है। उनकी इस प्रवृत्ति का चित्रण उनके निबन्धों में सरलता से देखा जा सकता है। भावों को मूर्तरूप प्रदान करने की उनमें अनुपम क्षमता थी। इन निबन्धों में लेखक के व्यक्तित्व की छाप सरलता से देखी जा सकती है। उनके निबन्ध प्रौढ़ एवं परिष्कृत भाषा में लिखे गये हैं। अधिकतर उन्होंने संस्कृत के तत्सम शब्दों का ही प्रयोग किया है पर भावानुकूल यत्र-तत्र उर्दू, फारसी एवं अंग्रेजी के शब्दों

का भी प्रयोग किया है। सत्यता तो यह है कि उनकी भाषा भावों का अनुसरण करने वाली है।

शैली की दृष्टि से आपने समास एवं व्यास दोनों ही शैलियों को अपनाया है। कहीं-कहीं आपने व्यंग्यात्मक शैली का भी प्रयोग किया है। आपके द्वारा प्रयुक्त शैली सम्पूर्ण रूप से भावात्मक, वर्णनात्मक और विचारात्मक शैली का समन्वित रूप है। भावात्मक शैली में भाषा की रवानगी एवं प्रवाह समाया हुआ है। उनकी भाषा मे सर्वत्र स्निग्धता एवं सरलता दृष्टिगोचर होती है।

(५) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

जीवन-परिचय—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का जन्म संवत् १९४१ मे बस्ती जिले के अगोना नामक ग्राम में हुआ था। आपके पिता पं० चन्द्रावलीजी कानूनगो थे। शुक्लजी की प्रारम्भिक शिक्षा हमीरपुर जिले के राठी नामक ग्राम में हुई। आपके पिताजी उर्दू एवं अंग्रेजी के भक्त थे फलतः बालक रामचन्द्र को आठवीं कक्षा तक न चाहते हुए भी उर्दू फारसी पढ़नी पड़ी। उनका झुकाव प्रारम्भ से ही हिन्दी की ओर था अतः वे पिता की इच्छा के विरुद्ध भी हिन्दी कक्षा में जाकर पढ़ने लगे। अध्ययन समाप्त करने के पश्चात् आप २० रु० मासिक पर एक अंग्रेजी दफ्तर में नौकरी करने लगे लेकिन नौकरी में उनका मन अधिक दिनों तक नहीं लगा। वहाँ से नौकरी छोड़कर वे मिर्जापुर के मिशन स्कूल में २०) महीने पर ड्राइंग के अध्यापक हो गये। इसी बीच उनकी साहित्यिक प्रतिभा भी प्रकाश में आने लगी। उनके लिखे हुए निबन्ध सरस्वती नामक पत्रिका में छपने लगे। धीरे-धीरे उनकी ख्याति हिन्दी जगत् में होने लगी। उन्होंने कहानी, नाटक, निबन्ध, आलोचना आदि अनेक साहित्यिक विधाओं पर लेखनी चलाई। आपकी साहित्यिक प्रतिभा से प्रभावित होकर काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने उन्हें हिन्दी शब्द सागर के सह-सम्पादक का गुरुत्तर कार्य सौंपा जिसका उन्होंने योग्यता से संचालन किया। कुछ समय बाद बाबू श्यामसुन्दर दास के अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् शुक्लजी ही काशी विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष नियुक्त हुए सं० १९९७ में आपका स्वर्गवास हो गया।

रचनायें—शुक्लजी की रचनाओं को हम तीन भागों में विभक्त कर सकते है—

१. आलोचना और निबन्ध साहित्य, २. इतिहास, और ३. काव्यग्रन्थ।

(१) आलोचना और निबन्ध साहित्य--आलोचना के क्षेत्र में आपने तुलसी, सूर और जायसी पर बड़ी ही योग्यता से शोधपूर्ण आलोचनाएँ लिखी हैं। अन्य ग्रन्थों में रस मीमांसा, काव्य में रहस्यवाद आदि प्रमुख हैं।

आलोचक के अतिरिक्त शुक्लजी श्रेष्ठ निबन्धकार भी थे। आपके निबन्धों का संकलन चिन्तामणि भाग १ तथा भाग २ के नाम से प्रकाशित हुआ है।

(२) इतिहास—आपने हिन्दी साहित्य का बड़ा ही अध्ययनपूर्ण इतिहास लिखा है। आज भी आपके द्वारा लिखा गया इतिहास आधारभूत सामग्री का कार्य करता है।

(३) काव्य-ग्रन्थ—आपने काव्य-ग्रन्थों के रूप में दो ग्रन्थों का प्रणयन किया है जो बुद्धचरित और अभिमन्यु के नाम से प्रसिद्ध हैं।

भाषा-शैली—भाषा की दृष्टि से शुक्लजी ने विशुद्ध एवं साहित्यिक खड़ी बोली को अपनाया है। उन्होंने अपने निबन्धों में विषयानुकूल एवं भावानुकूल भाषा का प्रयोग किया है। आपका शब्द चयन पूर्ण, संयत एवं गठीला है। कहीं भी व्यर्थ के शब्दों की भरमार नहीं है। उन्होंने जो कुछ भी लिखा है वह नपी-तुली भाषा में लिखा है। उनके शब्द उनके भावों के प्रतिनिधि तथा उनके वाक्य उनके विचारों के प्रतीक हैं। भावों के उतार-चढ़ाव के साथ उनकी भाषा में भी उतार-चढ़ाव देखने को मिल जाता है।

शैली ही मनुष्य का व्यक्तित्व है, यह कथन शुक्लजी पर पूरी तरह घटित होता है। इसका अर्थ यह है कि लेखक की जैसी प्रवृत्ति होगी, उसकी रचना शैली भी वैसी ही होगी। शुक्लजी हृदय से कवि थे, मस्तिष्क से आलोचक और कर्म से अध्यापक। इन तीनों रूपों में उनका आलोचक रूप ही प्रधान था। शुक्लजी की शैली समास प्रधान है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि उन्होंने गागर में सागर भरा है। कहावतों और मुहावरों के प्रयोग से उन्होंने भाषा-शैली में चार चाँद लगा दिये हैं। कहीं-कहीं उन्होंने सूत्रात्मक शैली का प्रयोग दिया है। यथा—

वैर, क्रोध का अचार या मुरब्बा है।

आपकी शैलियाँ निम्नलिखित प्रकार की हैं—

१. विवेचनात्मक शैली, २. वर्णनात्मक शैली, ३. भावात्मक शैली, ४. व्यंग्यात्मक शैली।

(१) **विवेचनात्मक शैली**—यह आपकी प्रतिनिधि शैली है। आपके गम्भीर विचारों का प्रतिफलन इसी शैली में हुआ है। इस शैली में आपने संस्कृत गर्भित भाषा का प्रयोग किया है, वाक्य छोटे-छोटे और संयत हैं। इस शैली में मस्तिष्क का अधिक योग है और हृदय की भावुकता कम है।

(२) **वर्णनात्मक शैली**—स्थूल विषयों के चित्र या वृत्त कथन में शुक्ल जी ने वर्णनात्मक शैली का प्रयोग किया है। इस शैली में विषय का सीधा-सादा प्रतिपादन है। उनमें किसी प्रकार की साहित्यिकता और जटिलता नहीं है। भाषा सरल एवं व्यावहारिक है।

(३) **भावात्मक शैली**—यह शैली मधुर और सरस है। इसमें हृदय की भावुकता अधिक पाई जाती है। अतः इसमें कविता जैसा आनन्द प्राप्त होता है।

(४) **हास्य व्यंग्यात्मक शैली**—इस शैली का भी शुक्लजी ने खूब प्रयोग किया है। इस प्रकार की शैली में शुक्लजी के व्यक्तित्व की विनोदप्रियता खूब निखरी है। इस शैली के माध्यम से गम्भीर से गम्भीर विषय भी रोचक एवं मर्मस्पर्शी बन गया है।

नूतन कहानी-संग्रह

प्रश्न १—हिन्दी के कहानी साहित्य के इतिहास पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—कहानी का जन्म मानव सभ्यता के जन्म से जुड़ा हुआ है, अर्थात् आदि कहानी तभी प्रारम्भ हो गई होगी, जबकि मानव में कुछ बोलने और समझने की शक्ति आयी होगी। लिखित में कहानी वेदों, उपनिषदों, महाभारत, बौद्ध जातकों, पंचतंत्र, हितोपदेश आदि में देखने को मिल जाती है परन्तु कहानी के वर्तमान रूप मे उन पौराणिक एवं धार्मिक कहानियों का रूप भिन्न था। वर्तमान कहानी की उम्र पचास वर्ष से अधिक नही है। पौराणिक एवं धार्मिक ग्रन्थों में संकलित कहानियां शिक्षाप्रद एवं उपदेशात्मक हुआ करती थी परन्तु वर्तमान युग की कहानियों का लक्ष्य पात्रो के चरित्र का उद्घाटन करना तथा समस्याओ को प्रस्तुत करना होता है।

वर्तमान कहानी का प्रारम्भ कुछ विद्वान इंशाअल्लाखां की 'रानी केतकी की कहानी' से मानते हैं। परन्तु कहानी के तत्त्वों का पूर्ण निर्वाह न होने के कारण हम इसे हिन्दी की प्रथम कहानी नही मान सकते हैं। कहानी के तत्त्वो की दृष्टि से कहानी का जन्म सन् १९०० के आस-पास माना जाना चाहिए। इस युग में 'सरस्वती' नामक मासिक पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ था। इसके सम्पादक आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी थे। 'सरस्वती' पत्रिका में प्रायः बंगला कहानियों का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हुआ करता था। इस वर्ष हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी के रूप में किशोरीलाल गोस्वामी द्वारा रचित 'इन्दुमती' नामक कहानी 'सरस्वती' पत्रिका मे प्रकाशित हुई थी इसके तीन वर्ष पश्चात् पं० रामचन्द्र शुक्ल की कहानी 'ग्यारह वर्ष का समय' प्रकाशित हुई और इसके बाद सन् १९०७ में बंग महिला की 'दुलाई वाली' कहानी प्रकाशित हुई थी।

मौलिक कहानियो को खूब लिखा जाने लगा था और जयशंकर प्रसाद के इस क्षेत्र मे प्रवेश करते ही कहानी कला की आशातीत[illegible] शैली, [illegible]। प्रसादजी ने भी स्वयं एक पत्रिका का सम्पादन आरम्भ किया [illegible] 'इन्दु' थी

और इसी पत्रिका में उनकी 'ग्राम' नामक कहानी सन् १९११ मे प्रकाशित हुई थी। प्रसादजी के साथ ही अन्य कहानीकार भी इस क्षेत्र मे आए और कहानी-लेखन के द्वारा साहित्य की सेवा मे डटे रहे। विशम्भरनाथ जिज्जा आदि का नाम इसी क्रम में आता है। हास्यरस के सम्राट जी० पी० श्रीवास्तव ने अपनी हास्यरस पूर्ण कहानियों में निरन्तर हिन्दी की सेवा करने का व्रत ले लिया था। इस युग के कहानीकारों में विशम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', राधिकारमणप्रसाद सिंह, ज्वालादत्त शर्मा और चतुरसेन शास्त्री आदि का नाम भी प्रमुख रहा है जिन्होंने विविध प्रकार की कहानियों की रचना करके हिन्दी के कहानी साहित्य की निरन्तर अभिवृद्धि की है।

हिन्दी साहित्य में सन् १९१५ के आस-पास एक ऐसे कहानीकार ने हिन्दी कहानी के क्षेत्र में प्रवेश किया जिसने अपनी एक कहानी के आधार पर ही हिन्दी में अनुपम स्थान बना लिया था। इनका नाम था श्री चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी', और इनकी कहानी का नाम था 'उसने कहा था'। इसके पश्चात् तो हिन्दी कहानी के क्षेत्र में एक क्रान्तिकारी व्यक्तित्व का उदय हुआ, जिनका नाम था प्रेमचन्द। आपने छोटी-बड़ी सभी मिलाकर लगभग तीन-सौ-कहानियाँ लिखी हैं। कहानी साहित्य के तो प्रेमचन्दजी सम्राट माने जाते हैं। सन् १९२० से 'सुदर्शन' ने भी कहानियाँ लिखना प्रारम्भ कर दिया था। अब तक जितनी भी कहानियाँ लिखी गयी वे अधिकांशत: आदर्शवादी या आदर्श और यथार्थ का मिला-जुला रूप लिए हुए होती थी।

परन्तु युग ने करवट बदली और कहानी के क्षेत्र में भी यथार्थवादी कहानियों की रचना की जाने लगी। इस प्रकार की कहानियाँ लिखने वालों में बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', गोविन्द वल्लभ पन्त, रायकृष्णदास, बेचन शर्मा 'उग्र' तथा भगवती प्रसाद वाजपेयी आदि के नाम प्रमुख हैं।

वर्तमान युग में कहानियों की टेकनीक आदि में भी परिवर्तन हुए हैं और लगभग सभी विषयों पर कहानियाँ लिखी जा रही हैं। जनसाधारण से सम्बन्ध रखने वाली कहानियों को अधिक स्थान दिया जा रहा है। इस क्षेत्र के कहानीकारों में—यशपाल, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, कमलेश्वर, उपेन्द्रनाथ अश्क, इलाचन्द्र जोशी, नागार्जुन, राजेन्द्र यादव, डा० रांगेय राघव आदि के नाम प्रमुख हैं। इनमें से अधिकांश कहानीकारों ने अपनी कहानियों में मनोविज्ञान, रोमांस एवं काम भावना को भी स्थान दिया है।

इस काल मे कुछ महिलाएँ भी कहानी क्षेत्र में आगे आयी हैं जिसमें मन्नू भंडारी, कमल चौधरी, शिवानी आदि के नाम प्रमुख हैं।

नयी कहानी पत्रिकाओं का भी प्रकाशन प्रारम्भ हो गया है जिनमें 'कहानी,' 'सारिका', 'नई कहानियाँ' आदि पत्रिकाएं प्रमुख हैं। वैसे 'साप्ताहिक धर्मयुग', 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' आदि में भी समय-समय पर अनेक प्रकार की कहानियाँ प्रकाशित होती रहती हैं।

संक्षेप मे, हम कह सकते हैं कि कहानी का भविष्य बहुत ही उज्ज्वल है।

बड़े घर की बेटी

(प्रेमचन्द)

प्रश्न—मुंशी प्रेमचन्द द्वारा रचित 'बड़े घर की बेटी' कहानी का सार अपने शब्दों में लिखिए।

अथवा

सिद्ध कीजिए कि मुंशी प्रेमचन्द के 'बड़े घर की बेटी' कहानी में आनन्दी ने एक उच्च कुल की नारी का आदर्श प्रस्तुत किया है।

उत्तर— बड़े घर की बेटी' मुंशी प्रेमचन्द की सर्वश्रेष्ठ कहानी है। इसमें आपने पारिवारिक जीवन की वास्तविक समस्या को प्रस्तुत कर अन्त में उसका सम्मान जनक हल भी प्रस्तुत कर दिया है। इस प्रकार यह एक यथार्थ की भूमिका पर प्रतिष्ठित आदर्शवादी कहानी है। इस कहानी के माध्यम से प्रेमचन्दजी ने पारिवारिक जीवन की सुख शान्ति के लिए एक आदर्श एवं पवित्र सन्देश दिया है।

'बड़े घर की बेटी' कहानी मध्यम श्रेणी के गृहस्थ जीवन की एक ऐसी घटना पर आधारित है जो हमारे हिन्दू परिवारों में नित्य प्रति घटती रहती है।

गौरीपुर गाँव के जमींदार बेनीमाधव सिंह थे। आप एक प्रतिष्ठित एवं पुराने रईस थे पर समय के फेर से अब वे बातें ही रह गयी थीं। जिस दरवाजे पर हाथी झूमते रहते थे अब वहाँ केवल एक बूढ़ी भैंस ही बँधी है। बेनीमाधव सिंह के दो पुत्र थे—बड़े का नाम श्रीकंठसिंह और छोटे का लाल बिहारी। श्रीकंठसिंह ने येन केन प्रकारेण बी० ए० की डिग्री प्राप्त कर ली थी और एक दफ्तर में नौकर हो गये थे पर लाल बिहारी निरक्षर ही रह गया था। दोनों के स्वास्थ्य मे विरोधाभास था। जहाँ श्रीकंठसिंह पतले दुबले एवं

सदैव बीमार दीखते थे वहाँ लाल बिहारी एक हृष्ट पुष्ट युवक था जो नित्य दो सेर ताजा दूध पीता था।

पड़ोस के गाँव में ही एक रियासत के ताल्लुकेदार, भूपसिंह रहते थे। वे रहीस थे और पूरी शान-शौकत से रहते थे। दुर्भाग्य से उनके एक के बाद एक सात कन्याएँ हुईं और पुत्र एक भी नहीं। तीन कन्याओं की शादी तो उन्होंने खूब धूमधाम से की पर जब चौथी कन्या आनन्दी सिर पर आई तो उन्हें उसके लिए भी वर की चिन्ता हुई। संयोग से वेनीमाधवसिंह के ज्येष्ठ पुत्र श्रीकंठसिंह से उन्होंने अपनी कन्या का विवाह कर दिया। आनन्दी अपने नये घर में आई तो यहाँ का रंग ढंग देखकर वह बड़ी असमंजस में पड़ गयी। जिस टीमटाम की उसे बचपन से अपने घर में आदत पड़ी हुई थी उसके यहाँ दर्शन तक न थे। हाथी घोड़ों का तो कहना ही क्या यहाँ कोई सुन्दर बग्घी तक नहीं थी। पर आनन्दी ने थोड़े ही दिनों में अपने को इस नयी अवस्था के अनुकूल ढाल लिया था।

एक दिन आनन्दी का देवर लाल बिहारीसिंह दो चिड़िया मारकर लाया और अपनी भावज आनन्दी से कहने लगा—'जल्दी से पका दो! बड़ी भूख लगी है।' आनन्दी जब माँस पकाने बैठी तो घर में घी एक पाव से अधिक न था उसने वह सारा घी माँस में डाल दिया। इसके पश्चात् जब लालबिहारीसिंह भोजन करने बैठा तो उसे दाल में घी न मिला। दाल में घी न देखकर लालबिहारीसिंह ने इसका कारण पूछा तो बेचारी आनन्दी ने वास्तविक बात बता दी कि घर में कुल पाव भर घी था सो उसने सब घी माँस पकाने में लगा दिया अब मैं दाल में कहाँ से डालूँ?

लालबिहारी को यह बात बुरी लग गई और वह अपनी भावज से तिरस्कार की भाषा बोल गया "मैके में तो जैसे घी की नदी बहती है।" आनन्दी मैके की निन्दा सुनकर आग बबूला हो गयी और उसने क्रोध में लालबिहारी से कह दिया "वहाँ इतना घी नित्य नाई कहार खा जाते हैं।" भावज का यह कथन लालबिहारीसिंह को चुभ गया। बात यहाँ तक बढ़ गई कि लालबिहारीसिंह ने अपनी खड़ाऊ उठाकर आनन्दी को दे मारी। आनन्दी ने उसे हाथ से रोका अतः सिर तो बच गया पर अंगुली में चोट आ गई। फिर आनन्दी क्रोध के मारे घर के अन्दर चली गयी।

यह घटना बृहस्पतिवार की थी। श्रीकंठसिंह दफ्तर में काम करने जाते

थे और शहर मे प्रत्येक शनिवार की शाम को घर आते थे। दो दिन तक आनन्दी कोप भवन मे लेटी रही उसने न कुछ खाया और न पिया। जब श्रीकंठसिंह शनिवार को शहर से अपने गाँव आये तो उन्हें सब कहानी ज्ञात हुई। लालबिहारी के इस कृत्य पर उन्हें भी क्रोध आया और उन्होने अपने पिता से जाकर कह दिया कि अब मेरा इस घर में गुजारा न होगा। वेनीमाधवसिंह अपने पुत्र के इस निर्णय मे आश्चर्य चकित रह गये। पर श्रीकंठसिंह अपने निर्णय पर अडे रहे वे अपने छोटे भाई लालबिहारीसिंह का मुँह भी देखना नही चाहते थे। हारकर पिता ने भी कह दिया कि जैसा उचित समझो वैसा करो।

लालबिहारीसिंह अपने बड़े भाई का बड़ा आदर करता था। वास्तव में उसे अपने किये पर पश्चाताप था। वह समझता था कि उसकी प्रथम गलती के लिए भैया उसे क्षमा कर देंगे। पर श्रीकंठसिंह का हठ देखकर वह ग्लानि से गलने लगा। भावज के पास जाकर उसने अपने कृत्य के लिए क्षमा माँगी और स्वयं घर छोड़कर जाने लगा। देवर के इस पश्चाताप को देखकर आनन्दी का क्रोध भी शान्त हो गया था। वह कुलीन घर की बेटी थी अतः वह नही चाहती थी कि दोनों सगे भाइयो में विछोह हो जाये। लालबिहारीसिंह जब घर छोड़कर जाने लगा तो आनन्दी ने आगे बढकर उसे रोक लिया और इस प्रकार आनन्दी ने अपनी उदारता एवं महानता से परिवार का विघटन रोक लिया। निश्चय ही बडे घर की बेटियाँ अपने मान सम्मान से अधिक अपने कुल खानदान का मान सम्मान समझती हैं अतः उसकी रक्षा हेतु वे अपना बलिदान तक कर देती हैं। आनन्दी निश्चय ही ऐसी ही कुलीन एव बड़े घर की बेटी थी जिसने अपने परिवार की बिगडती बात को अपनी उदारता एवं महानता से बचा लिया। जब भावज ने लालबिहारीसिंह को रोक लिया तो भाई श्रीकंठसिंह ने भी उसे अपने गले से लगा लिया। संक्षेप में यही कहानी का सार है।

प्रश्न—'बड़े घर की बेटी' कहानी की कहानी के तत्त्वों के आधार पर समीक्षा कीजिए।

उत्तर—उपन्यास-सम्राट मुंशी प्रेमचन्द की 'बड़े घर की बेटी' कहानी एक आदर्शवादी कलाकृति है। यह उनकी सर्वोत्तम कहानियो में से एक है। पारिवारिक सुख-शान्ति के सम्बन्ध में एक पवित्र सदेश से प्रेरित होने के कारण कहानी और भी अधिक महत्त्वपूर्ण बन गई है।

कथासार—'बड़े घर की बेटी' कहानी मध्यम श्रेणी के गृहस्थ जीवन की एक ऐसी घटना पर आधारित है जो हमारे सामने सामाजिक जीवन में प्रायः घटती रहती है। आनन्दी बड़े घर की बेटी है। उसके पिता एक छोटी सी रियासत के तालुकेदार थे। प्रतिष्ठित तालुकेदारों के योग्य सभी सामान उनके यहाँ थे। उन्होंने कन्या का विवाह श्रीकंठ से कर दिया। श्रीकंठ गौरीपुर गाँव के जमींदार और नम्बरदार बेनीमाधव सिंह के बड़े बेटे थे और बी० ए० की डिग्री लेकर नगर में एक दफ्तर में नौकर थे। उनके छोटे भाई लालबिहारी सिंह सजीले जवान थे। बड़े भाई का वे विशेष आदर करते थे।

एक दिन लालबिहारी सिंह दो चिड़ियाँ लिये हुए आये और भावज आनंदी से कहा—'जल्दी से पका दो। बड़ी भूख लगी है।' आनंदी मांस बनाने बैठी तो घी पाव भर से अधिक न था। उसने वह सारा घी मांस में डाल दिया। लालबिहारी सिंह जब भोजन करने बैठा तो दाल में घी न था। लालबिहारी सिंह ने कारण पूछा तो आनंदी ने ठीक-ठीक बता दिया कि कुल पाव भर घी था, सारा मांस में डाल दिया। लालबिहारी को बुरा लगा। तुनक कर बोला—"मैके में तो जैसे घी की नदी बहती है।" मैके की बुराई से आनंदी भी क्रुद्ध हो उठी। उसने कह दिया—'वहाँ इतना घी नित्य नाई कहार खा जाते हैं।' लालबिहारी सिंह को बात बुरी लगना स्वाभाविक था। झगड़ा बढ़ गया। लालबिहारी सिंह ने खड़ाऊ उठाकर आनंदी की ओर जोर से फेंकी आनन्दी ने उसे हाथ से रोका, सिर बच गया, पर अँगुली में कड़ी चोट आई आनंदी क्रोध के मारे अन्दर चली गई।

यह घटना बृहस्पतिवार को हुई। श्रीकंठ शहर से शनिवार तक ही आते थे। आनंदी दो दिन तक कोपभवन में ही रही, न कुछ खाया, न पिया। श्रीकंठ के आने पर सारा वृत्तान्त पता चला। उन्हें भी क्रोध आ गया और उन्होंने पिता से कहा कि मेरा अब इस घर में गुजारा न होगा। बेनीमाधव सिंह को ऐसी आशा न थी। पर श्रीकंठ सिंह अड़ गये थे। वे लालबिहारी का मुँह भी नहीं देखना चाहते थे। पिता क्या करते। उन्होंने कह दिया जैसा उचित समझो करो।

लालबिहारी सिंह भाई का आदर करता था। वास्तव में उसे अपने किये पर पश्चाताप था। वह समझता था कि भैया क्षमा कर देंगे। पर श्रीकंठ का आग्रह देखकर वह ग्लानि से गल गया। भावज के पास जाकर उसने क्षमा

माँगी और घर से जाने लगा। अब आनन्दी का क्रोध भी शान्त हो गया था। दो भाइयों का बिछोह वह कैसे देखती। वह बड़े घर की बेटी थी। उसने लाल-बिहारी को रोक लिया और इस प्रकार बिगड़ती बात बनाली। बड़े घर की बेटियाँ इसी प्रकार अपमान सहकर भी कुल मर्यादा की रक्षा करती हैं। श्रीकंठ सिंह ने भाई को गले लगा लिया।

'बड़े घर की बेटी' कहानी की तात्त्विक आलोचना

कथावस्तु विश्लेषण—'बड़े घर की बेटी' कहानी की कथावस्तु संक्षिप्त है परन्तु उसका विकास स्वाभाविक और सुन्दर ढंग पड़ा है। कहानी के प्रारम्भ में एक भूमिका सी है। इसमें प्रेमचन्द ने कहानी के पात्रों का सामान्य परिचय दिया है। जिससे कहानी की पृष्ठभूमि तैयार हो जाती है। आगे आनन्दी और देवर लालबिहारी सिंह के झगड़े से कहानी का वास्तविक विकास प्रारम्भ होता है। मध्य में जब श्रीकंठ सिंह क्रोध में अलग हो जाने की बात करते हैं और लालबिहारी सिंह घर छोड़कर जाने के लिए उद्यत हो जाता है, तब कहानी में चर्मोत्कर्ष की स्थिति आती है। अन्त में आनन्दी देवर को रोककर कथा का स्वाभाविक दमन करती है।

कथावस्तु के कुछ आवश्यक गुण होते हैं। ये हैं– संक्षिप्तता, रोचकता, मौलिकता और एकान्विति। 'बड़े घर की बेटी' कहानी संक्षिप्त है। वह रोचक और मौलिक भी है। इसमें पारिवारिक जीवन की एक मर्मस्पर्शी घटना को चुना गया है।

एकान्विति का अर्थ यह है कि सम्पूर्ण कथा एक सूत्र में इस प्रकार बँधी होनी चाहिए कि उसमें शिथिलता न हो और साथ ही कथा एक केन्द्र बिन्दु की ओर उन्मुख रहे। 'बड़े घर की बेटी' में यह एकान्विति भी पाई जाती है। सारी कथा अन्तिम लक्ष्य की ओर उन्मुख है और उसमें कहीं भी शिथिलता नहीं है।

पात्र चरित्र-चित्रण—कहानी के तत्वों में यह दूसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। 'बड़े घर की बेटी' कहानी में इसका सम्यक् निर्वाह हुआ है। इस कथा में मुख्य पात्र केवल चार हैं—श्रीकंठ सिंह, आनन्दी, लालबिहारी सिंह और पिता वेनीमाधव सिंह, इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आनन्दी है। वही बड़े घर की बेटी है। वह सुन्दर, बुद्धिमती और स्वाभिमानी पत्नी है और बड़े घर की मर्यादा के अनुकूल उसमें शील और सौम्यता की प्रधानता है। श्रीकंठ सिंह

बुद्धिमान हैं और गाँव में दूसरों की समस्याओं को सुलझाने में भी उनका हाथ रहता है। लालविहारी सिंह के चरित्र में युवकोचित उद्धतता है, पर वह शीलगुण सम्पन्न और सद्विचारी युवक है। भाई का वह आदर करता है। उसके चरित्र की यह विशेषता उसे और सुन्दर बनाती है।

संवाद-सौष्ठव—'बड़े घर की बेटी' कहानी में संवाद संक्षिप्त, रोचक, सार्थक और चरित्र-चित्रण पर प्रकाश डालने वाले हैं। उनमें प्रसंगानुकूल सुरीलापन तथा सारगर्भित होने का भी गुण है। सभी पात्रों के संवादों में गम्भीरता तथा उसके चरित्र के गुण मिलते हैं। एक उदाहरण दृष्टव्य है—

"जब एकान्त हुआ। तब लालविहारी ने कहा—"भैया, आप जरा घर में समझा दीजिएगा कि मुँह संभालकर बातचीत किया करे। नहीं तो एक दिन अनर्थ हो जायेगा।"

बेनीमाधव ने बेटे की ओर से साक्षी दी—"हाँ, बहू-बेटियों का यह स्वभाव अच्छा नहीं, कि पुरुषों के मुँह लगें।"

लालविहारी—"वह बड़े घर की बेटी है तो हम लोग भी कोई कुर्मी कहार नहीं हैं।"

देशकाल और वातावरण—कहानी में देशकाल या वातावरण के तत्व से हमारा आशय कथा के अनुकूल वातावरण तथा उसके स्थान तथा समय के अनुकूल परिस्थितियों की योजना से होता है। 'बड़े घर की बेटी' कहानी में पारिवारिक तथा ग्रामीण वातावरण की सृष्टि सुन्दर बन पड़ी है। बेनीमाधव सिंह का परिवार जमींदारों के उपयुक्त है तथा गाँव में लोग उनका आदर करते हैं। शनिवार को श्रीकंठ सिंह के आने पर पंचायत सी लग जाती है। गाँव की स्त्रियों के ईर्ष्यालु स्वभाव तथा तद्विषयक वातावरण की भी अच्छी झाँकी यहाँ मिल जाती है। लोगों की आदत होती है दूसरों के झगड़ों में रस लेने की। इसका सुन्दर परिचय इस कहानी मे मिलता है। सामाजिक वातावरण की मिलन सारता भी यहाँ है।

भाषा-शैली—कहानी की भाषा-शैली, सरल, प्रवाहपूर्ण तथा रोचक होनी चाहिए। मुंशी प्रेमचन्द जी को इस सम्बन्ध में विशेष दक्षता प्राप्त है। वे अपनी कहानियों में बड़ी सरल और प्रवाहपूर्ण भाषा का प्रयोग करते हैं। 'बड़े घर की बेटी' कहानी में भाषा भी सरल है। संवाद तथा कथा-

वर्णन दोनों में ही प्रेमचन्द ने इसी प्रकार की भाषा का प्रयोग किया है। एक उदाहरण दृष्टव्य है—

आनन्दी—"कहाँ जाते हो ?"

लालबिहारी—'जहाँ कोई मेरा मुँह न देखे।'

आनन्दी—'मैं न जाने दूँगी।'

लालबिहारी - 'मैं तुम लोगों के पास रहने योग्य नहीं हूँ।"

इस प्रकार कहानी की भाषा सरल तथा रोचक है।

उद्देश्य—प्रस्तुत कहानी सोद्देश्य है। प्रेमचन्दजी ने स्वयं कहानी के अन्त में इस उद्देश्य को स्पष्ट कर दिया है। वे कहते हैं—'गाँव में जिसने यह वृत्तान्त सुना, उसीने इन शब्दों में आनन्दी की उदारता को सराहा—'बड़े घर की बेटियाँ ऐसी ही होती हैं।' वास्तव में सौजन्य सम्पन्न उदार पत्नियाँ ही समाज को ठीक प्रकार से सुसंगठित बना सकती हैं। विशेषकर संयुक्त परिवारों का विघटन तभी रुक सकता है जब घर की वधू-बेटियाँ सुसंस्कृत हों। कहानी का उद्देश्य यही बताता है कि किस प्रकार आनन्दी ने श्रीकंठ सिंह के घर की मर्यादा की रक्षा करनी, बिगड़ता काम बना लिया, उसी प्रकार उच्चकुलों की आदर्श महिलायें कष्ट सह कर भी, अपमानित होकर भी मर्यादा नष्ट नहीं होने देतीं। यही इस कहानी का चरम संदेश है।

पुरस्कार

(जयशंकर प्रसाद)

प्रश्न—कहानीकार की दृष्टि से जयशंकर प्रसाद द्वारा रचित 'पुरस्कार' कहानी की आलोचना कीजिए।

उत्तर—प्रस्तुत कहानी में कहानीकार ने आनमान, मर्यादा, कुल गौरव और प्रेम के मध्य संघर्ष का चित्रण करते हुए अन्त में आन ही की विजय दिखाई है।

कहानी के निम्नलिखित तत्त्व होते हैं—

(१) कथानक या कथावस्तु (२) कथोपकथन, (३) पात्र एवं चरित्र-चित्रण, (४) भाषा-शैली (५) औत्सुक्य, (६) शीर्षक, और (७) उद्देश्य।

कथोपकथन—कथोपकथन की दृष्टि से कहानी पूर्ण सफल है। प्रसादजी के संवाद अत्यन्त मार्मिक, सजीव और मनोवैज्ञानिक होते हैं। अनुकूल वातावरण उपस्थित करने तथा पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डालने में प्रसाद के पात्रों

के कथोपकथन अत्यन्त प्रभावकारी हैं। मधूलिका के इस कथन में उसकी स्वाभिमानता झलकती है—'देव यह मेरी पितृ-पितामह की भूमि है। इसे बेचना अपराध है। इसलिए मूल्य स्वीकार करना मेरी सामर्थ्य के बाहर है।"

राजकुमार अरुण के कथन उसके प्रेमी हृदय की झाँकी प्रस्तुत करने वाले हैं। मधूलिका को देखकर वह कह सकता है—"मेरा हृदय उस छवि का भक्त बन गया है, देवि।"

इसी प्रकार आगे के संवादों में मधूलिका की आन, मर्यादा की स्पष्ट झाँकी उसके चरित्र में उस समय देखने को मिलती है जब वह राजकुमार अरुण के प्रेम के समक्ष देश-प्रेम को उच्च समझती है और श्रावस्ती के आक्रमण की सूचना कौशल नरेश को देती है।

इस प्रकार पात्रों के चरित्र-चित्रण में लेखक ने पूर्ण सफलता प्राप्त की है।

पात्र एवं चरित्र-चित्रण—मुख्य पात्रों में मधूलिका और अरुण ही आते हैं। अन्य पात्रों में कौशल के राजा, सेनापति आदि पात्र आते हैं। पात्रों के परस्पर वार्तालाप द्वारा अथवा दूसरों की धारणाओं द्वारा ही उनकी चारित्रिक विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है। मधूलिका कौशल के भूतपूर्व स्वर्गीय सेनापति सिंहमित्र की पुत्री है। अरुण मगध का एक निर्वासित युवराज है। जब दोनों एक-दूसरे के समीप आते है तो दोनों में स्नेह भाव जाग्रत हो जाता है। अरुण कौशल के भाग को हथियाना चाहता है वहाँ मधूलिका इसे नीच कृत्य समझ कर इसकी सूचना तत्क्षण ही राज दरबार में पहुँचा देती है और थोड़ी देर पश्चात् अरुण बन्दी बना लिया जाता है। कहने का तात्पर्य यह है मधूलिका में देश-प्रेम की भावना कूट-कूट कर भरी हुई है, वहाँ अरुण में प्रबल महत्त्वाकांक्षा है।

भाषा-शैली—प्रसादजी भारतीय संस्कृति के पहरुए हैं। अतः संस्कृति की रक्षा के लिए इन्होंने संस्कृतनिष्ठ तत्सम शब्दावली का ही प्रयोग अपनी कृतियों में अधिकतम किया है। कहीं पर भी उर्दू, फारसी के शब्दों का प्रयोग नहीं किया गया है। भाषा पर उनका पूर्ण अधिकार है। भाषा उनके भावों की अनुगामिनी बनकर आई है। प्रसंगानुकूल और पात्रानुकूल भाषा के प्रयोग में वह बहुत दक्ष हैं। एक उदाहरण दृष्टव्य है—

"श्रावस्ती का दुर्ग एक पहर में दस्युओं से हस्तगत हो जाएगा। दक्षिणी नाले के पार उनका आक्रमण होगा।"

सेनापति चौंक उठे। उन्होंने आश्चर्य से पूछा, "तू क्या कह रही है ?"

"मैं सत्य कह रही हूँ, शीघ्रता कीजिए।"

औत्सुक्य—उत्सुकता कहानी का प्रधान गुण माना जाता है। जिस कहानी में यह तत्व नहीं होता है वह कहानी बोझ-सी लगती है। औत्सुक्य गुण होने पर पाठक शीघ्रता से कहानी को पढ़ता चला जाता है। इस कहानी में भी उत्सुकता आदि से अन्त तक बनी रहती है और कहानी के अन्त में पाठक चमत्कृत हो उठता है।

शीर्षक—कहानी का शीर्षक 'पुरस्कार' उपयुक्त है। मधूलिका के द्वारा रहस्य का भंडाफोड़ किए जाने के पश्चात् ही राजकुमार अरुण को बन्दी बना लिया जाता है और उसे प्राण-दण्ड सुनाया जाता है। इसी समय श्रावस्ती की रक्षा करने में मधूलिका की भूमिका की सराहना की जाती है और उसमें मनचाहा पुरस्कार माँगने की बात कही जाती है और मधूलिका भी अपने लिए प्राणदण्ड की याचना करके पाठकों को अत्यधिक चमत्कृत कर डालती है।

उद्देश्य—प्रत्येक कार्य का कोई न कोई उद्देश्य अवश्य ही होता है। प्रस्तुत कहानी का उद्देश्य देश के लिए प्रेम का भी बलिदान बताया गया है जिसके चित्रण में कहानीकार को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है।

समग्र रूप में हम कह सकते हैं कि कहानी कला के तत्वों के आधार पर 'पुरस्कार' एक सफल कहानी है।

चित्र का शीर्षक

(यशपाल)

प्रश्न—यशपाल द्वारा रचित 'चित्र का शीर्षक' कहानी का सार अपने शब्दों में लिखिए।

उत्तर—प्रस्तुत कहानी में यशपाल ने जयराज नामक चित्रकार की मनोदशाओं का बड़ा ही भावभीना चित्र प्रस्तुत किया है। वस्तुतः यह कहानी मनोविज्ञान की भूमि पर लिखी गयी है। इसमें लेखक की कल्पना शक्ति का भी सुन्दर अंकन हुआ है।

प्रस्तुत कहानी का कथानक इस प्रकार है। जयराज जाना माना चित्रकार था। वह अपने चित्रों को सुन्दर रूप में अंकित करने के लिए समय-समय पर पहाड़ों पर घूमने जाया करता था और वहाँ की प्राकृतिक सुषमा को अपने चित्रों में अंकित किया करता था। अप्रैल के आरम्भ में वह रानी-

खेत इसी अभिप्राय से आया था। उसने विविध प्रकार के चित्र बनाये थे। कुछ चित्र तो प्रकृति के थे तो कुछ खेतों में काम करते हुए पहाड़ी स्त्री-पुरुषों के थे। इतना सब कुछ करने पर भी उसे अपनी कला के प्रति सन्तोष नहीं मिल रहा था। वह अपने बरामदे में बैठा हुआ प्रकृति के विविध सुन्दर रूपों का दर्शन कर रहा था। इसी समय उसने अपने कल्याण लोक में एक सुन्दर युवती को पर्वतों पर चढ़ते हुए देखा। इस कल्पना से उसका मन तैरने लगा तभी उसे अपने एक मित्र सोमनाथ का इलाहाबाद में पत्र प्राप्त होता है। सोमनाथ एडवोकेट था और जयराज की इस चित्रकारी की कला पर वह मुग्ध था। सोमनाथ की एक पत्नी थी। नीता प्रायः बीमार रहा करती थी अतः सोमनाथ ने डाक्टरों के परामर्श पर पहाड़ पर भेजना निश्चित किया तथा इसी सन्दर्भ में उसने अपने मित्र जयराज को पत्र लिख दिया। इस पत्र को पढ़कर जयराज पुनः कल्पना लोक में विचरण करने लगा और उसने प्रकृति की गोद को निहारते हुए यह अनुभव किया कि उसके समीप ही कुर्सी डालकर नीता बैठी हुई है। समीप बैठी युवती नारी की कल्पना जयराज को दूध के फेन के समान श्वेत, स्फटिक के समान उज्जवल, पहाड़ की बरफानी चोटी से कहीं अधिक स्पन्दन उत्पन्न करने वाली जान पड़ी। युवती के केशों और शरीर से आती अस्पष्ट सी सुवास, वायु के झोंकों के साथ घाटियों से आती सेवती और सिरीश के फूलों की मीठी गन्ध से अधिक सन्तोष दे रही थी। वह कल्पना लोक में और गहरा उतरा और उसने कल्पना की कि वह कैनवेश के सामने खड़ा चित्र बना रहा है। नीता एक कमरे से निकल कर नौकर को बुला रही है। उस आवाज से उसके हृदय का सांय-सांय करता सूनापन सन्तोष से बस गया है।

फिर जयराज ने अपने विवेक को स्थिर किया और अपने मित्र को पत्र का उत्तर लिख दिया जिसमें यह आश्वासन दिया गया कि वह अपनी पत्नी को जब चाहे यहाँ छोड़ जावें यहाँ कोई असुविधा नहीं होगी। पहुँचने की सूचना दें ताकि मैं मोटर स्टैण्ड पर मिल सकूँ। फिर जयराज कल्पना लोक में विचरण करने लगा उसने नीता को अपने कल्पना जगत में भिन्न-भिन्न साड़ियों, पोशाकों में लताओं के कुंज में तथा देवदार वृक्षों की छाया में देखा।

निश्चित तिथि पर नीता अकेली ही मोटर स्टैण्ड पर पहुँच जाती है

और जयराज उसे लेकर अपने घर पहुँच गया। नीता ने जयराज की माँ को देखकर जयराज को डाँटना एवं शालीनता अनुभव होने लगी। मन में उसने आह ! ओह ! ने जयराज के जीवन को और अधिक कष्टमय बना दिया। उसे शरीर के रोम-रोम में एक कराहट सुनाई दे रही थी। जयराज वहाँ से दूर भाग जाना चाह रहा था। वह इस वातावरण से छुटकारा पाना चाहता था छुटकारे के लिए उसका मन वैसे ही तड़प रहा था जैसे पिंजरे के हाथ में फँस गई चिड़िया फड़फड़ाती है। इस संकट से मुक्ति पाने हेतु उसने एक उपाय सोच लिया और उसी के अनुसार उसने सोमनाथ को एक तार दे दिया कि मैं अपनी बीमार माँ को देखने के लिए बनारस जा रहा हूँ अतः रानीखेत शीघ्र आ जाओ। सोमनाथ ने रानीखेत पहुँचकर जयराज की माँ की कुशल क्षेम जानने हेतु पत्र डाला। पत्रोत्तर में जयराज ने रानीखेत न लौटने का अपना निश्चय बता दिया। इसके पश्चात् जीवन की विफलता एवं दीनता के आलम में अपने मन को शान्ति देने हेतु जयराज ने कश्मीर, पुरी एवं केरल आदि स्थानों की यात्राएँ की। जीवन के संघर्षों में जूझते संघर्षों में उसने अपने आपको भुला देना चाहा परन्तु मस्तिष्क में भरे हुए नारी की विरूपता के संघर्ष ने उसका पीछा न छोड़ा। तत्पश्चात् वह बनारस लौट आता है और अपने ऊपर किए गए अत्याचार का बदला लेने के लिए रंग और कूची लेकर कैनवेस के सामने जा खड़ा हुआ और उसने एक चित्र बनाया पलंग पर लेटी हुई नीता का। उसका पेट फूला हुआ था, चेहरे पर रोग का पीलापन, पीड़ा से फैली हुई आँखें, कराहट से घुलकर मुड़े हुए होंठ, हाथ-पाँव पीड़ा से ऐंठे हुए थे। जिस समय जयराज यह चित्र पूरा कर रहा था उसी समय डाक का एक पत्र आया जिसमें अपने पुत्र के नामकरण संस्कार के अवसर पर जयराज से आने का अनुरोध किया गया था। जयराज ने पत्रोत्तर देते हुए लिख दिया कि तबियत ठीक न होने के कारण आ नहीं सकूँगा, मेरी शुभकामनाएँ एवं बधाई तथा शिशु को आशीर्वाद।

मित्र के पत्रोत्तर को पाकर सोमनाथ एवं नीता ने बनारस जाने का निश्चय किया और वे एक दिन बनारस जयराज के घर पहुँच गए। जयराज उस समय अस्वस्थ नीता का ही चित्र बना रहा था। जयराज ने देखा कि आज की नीता रानीखेत की नीता से कहीं अधिक सुन्दर है तो उसके मन

करने बनारस जा रहा हूँ और तुम रानीखेत आकर अपनी पत्नी की देखभाल करलो। सोमनाथ रानीखेत आ जाता है और वहाँ से अपने मित्र जयराज को उसकी माँ का स्वास्थ्य जानने के लिए पत्र लिखता है। कालान्तर मे एक अन्य पत्र मे जयराज रानीखेत लौटने की असमर्थता व्यक्त कर देता है। सोमनाथ कुछ दिनो बाद इलाहाबाद लौट जाता है। इलाहाबाद मे सोमनाथ जयराज को एक पत्र लिखता है जिसमें वह अपने पुत्र के नामकरण के अवसर पर जयराज को निमन्त्रित करता है। जयराज इलाहाबाद आने की असमर्थता एवं पुत्र के नामकरण संस्कार की बधाई प्रेषित करता है। फिर सोमनाथ अपनी पत्नी के साथ स्वयं ही बनारस चले आते है। जब वे लोग बनारस जयराज के घर मे पहुँचते हैं तो जयराज नीता के उस अस्वस्थ रूप को रूपायित करने में लगा हुआ था जो उसने रानीखेत मे देखा था। दोनों पति-पत्नी उस चित्र को देखकर अत्यधिक आनन्द का अनुभव करते हैं पर जयराज उन दोनों को वहाँ देखकर सकपका जाता है। इसी समय नीता जयराज से उस चित्र का शीर्षक पूछ बैठती है लेकिन मानसिक रूप से अस्वस्थ होने के कारण जयराज नीता के प्रश्न का उत्तर नही दे पाता है। फलतः नीता ही उसका उत्तर देते हुए कहती है कि आपने जो यह चित्र बनाया है इसका शीर्षक 'सृजन की पीड़ा' हो सकता है।

(२) कथोपकथन—प्रस्तुत कहानी 'चित्र का शीर्षक' में कथोपकथन प्रायः नगण्य ही है क्योंकि सम्पूर्ण कहानी वर्णनात्मक रूप में प्रस्तुत की गयी है। कथोपकथन के रूप में जयराज एवं सोमनाथ द्वारा लिखे गये पत्र ही हैं। सोमनाथ इलाहाबाद से जयराज को पत्र लिखते हुए लिखता है—"....इस वर्ष नीता का स्वास्थ्य कुछ शिथिल है, उसे दो मास पहाड़ मे रखना चाहता हूँ। इलाहाबाद की कड़ी गर्मी मे वह बहुत असुविधा अनुभव कर रही है। यदि तुम अपने पडौस मे ही किसी सस्ते, छोटे परन्तु अच्छे मकान का प्रबन्ध कर सको तो उसे वहाँ पहुँचा दूं। संभवतः तुमने अलग पूरा बगला लिया होगा। यदि उस मकान मे जगह हो और इससे तुम्हारे काम में विघ्न पड़ने की आशंका न हो तो हम एक-दो कमरे सबलेट कर लेंगे। हम अपने लिए अलग नौकर रख लेंगे.....।"

और फिर बहुत चिन्तन मनन के पश्चात् जयराज भी पत्र के द्वारा ही उत्तर देता है—".....भीड़-भाड़ से बचने के लिए अलग पूरा ही बगला

लिया है। बहुत-सी जगह खाली पड़ी है। सबलेट का कोई सवाल नहीं। पुराना नौकर पास है। यह नीता जी उस पर देख रेख रखेंगी तो मेरा ही लाभ होगा। जब सुविधा हो आकर उन्हें छोड़ जाओ। पहुँचने के समय सूचना देना। मोटर स्टेण्ड पर मिल जाऊँगा.....।"

इस प्रकार पत्रों के आदान-प्रदान में ही कथोपकथनों का प्रयोग हुआ है। कहानी के अन्तिम भाग में नीता, सोमनाथ एवं जयराज की भेंट अवश्य दिखाई गई है पर कथोपकथन नहीं हैं।

(३) **पात्र एवं चरित्र-चित्रण**—प्रस्तुत कहानी में तीन पात्र आये हैं जयराज, उसका मित्र सोमनाथ तथा सोमनाथ की पत्नी नीता। पात्रों का प्रत्यक्ष परिचय एवं विचारों का आदान-प्रदान न होकर केवल पत्र शैली में ही हुआ है। सोमनाथ द्वारा लिखे गये पत्र में सोमनाथ की मित्र से सहायता की याचना एवं अपनी पत्नी की रुग्ण दशा की चिन्ता को व्यक्त किया गया है तो जयराज के पत्र में एक सच्चे मित्र की कर्त्तव्य परायणता एवं निस्वार्थ सहायता की भावना का चित्रण हुआ है। पर आगे चलकर मित्र पत्नी की रुग्णावस्था को देखकर जयराज का परेशान हो उठना तथा उसे छोड़कर भाग जाने में उसकी कायरता का परिचय मिलता है। इसके साथ ही प्रत्येक क्षण कल्पना लोक में विचरण करता हुआ सा जयराज दिखाया गया है।

(४) **भाषा-शैली**—प्रस्तुत कहानी की भाषा खड़ी बोली है। यथास्थान उसमें सबलेट कैनवेस "टैक्सी" जैसे अंग्रेजी शब्दों का तथा उर्दू शब्दों का भी यथास्थान प्रयोग किया है। समग्र रूप में भाषा व्यावहारिक है। एक उदाहरण प्रस्तुत है—

जयराज के जीवन में सूनेपन की शिकायत का स्थान अब सौन्दर्य के धोखे के प्रति ग्लानि ने ले लिया। जीवन की विरूपता और वीभत्सता का आतंक उसके मन पर छा गया। नीता का रोग से पीड़ित, वीभत्स कराहता हुआ रूप उसकी आँखों के सामने से कभी न हटने की जिद कर रहा था।"

प्रस्तुत कहानी में वर्णनात्मक एवं पत्र शैली का प्रयोग किया गया है। पत्रों के माध्यम से ही पात्रों की मनोगत भावनाओं का अंकन हुआ है।

(५) **औत्सुक्य**—कहानी में औत्सुक्य का मुख्य स्थान होता है। यही उत्सुकता पाठकों को कहानी को जल्दी से जल्दी पढ़ डालने को प्रेरित किया करती है। पर प्रस्तुत कहानी में यह तत्व प्रायः नगण्य सा ही है।

अब हम इन्हीं तत्त्वों के आधार पर 'प्रायश्चित' कहानी की समीक्षा प्रस्तुत करेंगे—

कथानक—प्रायश्चित कहानी का कथानक संक्षिप्त है। रामू की बहू जिस घर में दुलहन बनकर आती है, उसमें परिवारी-जनों के अतिरिक्त एक बिल्ली भी है, यह बिल्ली उसे बहुत परेशान किया करती है। निगाह बचते ही वस्तुओं को खा जाया करती है। रामू की बहू ने एक दिन गुस्से में आकर उसे मार डालने का प्रण किया है। येन केन प्रकारेण वह मौका जब हाथ में आ गया तो उसने बिल्ली के कसकर पट्टा मार दिया। पट्टा लगते ही बिल्ली बेहोश होकर गिर जाती है। सब जगह खबर फैल जाती है कि रामू की बहू ने बिल्ली को मार डाला है। बिल्ली की हत्या ब्रह्म हत्या के बराबर होती है अतः यह हत्या बेचारी रामू की बहू के मथे मढ़ी जाने लगी। इसी बीच पं० परमसुख, जो धर्म और पुण्य के ठेकेदार थे, बुलाए गए। उन्होंने जैसा मौका देखा, वैसा ही प्रायश्चित का विधान तैयार कर दिया। इसी उद्देश्य से उन्होंने ११ तोला सोना बिल्ली की मूर्ति बनवाने के लिए जैसे ही माँगा तभी महरी ने यह समाचार देकर बिल्ली तो उठकर भाग गई है, वह मरी नहीं थी पण्डित परमसुख की आशाओं पर तुषारापात कर दिया। संक्षेप में यही इसका कथानक है।

कथोपकथन—कहानी के कथोपकथन स्वाभाविक एवं सजीव रूप में प्रस्तुत किए हैं। कथोपकथन या संवाद पात्रों की चरित्रगत विशेषताओं की व्याख्या करने वाले हैं। पण्डित परमसुख और घर वालों के मध्य हुए वार्तालाप से परमसुख के चरित्र की एक स्पष्ट झाँकी प्राप्त हो जाती है—

"पण्डितजी बिल्ली की हत्या करने से कौन नरक मिलता है?"

पण्डित परमसुख ने पत्रा देखते हुए कहा—"बिल्ली की हत्या अकेले से तो नरक का नाम नहीं बतलाया जा सकता। वह मूहरत भी मालूम हो जब बिल्ली की हत्या हुई तब नरक का पता लग सकता है।"

"यही कोई सात बजे सुबह।"

"हरे कृष्ण! हरे कृष्ण! बड़ा बुरा हुआ, प्रातःकाल ब्रह्म मुहूर्त में बिल्ली की हत्या! घोर कुम्भी पाक नरक का विधान है। रामू की माँ यह बड़ा बुरा हुआ।"

उपर्युक्त कथोपकथन से यह सिद्ध हो जाता है कि परमसुख जैसे धूर्त पण्डित किस प्रकार धर्मभीरु जनता का शोषण किया करते हैं।

पात्र एवं चरित्र-चित्रण—मुख्य पात्रों में तो रामू की बहू, बिल्ली और पण्डित परमसुख आते हैं। अन्य पात्रों में रामू की माँ, मिसरानी और महरी आदि पात्रों के परस्पर के वार्तालाप द्वारा अथवा दूसरों की धारणाओं द्वारा ही उनकी चरित्रगत विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है। पं० परमसुख जहाँ धूर्त, पाखण्डी एवं शोषक, पण्डित के रूप में चित्रित हुआ है वहाँ रामू की माँ और रामू की बहू धर्मभीरु मनुष्यों का प्रतिनिधित्व करती हैं। अन्य पात्र नगण्य ही हैं।

भाषा-शैली—प्रस्तुत कहानी में खड़ी बोली का व्यावहारिक रूप प्रयुक्त हुआ है। भाषा एवं शैली दोनों ही पात्रानुकूल एवं प्रसंगानुकूल हैं। देखिए—"छन्नू की दादी ने कहा—और नहीं तो क्या, दान-पुन्न से ही पाप कटते हैं—दान-पुन्न में किफायत ठीक नहीं।"

"मिसरानी ने कहा—और फिर माँ जी आप लोग बड़े आदमी ठहरे। इतना खर्च कौन आप लोगों को अखरेगा।"

प्रयुक्त वाक्य छोटे-छोटे हैं।

औत्सुक्य—उत्सुकता कहानी का प्रधान गुण माना जाता है। जिस कहानी में यह तत्व नहीं होता है वह कहानी बोझ सी लगती है। औत्सुक्य गुण होने पर पाठक शीघ्रता से कहानी को पढ़ता चला जाता है। इस कहानी में भी उत्सुकता आदि से अन्त तक बनी रहती है और कहानी के अन्त में पाठक चमत्कृत हो उठता है।

शीर्षक—कहानी का 'प्रायश्चित' शीर्षक उपयुक्त है क्योंकि बिल्ली की हत्या का प्रायश्चित किया जाना निश्चित होता है और उसी के लिए पं० परमसुख आदि को बुलाया जाता है पर कहानी में 'प्रायश्चित' की पूर्णता नहीं हो पाती है। प्रायश्चित की पूर्णता से पूर्व ही कहानी को समाप्त कर कहानीकार ने पाठकों के लिए अच्छी मनोविनोद की सामग्री छोड़ी है।

उद्देश्य—प्रत्येक कार्य का कोई न कोई उद्देश्य अवश्य ही होता है। प्रस्तुत कहानी का उद्देश्य समाज के धूर्त पण्डितों एवं मूर्ख पुजारियों की उस नीच-प्रवृत्ति का उद्घाटन करना रहा है जिसके द्वारा ये लोग धर्मभीरु जनता का शोषण किया करते हैं।

समग्र रूप में हम कह सकते हैं कि कहानी-कला के तत्त्वों के आधार पर 'प्रायश्चित' एक सफल कहानी है।

बदला

(श्री अज्ञेय)

प्रश्न—सिद्ध कीजिए 'बदला' में श्री अज्ञेय ने मानवीय मूल्यों की स्थापना की सुखद कल्पना की है।

अथवा

अज्ञेय रचित 'बदला' कहानी का सार अपनी भाषा में लिखिए।

उत्तर—बदला अज्ञेय की व्यक्ति प्रधान मनोवैज्ञानिक कहानी है जिसमें लेखक ने हिन्दुस्तान पाकिस्तान के विभाजन से जन्य मानवता के विनाश के रूप को अपनी लेखनी से उभारा है।

कहानी का नायक एक सरदार है। यह वह सरदार है जो हिन्दुस्तान पाकिस्तान के विभाजन के फलस्वरूप लगी आग में अपने परिवार का सर्वस्व स्वाहा कर चुका है। मानवता के दुश्मनों ने उसके घर बार को तो उजाड़ा ही उसके परिवारीजनों का अपमान और बाद में कत्लेआम कर दिया था। सरदार आज शेखूपुरे से उजड़ कर शरणार्थी बन गया है और परिवार के रूप में मात्र उसका एक पुत्र उसके साथ है। सिख सरदार ने जो अपने नेत्रों से देखा है वह अन्यों के साथ होते नहीं देखना चाहता है। यही उसका अपने साथ हुए अपमान एवं सर्वनाश का सबसे सुन्दर बदला है और यही इस कहानी का शीर्षक है।

कहानी का कथानक बड़े ही औत्सुक्यपूर्ण वातावरण में आरम्भ होता है। सुरैया नामक एक मुसलमान महिला आबिद एवं जुबैदा नामक अपनी संतानों के साथ जल्दी-जल्दी स्टेशन पर रुकी हुई गाड़ी में अपने सामान के साथ चढ़ जाती है। जब सुरैया अंधेरे डिब्बे में बैठ गई तो उसे मालूम हुआ कि उसी डिब्बे में सिख बैठे हुए हैं गाड़ी के चलते ही सुरैया नामक मुसलमान महिला इसलिए डरने लगी कि कहीं ये विजातीय सरदार उसको अपमानित न कर दें या फिर हो सकता है उसे कहीं खत्म ही न कर डालें। उस समय हिन्दुस्तान पाकिस्तान के विभाजन के फलस्वरूप हिन्दू मुसलमान एक-दूसरे के खून के पियासे बने हुए थे।

सुरैया इसी चिन्ता में डूबी हुई थी और सोच रही थी कि अगले स्टेशन पर उतर जाऊँगी। उनमें से एक बड़े सिख ने सुरैया से पूछ ही लिया "आप कहाँ तक जाएँगी ?" बड़े सिख की इस बात ने सुरैया को और परेशानी में

डाल दिया। तभी सिख ने दूसरा प्रश्न कर दिया "आप कितनी दूर जायेंगी ?" इस दूसरे प्रश्न के उत्तर में सुरैया ने साहस बटोरकर सिख को उत्तर दे दिया कि "इटावे जा रही हूँ।" पुनः सिख ने पूछा कि आपको इस गन्दे वातावरण में अकेले नहीं चलना चाहिए था। सुरैया ने झूठे ही यह कह दिया कि उसका भाई अगले डिब्बे में बैठा है। इस पर सिख ने कहा कि "आपके भाई को आपके साथ बैठना चाहिए था; आजकल के हालात में कोई अपनों से अलग बैठता है ?" सुरैया को डर लगा कि कहीं सिख उसकी झूठ को भाँप नहीं गया हो। अतः वह डर के मारे इस असमंजस में पड़ गई कि वह इसी डिब्बे में बैठी रहे या उतर कर किसी दूसरे डिब्बे में चली जाय। तभी गाड़ी किसी छोटे स्टेशन पर रुकी और उसमें दो आदमी और चढ़ आए पर नये चढ़ने वाले भी हिन्दू थे यह जानकर वह सचमुच डर गई और वह अपनी थैली पोटली समेटने लगी। सुरैया की इस दशा को सरदार समझ गया अतः उसने उससे पूछ लिया कि "आप कहाँ उतरेंगी ?" सुरैया बोली—"सोचती हूँ, भाई के पास जा बैठूँ....." सिख ने उसे हिम्मत बँधाते हुए कहा "आप बैठी रहिए। यहाँ आपको कोई डर नहीं है। मैं आपको अपनी बहन समझता हूँ और इन्हें बच्चे—आपको अलीगढ़ तक ठीक-ठीक मैं पहुँचा दूंगा। उससे आगे खतरा भी नहीं है, और वहाँ से आपके भाई-बन्द भी गाड़ी में ला ही जायेंगे।"

इसी समय जो नये यात्री गाड़ी में चढ़े थे उनमें से हिन्दू ने कहा "सरदार जी जाती है तो जाने दो न, आपको क्या ?"

सुरैया बड़ी असमंजस एवं भय की स्थिति में पड़ गई थी। इसी बीच उस हिन्दू और सिख सरदार जी में जो वार्तालाप हुआ उससे उन हिन्दू महाशय की मुसलमानों के प्रति विद्वेष की भावना उभाड़ पा रही थी। जब हिन्दू महाशय को यह ज्ञात हो गया कि हमारे साथ बैठे हुए सरदार जी का सब कुछ उजड़ चुका है और वे एक शरणार्थी के रूप में भारत में आकर इधर-उधर भटक रहे हैं तो उसने सरदार जी के मन की विद्वेष की आग को कुरेदना चाहा। उसने कहा कि "आपके घर के लोगों पर तो बहुत बुरी बीती होगी....." फिर उसने बुर्का पहने हुए सुरैया की ओर देखकर कहा दिल्ली में कुछ लोग बताते थे, वहाँ उन्होंने क्या-क्या जुल्म किये हैं हिन्दुओं और सिक्खों पर। कैसी-कैसी बातें वे बताते थे, क्या बताऊँ जबान पर लाते शर्म आती है। औरतों को नंगा करके..... ।"

हिन्दू महाशय द्वारा सरदारजी को बार-बार उकसाया जा रहा था पर सरदार जी तो भले मानव थे। उन पर दुष्टों की हरकतों का कोई प्रभाव नहीं पड़ रहा था। एक बार तो उस सिख ने उस हिन्दू को डाटकर कह दिया बाबू साहब, हमने जो देखा है वह आप हमी को क्या बतायेंगे.....।" इतना ही नहीं उस सिख सरदार ने उस हिन्दू को झिड़कते हुए कहा "बहू बेटियाँ सबकी होती हैं, बाबू साहब।" फिर उसने सुरैया की ओर मुखातिब होकर कहा "आपसे मैं माफी माँगता हूँ कि आपको यह सुनना पड़ रहा है।" इस पर हिन्दू महाशय ने पूछा कि "ये—आपके साथ है ?" सिख ने और भी रुखाई से कहा—"जी अलीगढ़ तक मैं पहुँचा रहा हूँ।" सिख की यह नेकनीयता की बात सुनकर सुरैया को पता चला कि यह सिख मेरा शत्रु नहीं है अपितु यह तो मेरा रक्षक शरीफ आदमी है अतः उसने साहस करके सिख सरदार जी से पूछ लिया कि "आप अलीगढ़ उतरेंगे ?"

सिख ने कहा—"हाँ।"

बाद में वार्तालाप द्वारा ज्ञात हुआ कि उस शरीफ इन्सान सिख को कहीं नहीं जाना था। वह तो दूसरों की जान बचाने के खातिर इधर-उधर बे-सहारा लोगों की मदद किया करता है। आज भी वह बे-सहारा सुरैया को अलीगढ तक सुरक्षित पहुँचाने के लिए गाड़ी में यात्रा कर रहा है।

सिख को अलीगढ़ की साम्प्रदायिक हविस के बारे में बेचारी सुरैया ने भी बताया पर उस नेक इन्सान को तो दूसरों की मदद करनी ही थी और यदि इस कार्य में उसका जीवन चला भी जाये तो भी उसे उसकी कोई चिन्ता नहीं थी।

हिन्दू जाति की तारीफ करने वाले हिन्दू महाशय को फटकारते हुए सरदार जी ने अंत में कह दिया रहने दीजिए बाबू साहब। अभी आप ही जैसे रस ले-लेकर दिल्ली की बातें सुना रहे थे—अगर आपके पास छुरा होता और आपको अपने लिए कोई खतरा न होता, तो आप क्या अपने साथ बैठी सवारियों को बख्श देते ? इन्हें या मैं बीच में पड़ता तो मुझे ?" आगे वह कह उठता है—"अब आप सुनना ही चाहते हैं तो सुन लीजिए कान खोलकर। मुझसे आप हमदर्दी दिखाते हैं कि मैं आपका शरणार्थी हूँ। हमदर्दी बड़ी चीज है, मैं अपने को निहाल समझता अगर आप हमदर्दी देने के काबिल होते। लेकिन आप मेरा दर्द कैसे जान सकते हैं, आप उसी सांस में दिल्ली की बातें ऐसे बेदर्द

ढंग से करते हैं? मुझ से आप हमदर्दी कर सकते होते—उतना दिल आप मे होता तो जो बातें आप सुनना चाहते हैं उनसे शर्म के मारे आपकी जबान बन्द हो गई होती—सिर नीचा हो गया होता। औरत की बेइज्जती औरत की बेइज्जती है, वह हिन्दू या मुसलमान की नहीं, वह इन्सान की माँ की बेइज्जती है। शेखपुरे मे हमारे साथ जो हुआ सो हुआ—मगर मैं जानता हूं कि उसका बदला कभी नही ले सकता क्योंकि उसका बदल. हो ही नही सकता। ये बदला दे सकता हूँ—और वह यही, कि मेरे साथ जो हुआ है, वह और किसी के साथ न हो। इसीलिए दिल्ली और अलीगढ़ के बीच इधर और उधर लोगों को पहुँचाता हूँ मैं, मेरे दिन भी कटते हैं और कुछ बदला चुका भी पाता हूँ, इसी तरह अगर कोई किसी दिन मार देगा तो बदला पूरा हो जाएगा—चाहे मुसलमान मारे चाहे हिन्दू। मेरा मकसद तो इतना है कि चाहे हिन्दू हो, चाहे सिख हो, चाहे मुसलमान हो जो मैंने देखा वह किसी को न देखना पड़े; और मरने से पहले मेरे घर के लोगो की जो गति हुई वह परमात्मा न करे किसी की बहू-बेटियों को देखनी पड़े।"

इसके पश्चात् सुरैया उस सिख की नेक इन्सानियत से बहुत प्रभावित हुई और अलीगढ पर उतरने से पूर्व उसने सरदार को शुक्रिया के दो शब्द कहना चाहा पर उसके मुँह से बोल निकल ही नही सका।

अलीगढ़ पर सिख अपने पुत्र को जगाकर उतर गया और उतरते समय उसने हिन्दू महाशय से क्षमा माँगते हुए पुनः अपनी भलमनसाहत का परिचय देते हुए कहा—"बाबू साहब कुछ कडी बात कह गया हूँ तो माफ करना हम लोग तो आपकी सरन हैं।"

बस यही कानीह समाप्त हो जाती है।

तृतीय प्रश्न-पत्र

1. हिन्दी-साहित्य का इतिहास
2. निबन्ध
3. रचना
4. व्याकरण
5. संस्कृत

हिन्दी-साहित्य का इतिहास

प्रश्न १—हिन्दी भाषा का जन्म कैसे हुआ ? इस विषय पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

उत्तर—कोई भी भाषा एकाएक नहीं आ टपकती है। उसका रूप विभिन्न मूलों में निहित रहता है। यही बात हमारी हिन्दी भाषा के साथ भी है। हिन्दी का मूल-उद्गम-स्थल तो निश्चय ही संस्कृत भाषा से है। लेकिन सीधे संस्कृत से इसका जन्म न होकर प्राकृत, पालि और अपभ्रंश द्वारा ही हुआ है।

हिन्दी से पूर्व भारत में आर्य-भाषाएँ प्रचलित थीं, जो क्रमशः वैदिक संस्कृत, लौकिक संस्कृत, प्राकृत, पालि और अपभ्रंश के नाम से पुकारी जाती हैं।

दूसरे शब्दों में हम इस प्रकार कह सकते है कि भारतीय भाषाओं का उद्भव इस क्रम से हुआ है—

वैदिक संस्कृत
|
लौकिक संस्कृत
|
प्राकृत
|
अपभ्रंश
|
आधुनिक भाषाएँ

प्रत्येक युग में भाषा के दो रूप चलते है (१) साहित्यिक और (२) बोलचाल की भाषा। भाषा का सबसे बड़ा गुण है उसकी परिवर्तनशीलता, अर्थात् भाषा में प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। साहित्यिक भाषा को जानने वाले प्रत्येक काल में गिने-चुने ही व्यक्ति हुआ करते हैं। अतः जो प्रारम्भ में बोलचाल की भाषा है, वही क्रमशः साहित्य की भाषा बन जाया करती है, उसका स्थान लेती है दूसरी बोलचाल की भाषा।

सबसे पहले आर्यों की साहित्यिक भाषा बनी, वैदिक संस्कृत और इसी संस्कृत में हमारे प्राचीन धर्म-ग्रन्थ ऋग्वेद आदि लिखे गये हैं। वैदिक युग के पश्चात् लौकिक संस्कृत साहित्य की भाषा बनी। यह भाषा सबसे अधिक सम्पन्न है। हमारी हिन्दी भाषा की मूल उत्पादिका भी यही भाषा है। लौकिक संस्कृत जिस समय साहित्य की भाषा थी, उसी समय जन-साधारण में भी एक अन्य बोलचाल की भाषा चल रही थी, जिसको सरल एवं स्वाभाविक होने के कारण ही 'प्राकृत' नाम दिया गया। कालान्तर में जब भगवान् बुद्ध और महावीर स्वामी ने इस भाषा में उपदेश देने प्रारम्भ किये तो शनैः-शनैः यही बोलचाल की भाषा साहित्यिक बन गयी और इसी में जैन और बौद्ध धर्म के उपदेश लिखे जाने लगे। इस प्राकृत का ही दूसरा रूप जो बोलचाल में प्रचलित था, 'पालि' कहलाया। कुछ समय पश्चात् यह पालि भी साहित्य की भाषा बन गई। बौद्ध धर्म के अधिकांश ग्रन्थ और जातक कथाएँ इसी पालि भाषा में उपलब्ध हैं।

स्थानीय भेद से प्राकृत भाषा के पाँच रूप हो गये—

(१) मागधी—बंगाल, बिहार में बोली जाने वाली।
(२) अर्द्ध-मागधी—मध्य के क्षेत्र में बोली जाने वाली।
(३) शौरसेनी—मध्य और उत्तर प्रदेश में बोली जाने वाली।
(४) महाराष्ट्री—महाराष्ट्र में बोली जाने वाली।
(५) पैशाची—सिन्ध में बोली जाने वाली।

कालान्तर में प्राकृत का रूप जब साहित्यिक बन गया या बोलचाल में एक अन्य भाषा चल निकली जो भ्रष्ट होने के कारण अपभ्रंश कहलाई। कुछ समय पश्चात् जब अपभ्रंश भाषाएँ भी साहित्य में स्थान पाने लगीं तो उनके भी नियम आदि बना लिये गए और अपभ्रंश भाषाओं से हमारी वर्तमान आर्य-भाषाओं का जन्म हुआ।

अपभ्रंश भाषाओं से विकसित होने वाली आधुनिक प्रान्तीय भाषाएँ इस प्रकार हैं—

(१) मागधी अपभ्रंश—बँगला, बिहारी, उड़िया और आसामी।
(२) अर्द्ध-मागधी अपभ्रंश—पूर्वी हिन्दी।
(३) शौरसेनी अपभ्रंश—पश्चिमी हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती, पंजाबी।
(४) पैशाची—सिन्धी, लहँदा।
(५) महाराष्ट्री—मराठी।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि पश्चिमी हिन्दी, अर्थात् वर्तमान खड़ी-बोली का विकास शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ है। हिन्दी के विकास के मूल में संस्कृत, प्राकृत, पालि और अपभ्रंश भाषाएँ रही हैं। यही हिन्दी के विकास की कहानी है।

प्रश्न २—हिन्दी-साहित्य के इतिहास से आप क्या अर्थ लगाते हैं? साहित्य का इतिहास तैयार करने में किन-किन सामग्रियों की सहायता लेनी पड़ती है?

उत्तर—किसी भी वस्तु का इतिहास सरलता से उपलब्ध होने वाली वस्तु नहीं है। वर्षों के सूक्ष्म परीक्षण, निरीक्षण एवं अध्ययन के पश्चात् वह सार रूप वस्तु दिखायी पड़ती है। हिन्दी-साहित्य के इतिहास के विषय में यही सिद्धान्त लागू होता है।

अब हम यह जानना चाहेंगे कि हिन्दी-साहित्य का इतिहास क्या है। समाज में अनेकानेक उत्थान-पतन, सुख-संकट, युद्ध-विलासिता आदि विभिन्न स्थितियाँ समय-समय पर उपस्थित होती रहती है। साहित्य समाज का दर्पण कहा जाता है जिसका तात्पर्य यह हुआ कि समाज में जो कुछ भी घटनाएँ घटित होती हैं उनका प्रभाव तत्कालीन साहित्य पर अवश्य पड़ता है। साहित्य और समाज का अटूट सम्बन्ध है। हिन्दी का इतिहास लगभग एक हजार वर्ष का है अर्थात् बाबू रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में हिन्दी की प्रथम धारा, अर्थात् वीरगाथा काल का समय संवत् १०५० से माना है। अन्य विद्वान; यथा—मिश्रबन्धु, शिवसिंह सेंगर, राहुल सांकृत्यायन आदि विद्वान इसका प्रारम्भ संवत् ७०० से मानते है। कुछ भी हो, लगभग एक हजार या बारह सौ वर्ष का ही इतिहास है। उस समय से लेकर इस देश में अनेकानेक परिवर्तन हुए। कभी यहाँ पर आन्तरिक अशान्ति हुई, तो कभी यवन आये और उनसे युद्ध हुआ, कभी धार्मिक युद्ध हुए, कभी यवनों की सत्ता से मुँह बन्द करके रहना पड़ा। फिर अंग्रेज आये और उनकी सत्ता में रहना पड़ा तत्पश्चात् स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए संग्राम करना पड़ा। इस प्रकार देश में अनेकानेक उथल-पुथल एवं उत्थान-पतन इसी प्रकार हुए। जैसा कि हम कह चुके हैं कि साहित्य और समाज का घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः जो भी घटनाएँ समाज में घटित होती गयीं, उनका प्रभाव तत्कालीन रचे गये साहित्य पर अवश्य ही पड़ा है। समाज की तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार ही साहित्य

में भी अनेकानेक रूप दिखाई दिये। वीरगाथा काल के साहित्य में युद्ध के नगाड़ों की टंकार और तलवारों की झंकार है तो भक्ति काल में जब धर्म पर आँच आयी तो भगवान् को स्मरण करने वाली कविताएँ लिखी गयीं। शान्ति और विलासिता के समय शृंगार सम्बन्धी कविताएँ की गईं तो स्वतन्त्रता संग्राम के काल में देश-प्रेम से सम्बन्धित कविताएँ रची गयीं। इस प्रकार समाज की तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार ही साहित्य को भी भिन्न-भिन्न रूप धारण करने पड़े। जब इसी साहित्य को हम एक क्रम में रखकर उसका अध्ययन प्रस्तुत करते हैं तो वही हिन्दी-साहित्य का इतिहास पुकारा जाता है।

देश के इतिहास और साहित्य के इतिहास में अन्तर—किसी देश के इतिहास और किसी साहित्य के इतिहास में एक सबसे बड़ा अन्तर यह है कि देश के इतिहास में तो केवल उन्हीं बातों का अध्ययन करते हैं कि किस समय पर कौन-कौन राजा हुए उनका शासन-प्रबन्ध कैसा था आदि। परन्तु किसी साहित्य के इतिहास में हमें तत्कालीन समाज की छाया दिखलाई पड़ती है। समाज में जन-जीवन कैसा था, लोगों की भावनाएँ कैसी थीं आदि-आदि बातों का अध्ययन हम किसी साहित्य के इतिहास मे ही कर सकते हैं।

एक अन्तर और भी है और वह यह कि साधारण इतिहास में जो भी वर्णन किया जाएगा, वह राजा के आदेश से होगा अतः उसमे वास्तविकता एवं सच्चाई नहीं होती है परन्तु-साहित्य के इतिहास में हम भिन्न-भिन्न कवि एवं कलाकारों की स्वतन्त्र रचनाओं का अध्ययन करते हैं अतः उनमें वर्णित बातें अधिक सत्य एवं वास्तविक हुआ करती हैं।

हिन्दी-साहित्य के इतिहास में आधारभूत सामग्रियाँ—जिस किसी भाषा के इतिहास को हम अपने कमरे में बैठकर अध्ययन किया करते हैं उस इतिहास के निर्माण-कार्य के विषय में जब हम दृष्टिपात करते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि इतिहासकारों ने बड़ा ही अधिक प्रयत्न एवं अध्ययन कर हमारे सम्मुख इतिहास को प्रस्तुत किया है। हिन्दी साहित्य के इतिहास की सामग्री को भी इतिहासकारों ने विभिन्न स्रोतों से प्राप्त करके ही इतिहास के वर्तमान रूप को सजाया है। यह सामग्री उन्हें निम्न स्थानों से उपलब्ध हो सकी है—

(1) प्राचीन दान-पत्र, शिलालेख एवं ताम्र-पत्र आदि से।

(२) विभिन्न राजाओं के निजी पुस्तकालय; यथा—जयपुर, जोधपुर, अलवर, काशी कॉकरौली आदि से।

(३) प्राचीन धार्मिक पुस्तकों एवं उनकी टीकाओं से।

(४) यत्र-तत्र मिलने वाली पुस्तकों से।

(५) विदेशी शासकों एवं विद्वानों द्वारा किये गये कार्यों से।

उपर्युक्त सभी सामग्री को एकत्र कर एवं चिन्तन-मनन उपरान्त करने के पश्चात् ही हमारे साहित्य का इतिहास निर्मित हो सका। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि हिन्दी भाषा का जो सर्वप्रथम इतिहास के रूप में प्रयास किया गया है वह फ्रेंच विद्वान 'गार्सा द तासी' का 'इस्त्वार द ला लितेराप्यूर ऐन्दुई ऐ हिन्दुस्तानी' यह फ्रेंच भाषा में लिखा गया है, यह तीन भागों में प्रकाशित हुआ है और इसमें कतिपय हिन्दू और मुसलमान कवियों एवं कवियित्रियों का परिचय कवि एवं उनके ग्रन्थों का परिचय दिया गया है। तत्पश्चात् हिन्दी का कार्य सर्वप्रथम श्री शिवसिंहजी सरोज द्वारा किया गया। इसके पश्चात् मिश्र बन्धुओं, जार्ज ग्रियर्सन, रामनरेश त्रिपाठी, एफ० ई० महोदय आदि विद्वानों ने इस पर अपने-अपने ढंग से प्रकाश डाला है।

इन विद्वानों के पश्चात् सर्वाधिक प्रामाणिक इतिहास पं० रामचन्द्र शुक्ल ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' के नाम से लिखा। यद्यपि शुक्ल जी के इतिहास के पश्चात् विभिन्न विद्वानों; यथा—डा० रामकुमार वर्मा, नन्ददुलारे वाजपेयी, बाबू गुलाबराय आचार्य चतुरसेन शास्त्री आदि विद्वानों ने आलोचनात्मक दृष्टि से हिन्दी साहित्य के इतिहास लिखे हैं परन्तु निश्चय ही इन सबका आदि आधार शुक्ल जी का इतिहास रहा है।

प्रश्न ३—हिन्दी साहित्य के इतिहास को कितने भागों में बाँटा जा सकता है, और क्यों ?

उत्तर—हिन्दी-साहित्य का प्रारम्भ कब से हुआ, इस विषय पर विद्वान् एकमत नहीं हैं। पं० रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी का प्रारम्भ संवत् १०५० से मानते हैं तो डा० रामकुमार वर्मा उनका प्रारम्भ संवत् ७०० से, राहुल सांकृत्यायन और काशीप्रसाद जायसवाल संवत् ६०० से मानते हैं। आचार्य शुक्ल ने अपने मत की पुष्टि करते हुए कहा है कि यों तो हिन्दी की धारा बहुत पहले से चली आ रही है। परन्तु हिन्दी साहित्य का अगाध स्रोत संवत् १०५० से ही प्रारम्भ होता है। उससे पूर्व के कार्य स्फुट एवं अधिक प्रामाणिक नहीं हैं। अतः इसी [illegible] को आधार मानकर हम आगे विवेचन करेंगे।

पं० रामचन्द्र शुक्ल ने समय-विशेष में लोगों में रुचि-विशेष के प्रतिनिधित्व के आधार पर ही हिन्दी-साहित्य को चार भागों में विभक्त किया है :

(१) वीरगाथा काल—संवत १०५० से १३७५ तक
(२) भक्ति काल—संवत् १३७५ से १७०० तक
(३) रीति काल—संवत् १७०० से १९०० तक
(४) आधुनिक काल—संवत् १९०० से आज तक।

यह उपर्युक्त विभाजन समय-विशेष को साहित्यिक भावनाओं के आधार पर किया गया है। संवत् १०५० से १३७५ तक का समय वह समय है, जबकि देश छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटा हुआ था। प्रत्येक टुकड़े का एक राजा होता था। उन राजाओं में वीरता की भावना होती थी। उनका लक्ष्य अन्य राज्यों को जीतकर अपने राज्य मे मिलाना हुआ करता था। फलतः तत्कालीन समाज में वीरता का ही बोलबाला था। साहित्य समाज का दर्पण कहलाता है। अतः समाज की वीर-भावना ने साहित्य में भी अपना रूप जगाया। एक ओर तो परस्पर की लड़ाइयाँ चल रही थीं कि मौका पाकर मुसलमानों ने भी देश पर आक्रमण करने शुरू कर दिये। समाज की प्रत्येक कार्य विधि में युद्ध का ही वातावरण समाया रहता था। फलतः समाज के अनुरूप ही साहित्य में ही वीर-भावना को स्थान मिला। प्रत्येक राजा के यश एवं कीर्ति का बखान करने वाला चारण या भाट राजा के आश्रय में रहा करता था, अतः उसे भी युद्ध के इस वातावरण मे राजाओं की वीरता-विषयक गाथाएँ बढ़ा-चढ़ा कर कहनी पड़ती थी और इस प्रकार राजा को युद्ध-क्षेत्र में वीरता दिखाने के लिए प्रोत्साहित करना पड़ता था। इस काल में अधिकांशतः साहित्य का निर्माण युद्ध-क्षेत्र की इन वीर भावनाओं में हुआ; अतः साहित्य में भी वीर रस ने स्थान जमा लिया। इस युद्ध के साहित्य में भी वीर गाथाओं (कहानियों) की गाथा है; अतः उसी के आधार पर इस युग में वीर रस का संचार साहित्य में हुआ। वीर रस का साहित्य में वर्णन होने के कारण ही इसे वीरगाथा काल के नाम से पुकारा गया। लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि इस युग में केवल वीरता सम्बन्धी काव्य ही रचे गये अथवा अन्य प्रकार के कोई काव्य नहीं रचे। वास्तविकता तो यह है कि प्रत्येक युग में प्रायः सभी प्रकार की रचनाएँ हुआ करती हैं परन्तु एक युग में एक ही प्रकार की भावनाओं की प्रधानता रहती है अन्य प्रकार की भावनाओं का रूप गौण हुआ करता है। प्रधान भावनाओं का

साहित्य ही प्रतिनिधि साहित्य माना जाता है। इसी प्रकार वीरगाथा काल में वीर रस की भावनाओं के साहित्य का ही प्रतिनिधित्व रहा है। अतः इसी आधार पर हम इस काल को वीरगाथा काल कहते है।

वीरगाथा काल के पश्चात् दूसरा काल आता है भक्ति काल का। इसका समय संवत् १३७५ से १७०० तक माना गया है। यह वह समय है जबकि भारत पर पूर्णतः मुसलमानों का राज्य हो गया था। मुसलमान हमारे शासक थे और हम हिन्दू उनके गुलाम। अतः आपसी संघर्ष का तो कोई स्थान ही नहीं था परन्तु धीरे-धीरे विदेशी लोगों ने अपने धर्म का प्रचार और प्रसार जब यहाँ करना शुरू किया तो धार्मिक युद्ध शुरू हो गया। मुसलमानों ने तलवार के नाम पर अपना धर्म फैलाना शुरू किया तो हिन्दुओं ने उसका विरोध किया और निर्बल तथा असहाय होने के कारण हिन्दुओं ने अपने इष्ट-देव को जो संकट के समय भक्तों की मदद करता है, पुकारना प्रारम्भ कर दिया। फलतः सम्पूर्ण समाज में यही धार्मिक या भक्ति की भावना भर गई। तत्कालीन सन्तों एवं महात्माओं ने इस विचारधारा का प्रतिनिधित्व किया और इस प्रकार भगवद्-भक्ति-विषयक भावनाओं से सारा हिन्दू समाज परि-पूर्ण हो गया। 'जैसा समाज वैसा साहित्य' के अनुसार इस भक्ति-भावना का साहित्य में भी प्रवेश हुआ। तत्कालीन कवीर आदि सन्तों ने हिन्दू-मुस्लिम एकता स्थापित करने का प्रयास किया और भगवान् के रूप को श्रेष्ठ ठहराया तथा अन्य धार्मिक झगड़ों को व्यर्थ बताया। इसी प्रकार सूर और तुलसी ने क्रमशः भगवान् कृष्ण और राम के गुणों का बखान कर तत्कालीन साहित्य को भक्ति की भावनाओं से भर दिया। अतः इस काल का नाम भक्ति काल ही उचित था।

भक्ति काल के पश्चात् तीसरा काल रीति काल आता है। इसका समय संवत् १७०० से १९०० तक माना गया है। इस युग में पूर्णतया शान्ति थी, न राज्य के लिए संघर्ष था, न धर्म के लिए। सर्वत्र शान्ति और आनन्द था। राजा और प्रजा दोनों ही अपनी वर्तमान स्थिति से सन्तुष्ट थे। किसी प्रकार की कोई समस्या नहीं थी अतः इस शान्ति एवं आनन्द के वातावरण ने साहित्य में भी हिस्सा बँटाया। साहित्य में भी ऐसी रचनाएँ होने लगीं जिनका सम्बन्ध आश्रयदाता राजाओं का मनोरंजन करना हुआ करता था। इस काल के राजा बड़े विलासी हुआ करते थे। प्रत्येक राजा अपने दरबार में

एक न एक कवि भी रखा करता था; जिसका लक्ष्य एकमात्र साहित्य के द्वारा राजा का मनोविनोद करना हुआ करता था। राज्याश्रित कवि नायिकाओं के नखशिख शृंगार का वर्णन कर राजाओं को लुभाया करते थे और अधिक से अधिक इनाम प्राप्त किया करते थे। कवियों के शृंगार वर्णन के कारण ही इस काल में शृंगार की अनवरत धारा प्रवाहित हुई। शृंगार के अतिरिक्त प्रत्येक कवि को लक्षण-ग्रन्थ लिखना पड़ता था। बिना लक्षण-ग्रन्थ लिखे कोई कवि महाकवि नहीं बन सकता था। इन्हीं लक्षण-ग्रन्थों को रीति-ग्रन्थ भी कहा जाता है। अतः लक्षण-ग्रन्थों का रीति-ग्रन्थों की भरमार के कारण ही इस युग का नाम रीति-काल पड़ा। इसका यह नामकरण इस युग की साहित्यिक भावनाओं के आधार पर ही हुआ है।

रीतिकाल के पश्चात् जो काल आया उसका नाम है—आधुनिक काल। इसका समय संवत् १९०० से आज तक माना जाता है। आज तक इसलिए कि इस युग में साहित्यिक कृतियाँ अभी तक लिखी जा रही हैं। कुछ विद्वान इस युग को गद्य-युग के नाम से भी पुकारते हैं, क्योंकि गद्य का परिचय एवं पूर्ण विकास इस युग में हुआ है। साहित्यिक भावनाओं की दृष्टि से तो इस युग में राष्ट्र-प्रेम या स्वदेश-प्रेम विषयक रचनाओं की ही बहुतायत रही है, अतः कतिपय विद्वान इसे राष्ट्रयुग के नाम से पुकारना चाहते हैं। जो हो, अभी तक इसका सही नामकरण नहीं हुआ है।

संक्षेप में हिन्दी-साहित्य के ही चार विभाग क्रमशः वीरगाथाकाल, भक्ति काल, रीति काल और आधुनिक काल के नाम से पुकारे जाते है। ये नाम चूँकि तत्कालीन भावनाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं अतः उचित ही हैं।

प्रश्न ४—हिन्दी-साहित्य के इतिहास को कितने कालों में विभाजित किया गया है। किसी एक काल का परिचय दीजिए।

अथवा

वीरगाथा काल का सामान्य परिचय देते हुए उसकी विशेषताएँ बताइए।

(संवत् २०२१, २०२४)

उत्तर—हिन्दी-साहित्य के इतिहास को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है, जो क्रमशः इस प्रकार है—

(१) वीरगाथा काल	संवत् १०५० से १३७५ तक
(२) भक्ति काल	संवत् १३७५ से १७०० तक

(३) रीति काल संवत् १७०० से १९०० तक
(४) आधुनिक काल संवत् १९०० से आज तक
(चारों कालों के संक्षिप्त विवेचन के लिए प्रश्न नं० ३ देखें)

उपर्युक्त चार कालों में से अब हम केवल एक अर्थात् वीरगाथा काल का सामान्य परिचय देना चाहेंगे; साथ ही उसकी विशेषताओं पर भी कुछ प्रकाश डालना चाहेंगे।

पं० रामचन्द्र शुक्ल के मतानुसार यह काल संवत् १०५० से १३७५ तक माना जाता है। इस समय अपभ्रंश काल के पश्चात् हिन्दी-साहित्य की भाषा बन चुकी थी। राजनैतिक तथा सामाजिक दृष्टि से यह समय उथल-पुथल का था। देश छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटा हुआ था। प्रत्येक टुकड़े या भू-भाग का एक राजा हुआ करता था। वह राजा अपने समान शूरता एवं वीरता में दूसरे राजा को कुछ भी नहीं समझता था। इतना ही नहीं, तत्कालीन राजाओं का प्रधान लक्ष्य दूसरे राज्यों पर आक्रमण कर अपने राज्य में मिलाना हुआ करता था। इसी समय जहाँ एक ओर तो ये राजा लोग आपस में लड़ रहे थे वहाँ यवनों के भी आक्रमण शुरू हो गये।

परिणामस्वरूप सदैव युद्ध का उन्माद छाया रहता था। युद्ध के उन्माद के होने के कारण सर्वत्र वीरता की लहर फैल रही थी। साहित्य और समाज का अटूट सम्बन्ध होता है। जैसा समाज होगा, उसका प्रभाव साहित्य पर भी निश्चय ही उसी रूप में पड़ा करता है। अतः तत्कालीन साहित्य में हम वीरता के दर्शन करते हैं। राजनैतिक परिस्थितियों के अतिरिक्त 'यथा राजा तथा प्रजा' के अनुसार समाज में भी शान्ति नहीं थी। विवाह आदि कार्यों से भी युद्धों की प्रधानता रहा करती थी। दूसरे शब्दों में यह वीर-पूजा का युग था, अतः इस युग में युद्ध के उन्माद के साथ ही साथ वीरता का भी समाज में महान मूल्य आँका जाता था। वीरता ही सच्ची शक्ति हुआ करती थी अतः समाज में सर्वत्र ही युद्ध एवं अशान्ति का वातावरण था। साहित्य समाज का दर्पण होता है अतः तत्कालीन राजनीतिक एवं सामाजिक उथल-पुथल की परिस्थितियों का इस युग के साहित्य पर महान प्रभाव पड़ा। इसी प्रभाव के फलस्वरूप वीर-रस से पूर्ण साहित्य का निर्माण हुआ। वीर-रस से पूर्ण होने के कारण ही आचार्य शुक्ल ने इसका नाम वीरगाथा काल रखा। एक बात और विचारणीय है और वह यह कि इस काल में प्रत्येक राजा के आश्रय में राजाओं

की प्रशंसा करने वाले चारण या भाट रहा करते थे और ये चारण और भाट केवल कवि ही न थे, अपितु समय आने पर वे कलम के स्थान पर तलवार पकड़ कर युद्ध-क्षेत्र मे भी जाया करते थे। अतः तत्कालीन काव्यों में जो भी वीरता का वर्णन किया गया है वह कोरा काल्पनिक नहीं है, अपितु आँखों देखा है। इतनी बात अवश्य है कि चारणों या भाटो ने कहीं-कहीं अपने राजा की वीरता का वर्णन करते समय अतिशयोक्ति का सहारा जरूर ले लिया है।

वीर-भावनाओं का समाज में प्राधान्य होने के कारण ही उस काल में वीर-रस पूर्ण काव्यो का सृजन हुआ। सं० १२०० से १३७५ तक के समय में प्रमुख वीर-रस प्रधान ग्रन्थों; यथा—बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो, हमीर रासो और आल्हखंड आदि ग्रन्थों की रचना हुई। इस युग के प्रतिनिधि कवि चन्दवरदाई हैं और पृथ्वीराज रासो प्रतिनिधि ग्रन्थ माना जाता है।

वीरगाथाकाल की सामान्य रूप में विशेषताएँ—(१) इस युग में लिखे गये काव्यों मे प्रधान रस वीर रस हुआ करता था, शृंगार रस गौण रूप मे प्रयुक्त होता था।

(२) युद्धों का सजीव वर्णन मिलता है, क्योंकि स्वयं कवि भी युद्ध-क्षेत्र में तलवार उठाया करते थे।

(३) इस काल में नर-काव्यों का ही निर्माण हुआ है, विशेषकर राजाओं का।

(४) चारण या भाट ही इस युग के कवि थे, अत. उन्होंने अपने आश्रयदाताओं की वीरता को खूब बढ़ा-चढ़ा कर वर्णन किया है।

(५) इस काल के काव्यों में ऐतिहासिकता का अभाव है।

(६) इस युग में दो भाषायें प्रचलित थी—डिंगल और पिंगल। वीर-रस के वर्णन में डिंगल की भाषा सफल मानी जाती है। रासो काव्य में प्रायः डिंगल भाषा ही है।

(७) छन्दों की दृष्टि से आर्या, तोटक, दूहा, कवित्त आदि छन्दों का प्रयोग हुआ है।

प्रश्न ४—वीरगाथाकाल की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख करते हुए तत्कालीन किसी एक कवि की काव्यगत विशेषताओं को लिखिये।

(संवत् २०२४)

उत्तर—(पूर्व भाग का प्रश्न नं० ४ में देखें)।

वीर गाथा काल के प्रतिनिधि कवि चन्दबरदाईकृत 'पृथ्वीराज रासो' ग्रन्थ की काव्यगत विशेषताएँ—चन्दवरदाई कृत 'पृथ्वीराज रासो' वीरगाथा काल की प्रतिनिधि रचना है। इस ग्रन्थ का रचना काल लगभग संवत् १२२५ से ४९ तक माना जाता है। ये जाति के भाट थे और दिल्ली नरेश पृथ्वीराज चौहान के आश्रित कवि थे। आप हमेशा पृथ्वीराज के साथ ही रहा करते थे।

पृथ्वीराज रासो २५०० पृष्ठ का प्रबन्ध काव्य है जिसमें आरम्भ में अग्नि कुल के क्षत्रियों के उद्भव की कहानी बताई गई है। इसी कुल में पृथ्वीराज का जन्म बताया गया है। पृथ्वीराज का संयोगिता से गान्धर्व विधि से विवाह करना और इससे चिढ़कर संयोगिता के पिता जयचन्द का पृथ्वीराज से युद्ध किये जाने तक का वर्णन ६९ सर्गों में हुआ है। सर्गों को 'समय' नाम दिया गया है। यह ग्रन्थ वीर-रस से ओत-प्रोत है। युद्ध का इसमें सजीव वर्णन मिलता है, क्योंकि कवि चन्दवरदाई स्वयं भी पृथ्वीराज के साथ युद्ध-क्षेत्र में तलवार लेकर जाया करते थे। यह अपने समय का प्रतिनिधि ग्रन्थ माना जाता है और इतना ही नहीं, हिन्दी का यही सबसे पहला महाकाव्य भी है।

यह ग्रन्थ नरकाव्य है। इसमें पृथ्वीराज चौहान के जीवन का सर्वांगीण चित्रण मिलता है, अतः यह प्रबन्ध काव्य कहा जाता है। इसमें मुख्य रस वीर है परन्तु वीर के साथ गौण रूप में शृंगार का भी वर्णन मिलता है। कवि चन्दवरदाई जाति के भाट थे और पृथ्वीराज के आश्रित कवि थे अतः इस युग की परिपाटी के अनुसार उन्होंने भी अपने काव्य में कल्पना की ऊँची उड़ानें भरी हैं, कहीं-कहीं तो इतना बढ़ा-चढ़ा कर वर्णन कर दिया है कि उसमें सचाई का अंश भी नहीं रहा। इस ग्रन्थ में राजस्थानी मिश्रित ब्रजभाषा प्रयुक्त हुई है। छन्दों की दृष्टि से इसमें छप्पय, दूहा, आर्या, कवित्त आदि छन्दों का प्रयोग हुआ है।

प्रश्न ६—पृथ्वीराज रासो का संक्षिप्त परिचय देते हुए इसकी प्रामाणिकता पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—वीरगाथा की प्रतिनिधि रचना और हिन्दी का प्रथम महाकाव्य चन्दवरदाई कृत पृथ्वीराजरासो माना जाता है। यह संवत् बारह सौ के उत्तरार्द्ध

की रचना है। इसमें क्षत्रियों की उत्पत्ति से लेकर पृथ्वीराज की मृत्यु तक का वर्णन मिलता है। इसके अब तक चार रूपान्तर मिलते हैं जो क्रमशः इस प्रकार हैं :

(१) वृहद रूपान्तर—जिनमें लगभग एक लाख छन्द हैं।
(२) मध्यम रूपान्तर—जिसमें लगभग दस हजार छन्द हैं।
(३) लघु रूपान्तर—जिसमें लगभग दो हजार छन्द हैं।
(४) लघुतम रूपान्तर—जिसमें लगभग दो हजार छन्द हैं।

लेकिन उपर्युक्त रूपान्तरों में से कौन-से प्रामाणिक हैं, इस विषय मे विद्वानों मे मतभेद है। इसी मतभेद को लेकर विद्वानों के दो दल बन गये। एक दल के विद्वान इस ग्रन्थ को भिन्न-भिन्न तर्कों के आधार पर पूर्णतया अप्रामाणिक मानते हैं तो दूसरे दल के विद्वान प्रथम दल के मतों का खण्डन कर इस ग्रन्थ को प्रामाणिक सिद्ध करना चाहते हैं। जो हो, इन मतों का विवेचन हम क्रमशः प्रस्तुत करेंगे।

रासो की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता में जाने से पूर्व हम उसके साहित्यिक मूल्यांकन की चर्चा करना चाहेगे। यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि रासो की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता को लेकर जो विवाद चला और विद्वानों ने अपने-अपने तर्कों की पुष्टि में जो समय लगाया, उसका थोड़ा भी अंश उन लोगों ने इस ग्रन्थ की साहित्यिकता के आँकने में नही लगाया।

जो कुछ भी हो 'पृथ्वीराज रासो' अपने समय का एक प्रतिनिधि ग्रन्थ है और इसमें तत्कालीन साहित्यिक प्रवृत्तियों के सुन्दर दर्शन होते है। इसका प्रधान रस वीर है और शृंगार रस का प्रयोग गौण रूप मे हुआ है। पृथ्वीराज इसका प्रधान पात्र है। पृथ्वीराज की वीरता का बखान करना ही इसके रचयिता का मुख्य लक्ष्य रहा है। युद्धों का वर्णन सजीव हुआ है, क्योंकि इस काल के राज्याश्रित चारण भाट कवि होने के साथ ही साथ महान योद्धा भी हुआ करते थे। इसमें तत्कालीन तोमर, दूहा, छप्पय, आर्या, पद्धति आदि प्राचीन छन्दों का प्रयोग हुआ है। भाषा की दृष्टि से इसमें राजस्थानी मिश्रित व्रजभाषा का प्रयोग हुआ है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता को छोड़कर निश्चय ही यह ग्रन्थ हिन्दी का प्रथम महाकाव्य है और तत्कालीन प्रवृत्तियों का सुन्दर वर्णन प्रस्तुत करता है। म काव्य की दृष्टि से यह एक सफल काव्य है।

पृथ्वीराज रासो की अप्रामाणिकता—'पृथ्वीराज रासो' को अप्रामाणिक सिद्ध करने वालों में सर्वप्रथम नाम राजपूताना के प्रसिद्ध इतिहास तत्ववेत्ता कविराज श्यामलदास का आता है। इसके पश्चात् डॉ० बूलर को जयानक कृत 'पृथ्वीराज विजय नामक अपूर्ण ग्रन्थ कश्मीर में प्राप्त हुआ तो इसमें और प्रामाणिकता के बारे में अनेक सन्देह उत्पन्न हुए। पृथ्वीराज रासो को अप्रामाणिक मानने वालों में राजस्थान के इतिहासज्ञ डॉ० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, नरोत्तम स्वामी, आचार्य शुक्ल आदि विद्वान भी आते हैं। इन मनीषियों ने जयानक कवि कृत 'पृथ्वीराज विजय' की तिथियों एवं नामों को अधिक प्रामाणिक मानते हुए और पृथ्वीराज रासो से उसका वैषम्य देखकर ही इस ग्रन्थ को अप्रामाणिक ठहराया है। ये विद्वान अप्रामाणिकता को पुष्ट करने वाले निम्न कारण प्रस्तुत करते हैं—

(१) इसमें वर्णित घटनाओं—संयोगिता स्वयंवर, जयचन्द्र का राजसूय यज्ञ करना, पृथ्वीराज का दिल्ली के राजा को गोद जाना आदि में कल्पना की ऊँची उड़ान है। उनमें ऐतिहासिकता का समावेश शून्यवत् है।

(२) 'पृथ्वीराज विजय' के रचयिता जयानक कवि का पृथ्वीराज के दरबार में आना इतिहास सम्मत है। उनके द्वारा रचित 'पृथ्वीराज विजय' नामक काव्य में चन्द कवि का नाम तक नही है अतः यह सिद्ध होता है कि चन्द कृत 'पृथ्वीराज रासो' बाद के किसी अन्य कवि की रचना है, पृथ्वीराज चौहान के दरबारी कवि की नहीं।

(३) 'पृथ्वीराज रासो' में वर्णित घटनाओं का इतिहास की तिथियों से कोई मेल नही बैठता है। अतः यह सिद्ध होता है कि उसमें दिए गए संवत् अप्रामाणिक हैं।

(४) भाषा की दृष्टि से इस ग्रन्थ की भाषा निश्चय ही सोलहवीं शताब्दी की है, तेरहवीं शताब्दी की नहीं। जब भाषा सोलहवीं शताब्दी की है तो निश्चय ही यह ग्रन्थ पृथ्वीराज का समकालीन न होकर बाद की रचना है।

(५) इसमें वर्णित पात्रों के नाम तथा पृथ्वीराज की माता का नाम कमलादेवी आदि इतिहास एव शिलालेखों से मेल नही खाते हैं। हांसी के शिलालेखों में पृथ्वीराज की माता का नाम कर्पूरीदेवी ही है जिसका उल्लेख जयानक कवि ने अपने ग्रन्थ 'पृथ्वीराज विजय' में किया है। ऐसी भयंकर

की रचना है। इसमें अग्निमें की ...

भूल कोई भी समकालीन कवि नहीं कर सकता है। अतः निश्चय ही यह ग्रन्थ किसी बाद वाले कवि की रचना है।

रासो की प्रामाणिकता—दूसरे दल के विद्वानों ने भी गहन चिन्तन एवं मनन के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि चन्दबरदाई कृत 'पृथ्वीराज रासो' एक प्रामाणिक रचना है। इस दल के विद्वानों में सर्वप्रथम नाम पण्डित मोहनलाल विष्णुलाल पांड्या का आता है। पांड्याजी ने संवत् के अन्तर को कोई मुख्य बात नहीं माना है। उनके मत में चन्द ने एक नया 'आनन्द' नाम संवत चलाया था जो विक्रम संवत् से ९० वर्ष पीछे से प्रारम्भ होता है। परन्तु यह मत पूरी तरह खरा नहीं उतरता है। पांड्या जी के पश्चात् इस ग्रन्थ को प्रामाणिक सिद्ध करने वाले विद्वानों मे मिश्रबन्धु, बाबू श्यामसुन्दरदास, डॉ० दशरथ ओझा तथा मुनि जिन विजय आदि का नाम आता है। इन विद्वानों के मतानुसार चन्द कृत रासो लिखा अवश्य गया परन्तु वह मूल रूप मे बहुत छोटा रहा होगा। बाद में अन्य लोगों ने प्रक्षिप्त अंशो को जोड़कर उसको विस्तार दे दिया है। वर्णनों मे अत्युक्ति एवं अतिशयोक्ति आ गयी है और उसके कारण ऐतिहासिकता मे कमी हो गयी है। उसका कारण चन्द कवि का राज्याश्रित होना ही है। पृथ्वीराज की माता के नाम मे जो अन्तर आया है उसका कारण संभवतः यह रहा होगा कि उनके दो नाम रहे होंगे—एक घर का और दूसरा विवाह के बाद का।

निष्कर्ष—उपर्युक्त दोनों मतों को प्रस्तुत करने के पश्चात् विद्वान पूर्णतया अभी तक किसी एक निष्कर्ष पर नही पहुँच सके हैं। वास्तव में आलोचक इस विषय मे अभी अन्धकार में हैं कि इसको वे प्रामाणिक सिद्ध करें या अप्रामाणिक। परन्तु दोनों वर्गों के मतों का निष्कर्ष इस रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है—

(१) यह ग्रन्थ पूर्णतया सप्रामाणिक नहीं है।

(२) यह मूलरूप में बहुत छोटा ग्रंथ रहा होगा, किन्तु बाद में प्रक्षिप्त अंशों में जुड़ जाने के पश्चात् यह विशाल आकार में हो गया है।

कुछ भी हो, यदि हम इसकी प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता के झगड़े में न पड़ें तो इतना निश्चित रूप से कहा ही जा सकता है कि यह हिन्दी-साहित्य की एक अमूल निधि है। साहित्यिकता की दृष्टि से इसका अपना महत्व है।

प्रश्न ६—हिन्दी-साहित्य में भक्तिकाल का जन्म कैसे हुआ ? इसका सामान्य परिचय दीजिये। अथवा

भक्ति काल का सामान्य परिचय व विशेषताएँ बताइये। (संवत् २०२०)

उत्तर—वीरगाथा काल की समाप्ति के पश्चात् भक्ति काल आता है। इसका समय बाबू रामचन्द्र शुक्ल के मतानुसार संवत् १३७५ से १७०० तक ठहरता है। इस समय तक उत्तर भारत पर मुसलमानों का राज्य स्थापित हो चुका था। मुसलमानों के इस देश पर हावी हो जाने के परिणामस्वरूप सभी क्षेत्रों में अशान्ति मच गई। मुसलमान लोग तलवार के बल पर अपना धर्म प्रचार कर रहे थे। फलतः हिन्दू और मुसलमानों में धार्मिक संघर्ष चल रहा था। धार्मिक संघर्ष का कारण राजा (मुसलमान) और प्रजा (हिन्दू) दोनों में विक्षोभ था। शासक तो इसलिए दुःखी था कि धार्मिक विक्षोभ के कारण राजनीतिक वातावरण में भी बड़ी उथल-पुथल मची हुई थी और असहाय हिन्दुओं के सामने भी इन विषम परिस्थितियों में भगवद्-स्मरण के सिवाय अन्य कोई मार्ग दिखाई नहीं दिया। हिन्दुओं की आँखों के सामने भगवान् का भक्त वत्सल रूप दिखाई देने लगा और उन्होंने अनुभव किया कि इस मुसीबत से छुटकारा केवल भगवद्-स्मरण से ही मिल सकता है। अतः इसी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप भक्ति का जन्म हुआ। इस सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल का मत विचारों के परिणामस्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है। आचार्य शुक्ल के मतानुसार—

"इतने भारी राजनीतिक उलट-फेर के पीछे हिन्दू जन-समुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी-सी छाई रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान् की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था ?"

बहुत समय तक भक्तिकाल के जन्म के कारण की यही भावना मानी जाती रही परन्तु इधर डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि विद्वानों ने इस मत का सबल प्रमाणों के आधार पर खण्डन करते हुए सिद्ध किया है कि भक्ति का सम्बन्ध हिन्दुओं की दीन एवं असहाय दशा से नहीं है, क्योंकि भक्ति का सर्वप्रथम विकास दक्षिण भारत के उस भाग में हुआ जो राजनीतिक एवं धार्मिक अशान्ति से पूर्णतया अछूता था और कालान्तर में वही दक्षिण की भक्तिधारा उत्तर में आ गई।

१८ | प्रथमा दिग्दर्शन

एक बात और विचारणीय है और वह यह कि इस समय भारत में विभिन्न धर्मों का बोलबाला था। कहीं पर सिद्धों का जोर था तो कहीं पर हठयोगियों का, कहीं पर शैवों, शाक्तों और वैष्णवों का। प्रत्येक धर्मानुयायी अपने-अपने धर्म के प्रचार में लगा हुआ था। अतः हिन्दू जनता बड़े असमंजस में थी कि किस धर्म को स्वीकार किया जाय। ऐसी असमंजस की दशा में ही भारतीय जनता को सही मार्ग दिखाने के लिए ही भक्ति-मार्ग का जन्म हुआ।

भक्ति काल को दो भागों में बाँटा जा सकता है—(अ) निर्गुण भक्ति और (आ) सगुण भक्ति।

निर्गुण भक्ति के पुनः दो भेद हो गये है—(१) ज्ञानमार्गी भक्ति और (२) प्रेममार्गी भक्ति।

इसी भाँति सगुण भक्ति के भी दो भेद हो गये हैं—(१) राममार्गी भक्ति और (२) कृष्णमार्गी भक्ति।

निर्गुण भक्ति की प्रथम शाखा के प्रतिनिधि कवि कबीरदास जी हुए। कबीर ने इस क्षेत्र में आते ही बड़ा परिवर्तन किया। उन्होने ईश्वर की प्राप्ति मे ज्ञान को ही प्रधान सोपान माना और इसी का सहारा लेकर धर्म के क्षेत्र मे निर्गुण निराकार ईश्वर को स्वीकार किया। ईश्वर के इस रूप को मानने से वे हिन्दू तथा मुसलमान दोनों एक दूसरे को समीप ला सके और इस प्रकार हिन्दू-मुसलमानों के मध्य बनी हुई भयंकर खाई पाटने का अद्भुत प्रयास किया। कबीर के ज्ञानवाद का महत्व तो बड़ा ही सूक्ष्म और चिन्तन-मनन का था। अतः वह जनसाधारण की पहुंच के बाहर था परन्तु कबीरदास ने तत्कालीन हिन्दू-मुस्लिम धार्मिक आडम्बरो की जो छीछालेदर की है, उससे समाज की बुराइयों का निश्चय ही नाश हुआ है और समाज में सुधार-वाद की भावना आई है। इतना ही नही उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम एकता का भी अच्छा प्रयास किया है और देश की अशान्त दशा को बहुत हद-तक शान्त भी किया है।

निर्गुण भक्ति की द्वितीय शाखा प्रेममार्गी कहलाई और इसके प्रतिनिधि कवि जायसी आदि थे। इन प्रेममार्गी भक्तों ने ज्ञान के स्थान पर प्रेम की प्रतिष्ठा की है। इस प्रेममार्गी शाखा के कवियो मे अधिकांश मुसलमान ही

थे। इन मुस्लिम कवियों ने अपने ग्रन्थों में हिन्दू कहानियों का वर्णन करते हुए उसमें मुस्लिम धर्म का ही प्रतिपादन किया है। अतः हिन्दू-मुस्लिम एकता की दृष्टि से इन कवियों का प्रयास बहुत ही प्रशंसनीय रहा है।

निर्गुण भक्ति से हिन्दू जनता को कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। अतः हिन्दुओं की धार्मिक भावनाओं के अनुरूप ही साहित्य में सगुण भक्ति का जन्म हुआ। इस सगुण भक्ति के पोषकों के भी दो दल थे। एक दल भगवान् राम को अपना इष्ट मानकर उनके कार्य और आदर्शों को जनता के सामने रख रहा था। इस दल के प्रतिनिधि कवि हुए गोस्वामी तुलसीदास जी और उनका ग्रन्थ था—'रामचरितमानस'। दूसरा दल भगवान् कृष्ण के कार्यकलापों का बखान करता हुआ जनता को भगवान् कृष्ण की भक्ति में लगा रहा था। इस धारा के प्रतिनिधि कवि सूरदास जी हुए हैं। राम और कृष्ण दोनों ही भगवान् के अवतार माने जाते हैं, इसका उल्लेख पुराणों में भी मिलता है। अतः पूर्व काल की चली आती हुई धार्मिकता पुनः दृढ़ हो गई और हिन्दुओं को एक बहुत बड़ा आधार मिल गया।

भक्तिकाल की सामान्य विशेषताएँ—(१) इस काल के प्रायः सभी कवि उच्च कोटि के सन्त और महात्मा थे। वे किसी के आश्रय में न रहकर स्वच्छन्द रूप में कविता किया करते थे। उनका लक्ष्य जनता में भगवान् की महत्ता का प्रचार करना था।

(२) इस काल के कवियों ने धार्मिक क्षेत्र में मुख्यतः सुधार किया। इसके अतिरिक्त सामाजिक, पारिवारिक एवं राजनीतिक क्षेत्र में भी इन संत कवियों ने बहुत सुधार किया है।

(३) इस काल में भगवान् के नाम, जप और कीर्तन को मुख्य स्थान दिया गया है।

(४) सभी भक्त कवियों के अहंकार एवं बाहरी आडम्बरों का विरोध कर ईश्वर से निश्चल भाव से सम्बन्ध स्थापित करने पर जोर दिया है।

(५) इस काल में प्रायः सभी प्रकार के काव्य रचे गये—मुक्तक, खण्ड और महाकाव्य आदि।

(६) भाषा की दृष्टि से इस युग में तीन भाषाओं की प्रधानता रही—(१) कबीर आदि सन्त कवियों की पंचमेल खिचड़ी भाषा, (२) प्रेम मार्गी और राममार्गी कवियों की अवधी भाषा, तथा (३) कृष्णमार्गी कवियों की ब्रजभाषा।

(७) इस काल में छन्दों की दृष्टि से कबीर ने दोहों का, सूर ने पदों का, जायसी और तुलसी ने दोहा, चौपाइयों आदि छन्दों का प्रयोग किया है। जैसे तुलसी ने प्रायः अब तक काव्य में प्रयुक्त सभी छन्दों का प्रयोग किया है।

(८) रस की दृष्टि से शान्त रस की प्रधानता रही है। शान्त के अतिरिक्त अन्य रसों का प्रयोग गौण रूप में हुआ है।

प्रश्न ८—"हिन्दी साहित्य के इतिहास में भक्तिकाल का एक विशेष स्थान है।" इस कथन की पुष्टि कीजिए।

अथवा

सिद्ध कीजिए कि "भक्ति काल हिन्दी साहित्य का स्वर्ण-युग था"।

(सन् १९७२)

उत्तर—चौदहवी शताब्दी और सत्रहवी शताब्दी के मध्य जो साहित्य रचा गया वह भक्ति काल की कोटि मे गिना जाता है। वह युग जहाँ आध्यात्मिक रूप का परिचय करता है वहाँ लौकिक जीवन की समस्याओं पर भी प्रकाश डालता है। इस काल में साहित्य ने निश्चय ही धार्मिक एवं राजनीतिक क्षेत्र में समन्वय का कार्य प्रस्तुत किया। अपने इसी गुण के कारण इस युग के साहित्य ने हिन्दी-साहित्य के पूर्ववर्ती वीरगाथा काल और परवर्ती रीतिकाल, आधुनिक काल के साहित्य से अधिक प्रभाव एवं महत्व प्राप्त किया है। डॉ० श्यामसुन्दरदास के शब्दों में हम भक्ति काल के साहित्य के महत्व को प्रस्तुत करना चाहेगे। आपके मतानुसार—

"जिस युग में कबीर, जायसी, तुलसी, सूर जैसे रस-सिद्ध कवियो और महात्माओ की दिव्य वाणी उनके अन्तःकरणो से निकल कर देश के कोने-कोने में फैली हो, उसे साहित्य के इतिहास मे सामान्यतः भक्ति-युग कहते हैं। निश्चय ही वह हिन्दी-साहित्य का स्वर्ण-युग ही था।"

निश्चय ही इस युग के साहित्य ने जितना भारतीय जन-मानस को प्रभावित किया है, सम्भवत. उतना तो शेष तीनों कालो के मिले हुए साहित्य ने भी नही किया है। इतना ही नहीं, भारतीय भाषाओं के अतिरिक्त विश्व की सम्भवतः कोई भी ऐसी समृद्ध भाषा नही होगी जिसमे भक्तिकालीन ग्रन्थों का अनुवाद न हुआ हो। इसका आशय यह निकला कि इस साहित्य ने विश्व-साहित्य मे अपना स्थान जमा लिया है। इस काल के साहित्य का और स्पष्ट मूल्यांकन करते हुए डॉ० श्यामसुन्दरदास कहते हैं—'हिन्दू काव्य मे से यदि

वैष्णव कवियों के काव्य को निकाल दिया जाय तो जो बचेगा वह इतना हल्का होगा कि हम उस पर किसी प्रकार का गर्व न कर सकेंगे। लगभग इन वर्षों की इस हृदय और मन की साधना के बल पर ही हिन्दी अपना सिर अन्य प्रान्तीय साहित्यों के ऊपर किये हुए है। तुलसीदास, सूरदास नन्ददास, मीरा, रसखान, हितहरिवंश, कबीर इनमें से किसी पर भी संसार का कोई साहित्य गर्व कर सकता है। हमारे पास ये सब हैं। ये वैष्णव कवि हिन्दी भारती के कण्ठमाल हैं।" निस्सन्देह उपर्युक्त सभी विशेषताओं के कारण हिन्दी-साहित्य के इतिहास में इस काल के साहित्य का अपना विशेष महत्व है।

अब हम भक्तिकालीन साहित्य की उन विशेषताओं पर प्रकाश डालना चाहेंगे जिनके आधार पर इस काल को हिन्दी-साहित्य का स्वर्ण-युग कहा गया—

(१) इस काल की सबसे प्रधान विशेषता यह रही कि तत्कालीन साहित्य ने हिन्दू संस्कृति और धर्म के टेढ़े समय में रक्षा की। दूसरे धर्म का जो रूप प्रवाहित हुआ उनसे हिन्दू और मुसलमान दोनों ही धर्मों में विरोध न होकर एकता की भावना का विकास हुआ। इस तरह जहाँ इस काल के साहित्य ने धार्मिक समन्वय को प्रोत्साहन दिया जहाँ राजनीतिक, सामाजिक आदि समस्याओं के सुलझाने में भी योग दिया।

(२) इस काल में रचे गये साहित्य में केवल धार्मिक भावना की ही प्रधानता नहीं है। धार्मिक भावना के साथ काव्य के श्रेष्ठ रूपों का भी इसमें विकास हुआ है। काव्य के विभिन्न भेदों; यथा—मुक्तक, खण्ड एवं प्रबन्ध काव्यों का जहाँ निर्माण हुआ वहाँ उनमें रसों की भी सुन्दर व्यंजना हुई है। नवधा भक्ति के साथ ही साथ नव रसों का भी सुन्दर वर्णन हमें इस काल के काव्यों में मिल जाता है।

(३) इस काल के कवि राज्याश्रित न होकर कुटियों में न रहने वाले साधु-सन्त थे, जिनका सांसारिक आकर्षणों एवं माया-मोह से कोई सम्बन्ध नहीं था। उनका कविता करने का एकमात्र लक्ष्य स्वान्तः सुखाय था और यह स्वान्तः सुखाय अपने मूल में 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' के सिद्धान्त के लिये रहता था। उन्होंने सत्संगति एवं वेद-शास्त्रों के चिन्तन-मनन के पश्चात्

गूढ रहस्यो को जन-साधारण के समक्ष सीधी-सादी जन बोली मे व्यक्त कर दिया है। जन-भाषा मे इस काल की रचनाएँ होने से उन्होने जन-मानस को अधिक प्रभावित किया है।

(४) इस काल के कवियो ने लोक-परलोक दोनों ही रूप का सम्यक् वर्णन अपने ग्रन्थों मे किया है। निर्गुण मार्गी कवियों ने ज्ञान के माध्यम से ईश्वर प्राप्ति का मार्ग सुझाया है। ज्ञान का अर्थ—सम्भवतः जप, तप, सत्संग कीर्तन आदि ही है और सगुण मार्गी कवियो ने स्वयं भगवान के अवतार—राम और कृष्ण की लीलाओ एवं आदर्शों का सुन्दर रूप में वर्णन कर इसी पृथ्वी पर स्वर्गलोक को उतार दिया।

(५) इस काल की रचनाओं मे शील और सदाचार का बड़ा ध्यान रखा गया। शील और सदाचार नामक गुणो के आधार पर इस साहित्य की महत्ता सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य मे ही नही, अपितु विश्व-साहित्य में भी आंकी जाती है।

(६) इस काल की अन्तिम सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि भक्ति की चारों धाराओं अर्थात् ज्ञानमार्गी, प्रेममार्गी, रामभार्गी और कृष्णमार्गी मे सूक्ष्म अन्तर होते हुए भी कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जिनके आधार पर सभी धाराओं को एक नाम से सम्बोधित किया जा सकता है। वे समान विशेषताएँ निम्न है—

(१) भगवद् नाम का महत्व।

(२) गुरु की महिमा।

(३) भक्त और भगवान् का पारस्परिक सम्बन्ध; यथा—पिता-पुत्र; स्वामी-सेवक, पति-पत्नी आदि रूपों में।

(४) प्रेम-भावना का वर्णन।

(५) प्राचीन रूढियों एवं अन्धविश्वासों का खण्डन आदि।

उपर्युक्त सभी विशेषताएँ भक्ति काल की चार धाराओ में सरलता से देखी जा सकती है, अन्य काल की रचनाओं मे इस प्रकार की कोई समानता देखने को नही मिलती है।

निष्कर्ष रूप मे हम कह सकते हैं कि भक्तिकालीन साहित्य मे पाई जाने वाली उपर्युक्त विशेषताओ के कारण ही इस काल का साहित्य हिन्दी-साहित्य मे स्वर्णकाल के नाम से पुकारा जाता है।

प्रश्न ६—कबीर का संक्षिप्त परिचय देते हुए उनके द्वारा प्रवर्तित ज्ञान-मार्ग या सन्त काव्य की विशेषता बतलाइये।

उत्तर—कबीरदास का जन्म ऐसे समय में हुआ था, जबकि देश में राजनीतिक, धार्मिक एवं सामाजिक अशान्ति विद्यमान थी। मुसलमानों के राजा बन जाने और तलवार के बल पर धर्म परिवर्तन कराने की भावना ने हिन्दुओं को बहुत दुःखी बना दिया। इतना ही नहीं तत्कालीन विभिन्न प्रचलित धार्मिक सम्प्रदायों ने भी हिन्दुओं को राह न बतलायी, अपितु उन्हें अन्धकार के गर्त में डाल दिया। हिन्दू जनता यह निश्चय न कर सकी कि कौन सम्प्रदाय कल्याणकारी है और किसको मानना चाहिए। ऐसी धार्मिक एवं राजनीतिक अशान्ति के काल में कबीरदास का जन्म हुआ। कबीरदास जी पढ़े-लिखे नहीं थे परन्तु सत्संगति से उन्होंने धर्म के रहस्यों को जान लिया था और जब देश की इस विषम दशा को देखा तो वे इसे सुधारने के लिए आगे आये। उन्होंने अपनी 'साखियों' एवं 'सबदों' के द्वारा हिन्दू तथा मुसलमान दोनों को निराकार ईश्वर का परिचय कराया। यह ऐसा ईश्वर था जो दोनों ही धर्मों से मेल खाता था, अतः दोनों ही धर्मों के लोगों ने कबीर के बताये हुए ईश्वर को स्वीकार कर लिया और इस प्रकार हिन्दू मुसलमानों का धार्मिक विद्वेष कुछ सीमा तक शान्त हुआ। इतना ही नहीं, कबीर ने दोनों धर्मों के बाह्य आडम्बरों की कड़े शब्दों में निन्दा की, क्योंकि इसी बाह्य आडम्बर का सहारा लेकर हिन्दू और मुसलमानों में काफी खून-खराबी हो रही थी।

कबीरदास जी वास्तव में एक महान् समाज-सुधारक थे। उनका मुख्य लक्ष्य अपने समाज की गंदगी को दूर कर लोगों में एकता की भावना स्थापित करना था। इसके लिए उन्होंने हिन्दू और मुसलमान दोनों ही सम्प्रदाय के लोगों को खूब समझाया-बुझाया है। उन्होंने ईश्वर को ही सच्चा माना है और वह ईश्वर भी ऐसा है जो सभी का शुभचिन्तक है। वह जाति-पाँति ऊँच-नीच की छोटी भावना से परे है। उसको तो जो सच्चे मन से भजेगा वही प्राप्त करेगा; कहा भी है—

"जाति पाँति पूछे नहिं कोई।
हरि को भजै सो हरि का होई।"

इनकी कविता में हृदय की कसक है और सच्चाई है। उनमें बनावटीपन का कोई स्थान नहीं है।

ईश्वर प्राप्ति मे कबीर मुख्य साधक के रूप में गुरु को स्थान देते हैं और बाधक के रूप मे इस संसार की माया को। गुरु की कृपा से ये सब बाधाएँ दूर हो जाती हैं और भक्त भगवान् से जा मिलता है। संक्षेप में, यही कबीरदास जी का परिचय है।

कबीरदास जी ने जिस धारा का प्रारम्भ किया वह 'ज्ञानमार्गी' या सन्त परम्परा' कहलायी। कबीर के पश्चात् इस परम्परा मे अन्य सन्त भी हुए जिनमें दादू, मलूक, नानक, रैदास, सुन्दर, पलटू आदि प्रसिद्ध हैं। ये सभी कवि ज्ञान के माध्यम से निराकार ईश्वर की उपासना कर मोक्ष पाने की बात सोचा करते थे। इनका मुख्य उद्देश्य अपने सिद्धान्तों का जनता में प्रचार करना था, इसलिये ये शुद्ध रूप से धर्म-प्रचारक ही माने जाते हैं परन्तु प्रसंगवश धर्म-प्रचार के साथ-साथ इन्होंने बाह्य आडम्बरों का घोर विरोध भी किया है, अतः यह समाज-सुधारक की कोटि मे भी स्वतः ही आ गये।

ज्ञानमार्गी या सन्त साहित्य की विशेषताएँ—इस युग के प्रायः सभी कवि अशिक्षित थे। वे साधु और सन्त थे, कवि नही। अतः उनके काव्यों मे हमें काव्य जैसा आनन्द न मिलकर कोरा उपदेश ही मिलता है।

(२) इस युग के अधिकांश कवि ऐसे थे जिनके लिए उच्च वर्णों के मन्दिर, देवालय आदि बन्द थे। अतः भुक्तभोगी होने के कारण इन कवियों ने धार्मिक आडम्बरों मे कटु शब्दों की निन्दा की है।

(३) इस काल के कवियों के सम्मुख, धार्मिक, राजनीतिक और सामाजिक अशान्ति थी। अतः इनका एकमात्र लक्ष्य देश में शान्ति लाना ही था और इस शान्ति को वे लाये निराकार, निर्गुण ईश्वर का परिचय देकर। ईश्वर का यह रूप हिन्दू-मुसलमान दोनों को ही स्वीकार्य था। अतः ईश्वर के इस रूप की उपासना के द्वारा इन लोगों ने हिन्दू-मुस्लिम धार्मिक कटुता को नष्ट कर दिया।

(४) इस युग के साहित्य मे गुरु को ईश्वर के समान या उससे अधिक महत्व दिया गया है। स्वयं कबीर ने कहा है—

"कबिरा हरि के रूठते गुरु की सरनै जाय।
कह कबीर गुरु रूठते हरि नहिं होत सहाय॥"

(५) सन्तों में जाति-पाँति, ऊँच-नीच का कोई स्थान नही है केवल ईश्वर के प्रति प्रेम भाव होना चाहिए और सब बातें व्यर्थ हैं। कहा है—

"जाति पाँति पूछे नहिं कोई।
हरि को भजे सो हरि का होई॥"

(६) इस साहित्य के सभी कवियों ने मानव और ईश्वर का सम्बन्ध पति-पत्नी रूप में स्वीकार किया है। प्रायः सभी कवि अपने को पत्नी रूप में और ईश्वर को पति रूप में स्वीकार करते हैं।

(७) इस साहित्य में ईश्वर के नाम का महत्व बताया गया है। अधिकांश कवियों ने परमात्मा का नाम 'राम' ही रखा है। परन्तु ध्यान रखने की बात यह है कि उनका यह नाम 'राम' दशरथ पुत्र नहीं है। कहा भी है—

"दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना।
राम नाम का मरम न जाना॥"

(८) सभी सन्त कवि रहस्यवादी हैं। आत्मा का मिलन परमात्मा से सभी ने स्वीकार किया है।

(९) सभी कवियों ने इस संसार को मिथ्या बतलाया है और केवल ईश्वर को ही सत्य रूप में स्वीकार किया है। संसार को वे माया का पर्दा मानते हैं अतः इस माया से संसार के लोगों को वे सावधान रखते हैं।

(१०) इन सन्तों की भाषा जन-साधारण की भाषा है। सन्त लोग इधर-उधर घूम कर अपने उपदेशों का प्रचार किया करते थे अतः उनकी भाषा में सभी भाषाओं के रूप आ गये हैं। सभी भाषाओं के रूप मिल जाने के कारण ही विद्वानों ने इस भाषा का नाम 'पंचमेल खिचड़ी' अर्थात् 'सधुक्कड़ी' नाम दिया है।

प्रश्न १०—"कविता करना कबीर का लक्ष्य नहीं था। वे एक उपदेशक थे, फिर भी उनकी उक्तियों में मार्मिक काव्यानुभूति का सुन्दर सामंजस्य है।" इस कथन की पुष्टि कीजिए।

उत्तर—कबीर वास्तव में कवि नहीं थे और न ही कविता करना उनका लक्ष्य था। वे तो एक सन्त और एक धर्मोपदेशक थे। उनका एकमात्र उद्देश्य धार्मिक मतभेदों को दूर कर सब में समरसता स्थापित करना था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अपनी बात को जनता के हृदय तक पहुँचाने के लिए उन्होंने कविता का सहारा लिया अतः हम कह सकते है कि कविता उनका साधन थी साध्य या लक्ष्य नहीं। साध्य तो एकमात्र धार्मिक विषमता एवं वैमनस्य दूर करना ही था।

कबीर पढ़े-लिखे नहीं थे। इस तथ्य को उन्होंने स्वयं प्रकट किया है—

"मसि कागद छुओ नहीं कलम गही नहिं हाथ।"

परन्तु निरक्षर होते हुए भी वे बहुश्रुत थे। उन्होंने ज्ञान और साधना का विभिन्न परिपाटियों का साधुओं की सत्संगति से अच्छा ज्ञान प्राप्त किया था। उन्होंने समाज की जो वास्तविक दशा देखी, उसी का स्पष्ट चित्रण अपनी साखियों मे किया है। अनुभव की गहराई होने के कारण ही वे पोथियों के ज्ञान पर अपने को पण्डित समझने वाले पण्डितों तक को फटकार देते हैं—

"तू कहता कागद की लेखी,
मैं कहता आँखिन की देखी।"

वे भाषा एवं शास्त्र के पण्डित न होते हुए भी बड़े ही पते की बात कहा करते थे।

कबीर वास्तव में समन्वयवादी थे। उन्होंने अपने युग के प्रचलित सभी सम्प्रदायों का बड़ी ही बारीकी से चिन्तन-मनन किया और उनमे जो अच्छी बातें थी सभी को सार रूप में ग्रहण कर लिया तथा बुरी बातों को छोड़ दिया। उन्होंने स्वयं साधु की परिभाषा में यही बताया है—

"साधू ऐसा चाहिए जैसा सूप सुभाय।
सार-सार को गहि रहै थोथा देय उड़ाय॥"

सूप के स्वभाव के अनुसार ही उन्होंने मुसलमानों के एकेश्वरवाद, हिन्दुओं के अद्वैत, वेदान्त वैष्णव शैव, शक्ति एवं सिद्धों के सहजयान, नाथ-पन्थ आदि सभी धर्मों मे से अच्छी-अच्छी बातों को ग्रहण कर ही अपने पन्थ 'कबीर पन्थ' को चलाया।

कबीर वास्तव मे सत्य खोजने वाले थे। अतः उन्होने विभिन्न सम्प्रदायो का गहन चिन्तन करने के पश्चात् जो-जो बातें उनमें बुरी थी, सभी का भण्डाफोड़ किया। इस तरह उन्होने समाज मे व्याप्त गन्दगी को अपने उद्देश्यों के द्वारा बाहर निकाल दिया। उनकी कविता मे उपदेशो की प्रधानता होती थी कविता की सरसता नही, क्योंकि जैसा हम पहले कह चुके है उनका एकमात्र लक्ष्य तो उपदेश देना ही था, कविता करना नही और इस उपदेश देने के लिए उन्होने सीधी साधी बोलचाल की भाषा को अपनाया है। साधारण बोलचाल की भाषा होने के कारण उनके उपदेशो मे सहजता और सरलता आ गई है।

उपदेशों की प्रधानता के कारण उनकी कविता कहीं-कहीं नीरस बन गई है। उनमे काव्य जैसी सरसता नही है। एक बात और है और वह यह

कि कबीर ने जहाँ किसी गूढ़ सिद्धान्त का प्रतिपादन करना चाहा है, वहाँ उनकी कविता ज्ञान की परिपक्वता के अभाव में पूर्ण सफल नहीं हो पाई है। ज्ञान की परिपक्वता का अभाव इसलिए था, क्योंकि उन्होंने जो कुछ सत्संग में सुना था वह उनकी पूँजी थी। अशिक्षित होने के कारण उन्होंने वेद और शास्त्रों का कभी अध्ययन नहीं किया था, परन्तु गूढ़ सिद्धान्तों का प्रतिपादन के मोह को छोड़कर जहाँ उन्होंने अपने सरल उपदेश दिये हैं, वहाँ उनकी कविता निश्चय ही सरल एवं प्रभावकारी रही है।

कबीर की भाषा खिचड़ी थी, उसमें विभिन्न बोलियों के शब्द मिलते है। यह उनकी घुमक्कड़ प्रवृत्ति का प्रमाण है। इसी कारण इनकी भाषा सधुक्कड़ी या पंचमेल कही जाती है।

कबीर अलंकार और छन्दों के क्षेत्र में पूर्ण अनभिज्ञ थे। अलंकारों का जो भी प्रयोग मिलता है, वह अनायास ही हुआ है, जान-बूझकर नहीं। छन्द की दृष्टि से उन्होंने 'साखी' और 'सबद' में रचना की है। दोहे जैसे छन्द का भी वे पूर्ण नियमों के साथ पालन नहीं कर सके हैं। इन सबका मूल कारण हम पहले ही बता चुके है कि न तो कबीर कोई कवि थे और न कविता करना ही उनका लक्ष्य था। वे तो निरे उपदेशक और समाज-सुधारक थे।

परन्तु इतना सब होने पर भी चूँकि उन्होंने स्वयं के अनुभव की बातें कही है अतः उनकी कविता में कहीं-कहीं बड़ी मार्मिक बातें व्यक्त हुई है। जहाँ कहीं उन्होंने गूढ़ सिद्धान्तों के प्रतिपादन का मोह छोड़ दिया है, उनकी कविता बहुत उच्चकोटि की प्रभावशाली बन गयी है। कुछ आलोचक कबीर की इस उपदेशक प्रवृत्ति के आधार पर उन्हें कवि मानने को भी तैयार नहीं हैं। वास्तव में ऐसा कहना कबीर के साथ अन्याय करना है या सम्भवतः उनकी दृष्टि के सम्मुख कबीर के वे पद नहीं रहे हैं जिनमें उदात्त कल्पना का समावेश है। उदाहरण के लिए, संसार की असारता के सम्बन्ध में कहा गया यह दोहा कितना सटीक है—

"माली आवत देखकर, कलियन करी पुकार।
फूले-फूले चुन लिए, कालि हमारी बार॥"

इसी प्रकार प्रियतम को नेत्रों के अन्दर ढाँप लेने की प्रक्रिया में कितनी ऊँची कल्पना है। यह सहज ही देखा जा सकता है—

"नयना अन्दर आव तू, पलक ढाँपि तोहि लेउँ।
ना मैं देखूँ और कूँ, ना तोहि देखन देउँ॥"

निश्चय ही इस प्रकार की उक्तियों में हमें सुन्दर काव्यानुभूति एवं उच्च कल्पना का आभास मिलता है।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि वस्तुतः कबीर उपदेशक थे, कवि नहीं। उनका मुख्य लक्ष्य समाज-सुधार एवं धार्मिक परिष्कार ही था, परन्तु अपने इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए उन्होंने जिस साधन अर्थात् कविता को अपनाया है, वह निश्चय ही सरल एवं बोधगम्य होते हुए भी कहीं-कहीं सुन्दर भावाभिव्यक्ति और उच्च कल्पना को अपने में समेटे हुए है।

प्रश्न ११—प्रेम-मार्ग का आविर्भाव क्यों हुआ? प्रेम-मार्ग के आविर्भाव की परिस्थितियों पर प्रकाश डालते हुए प्रेम-मार्गी साहित्य की विशेषताओं का संक्षेप में विवेचन कीजिए।

अथवा

सूफी काव्य-परम्परा की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—भक्ति-मार्ग की निर्गुण शाखा की दूसरी धारा प्रेम-मार्गी कहलाई। किसी भी धारा का विकास या आविर्भाव अकस्मात नहीं हुआ करता है। उसके बीज बहुत पूर्व से अपनी जड़ जमाते रहते हैं और अनुकूल परिस्थिति पाकर वह वृक्ष के रूप में अपना रूप दिखाया करते हैं। प्रेम-मार्ग के सम्बन्ध में भी यही बात घटित होती है। कबीर आदि सन्तों के ज्ञान-मार्ग में कोरी नीरसता एवं उपदेशात्मक प्रवृत्ति थी और उसका सम्बन्ध ज्ञान से रहता था। ज्ञान की बात करने वाले स्वयं इस काल के कविगण भी ज्ञान के विषय में अधिक नहीं जानते थे। फलतः उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त अस्पष्ट एवं भ्रमित से रहे। दूसरे हिन्दू और मुसलमानों के धर्मों का जो इन्होंने खण्डन किया उसके फलस्वरूप दोनों ही सम्प्रदाय के धर्म प्राण व्यक्ति इनसे चिढ़ गये। ज्ञानमार्गी सन्तों के काव्यों में उपदेश की प्रधानता रहती थी तथा काव्यगत सौन्दर्य की उपेक्षा। इन्हीं कारणों से ज्ञान-मार्गी धारा का प्रभाव भारतीय जन-मानस पर अधिक दिनों तक न टिक सका। अतः धर्म-प्राण जनता भगवद् प्रेम में अधिक आसक्त रहना चाहती थी और उसके प्रेम की परिणति ज्ञान-मार्ग में न होकर प्रेम-मार्ग में ही हो सकती थी। फलतः भारतीय जनता ने ज्ञान की शुष्कता के स्थान पर प्रेम की सरलता को अधिक पसन्द किया और इस प्रकार

ज्ञान-मार्ग के उत्तराधिकारी के रूप में प्रेम-मार्ग का इस देश में प्रचार एवं प्रसार हुआ।

इसके अतिरिक्त ज्ञान-मार्ग की अन्य त्रुटियों के परिष्कार के रूप में ही प्रेम-मार्ग ने स्थान ग्रहण किया। ज्ञान-मार्गियों द्वारा किये गए खण्डन-मार्ग ने धार्मिक प्रवृत्ति के मानवों को जहाँ कुछ ठेस पहुँचाई, वहाँ प्रेम मार्गी कवियों ने अपने काव्यों में हिन्दू प्रेम-कथानकों को मुसलमानी धर्म के अनुसार व्यक्त किया है। इस प्रकार प्रेम-मार्गी कवियों ने अप्रत्यक्ष रूप से हिन्दू-मुसलमानों में आपसी एकता स्थापित करने का प्रयास किया। हिन्दू-मुसलमानों से एकता की भावना को बढ़ावा देने के कारण ही इस धारा के साहित्य का दोनों ही सम्प्रदाय के लोगों ने बड़ा आदर किया।

इतना ही नहीं, इस मार्ग के प्रवर्त्तकों को राज्य का भी सहारा मिल रहा था। फलतः यह धारा खूब फली-फूली। इस युग में काव्य नीरस न होकर पूर्ण सरस एवं प्रभावकारी था।

उपर्युक्त सभी विशेषताओं के कारण हिन्दी-साहित्य में ज्ञानमार्ग के स्थान पर सरस प्रेम-मार्ग का अवतरण हुआ।

प्रेममार्गी साहित्य या सूफी साहित्य की विशेषताएँ—प्रेम-मार्गी साहित्य का दूसरा नाम सूफी साहित्य भी है। इस धारा के प्रायः सभी कवि सूफी सम्प्रदाय के थे। सूफी एक विशेष सम्प्रदाय था जिसका जन्म फारस में हुआ परन्तु कालान्तर में यह भारत में भी खूब फला-फूला और अवध प्रान्त इसका कार्य-क्षेत्र रहा। इस धारा के प्रायः सभी कवि—जायसी, मंझन, कुतबन आदि अवध प्रान्त के ही रहने वाले थे।

सूफी शब्द 'सूफ' से बना है जिसका शाब्दिक अर्थ होता है 'ऊन' और इस सम्प्रदाय के अनुयायी ऊन का बना कनटोपा पहना करते थे तथा उसके साथ एक लम्बा-सा कुर्त्ता; यही इस सम्प्रदाय की विशेष वेश-भूषा थी।

इस सम्प्रदाय के प्रायः सभी कवि मुसलमान थे और वे फारसी भाषा के अच्छे ज्ञाता थे। फारसी भाषा के ज्ञाता होने के कारण उन्हें फारस की मसनवी शैली का विशेष ज्ञान था। कबीर आदि सन्त कवियों ने जहाँ हिन्दू-मुस्लिम विरोध को शान्त करने में मुख्य भूमिका अदा की वहाँ हिन्दू मुसलमानों में एकता स्थापित कराने में प्रेममार्गी कवियों का बड़ा हाथ रहा। इसी एकता के लक्ष्य को लेकर इन्होंने अपने ग्रन्थों में कथानक तो प्रायः हिन्दू प्रेम-कहानियों

के ही लिए परन्तु उनका वर्णन आदि मसनवी शैली में ही किया है। धार्मिक सिद्धान्तो का प्रतिपादन करते समय भी उन्होंने मुसलमान धर्म के सर्वेश्वरवाद की ही स्थापना की है। इस साहित्य की निम्नलिखित विशेषताएं हैं—

(१) इस शाखा के प्रायः सभी कवि मुसलमान थे और वे सूफी धर्म के अनुयायी थे।

(२) सभी कवियो ने प्रबन्ध काव्यों की रचनाएँ की है। उन रचनाओ मे कथानक हिन्दू प्रेम-कहानियों का रखा है तथा उनकी शैली विदेशी अर्थात् फारस की मसनवी शैली रही है। मसनवी शैली का अर्थ होता है काव्य के प्रारम्भ करने से पूर्व ईश-वन्दना, पैगम्बर-स्तुति और तत्कालीन राजा की स्तुति आदि को पहले वर्णित किया जाना है।

(३) इस धारा की भाषा अवधी रही है।

(४) इस शाखा के सभी कवियों ने लौकिक प्रेम के द्वारा अलौकिक प्रेम का मार्ग सुझाया है।

(५) इन कवियो ने खण्डन प्रवृत्ति का मार्ग नहीं अपनाया, अपितु हिन्दू प्रेम कथानकों का मुसलमान धर्म के सिद्धान्तो के साथ प्रतिपादन करके हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए बहुत प्रयत्न किये।

(६) छन्दों की दृष्टि से दोहो एवं चौपाइयो को अपनाया गया है परन्तु कहीं-कहीं सोरठा, बरवै आदि का भी प्रयोग मिलता है।

(७) रस की दृष्टि से शृंगार के दोनों पक्षों का सुन्दर चित्रण मिलता है। उसमे भी शृंगार बहुत ही उच्च कोटि का है। कहीं-कहीं वीर रस के भी दर्शन हो जाते हैं।

(८) इस काल के कवियो ने प्रकृति का उद्दीपन के रूप में सफल चित्रण किया है।

प्रश्न १३—सगुण भक्ति का उदय कब और कैसे हुआ ? रामभक्ति शाखा की विशेषताओं पर भी प्रकाश डालें।

उत्तर—निर्गुण धारा के पश्चात् साहित्य में सगुण धारा का उदय हुआ। लेकिन ऐसा क्यों हुआ ? यदि हम इसके कारणों को जानना चाहेंगे तो हमें ज्ञात होगा कि निर्गुण निराकार ईश्वर की आराधना करना जन साधारण की समझ के बाहर की चीज थी। भक्ति के तीन अंग होते हैं—स्वयं

भक्ति, योग एवं कर्म। इनमें से कबीर के सिद्धान्तों में भक्ति और योग तो था परन्तु कर्म को कोई स्थान उसमें नही था, कबीर के सिद्धान्तों में धर्म का भी कोई स्थान नहीं था और न ही धार्मिक संघर्ष के युग में वे धर्म और समाज की रक्षा ही कर सके। धार्मिक बुराइयों एवं आडम्बरों की तो उन्होंने निन्दा अवश्य की परन्तु एक धर्म को पुष्ट करने मे वे असमर्थ रहे। कबीर के अतिरिक्त प्रेममार्गी शाखा के कवि भी अपने लक्ष्य में हिन्दू जनता को अधिक आकर्षित न कर सके। इस शाखा के कवि भी जाति के मुसलमान तथा फारस के सूफीवाद से प्रभावित होने के कारण भारतीय हिन्दू जनता को अधिक प्रभावित न कर सके। इस प्रकार हिन्दू जनता की भावनाओं को ज्ञानमार्गी एवं प्रेममार्गी—दोनों ही शाखा के कवि अधिक प्रभावित न कर सके।

सगुण भक्ति शाखा के जन्म से पूर्व की सामाजिक एवं राजनीतिक अवस्थाएँ भी बड़ी विषम थीं। सामाजिक क्षेत्र में एक ओर तो धार्मिक संघर्ष चल रहा था तो दूसरी ओर सामाजिक क्षेत्र में भी बड़ी बुराइयाँ आ गयी थी। वर्णाश्रम व्यवस्था नष्ट हो रही थी, लोग पथ-भ्रष्ट हो रहे थे, पारिवारिक तथा धार्मिक—सभी क्षेत्रों में फूट पड़ी हुई थी।

राजनीतिक दशा भी बड़ी खराब थी, शासक मुसलमान अपनी प्रजा हिन्दुओं के साथ गुलामों जैसा व्यवहार किया करते थे। हिन्दुओं पर 'जजिया' आदि तरह-तरह के धार्मिक कर लगाये जाते थे।

इस प्रकार की सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक विषम दशाओं में जब हिन्दू जाति को अपने पूर्ववर्ती ज्ञानमार्गी और प्रेममार्गी कवियों से मार्ग-दर्शन न मिल सका तो छटपटा उठी। वह तो ईश्वर के उस रूप की आराधना करना चाहती थी, जिसको कि उससे गीता में 'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति !' धर्म की रक्षा करने वाले के रूप में सुन रखा था। जनता चाहती थी कि उन्हें तो ईश्वर की आवश्यकता है जो हमारी इस विषम परिस्थिति में रक्षा कर सके। जनता की इसी भावना को लेकर हिन्दी-साहित्य में सगुण भक्ति साहित्य का जन्म हुआ। इसमें ईश्वर के लोक-रक्षक एवं लोकरंजन —दोनों ही रूपों का चित्रण किया गया।

जैसा कि हम पूर्व कह चुके हैं कि भक्ति की अजस्र धारा दक्षिण भारत में बहुत पहले से ही चल रही थी। उत्तर भारत में भक्ति की धारा दक्षिण से चलकर ही आयी। सगुण भक्ति के आदि प्रचारकों में रामानुजाचार्य,

रामानन्द और वल्लभाचार्यजी आदि सन्त महात्माओं का नाम अग्रगण्य है। सगुण भक्ति की बाद में दो उपशाखाएँ हो गयीं—(१) रामभक्ति शाखा और (२) कृष्णभक्ति शाखा। रामभक्ति शाखा के प्रवर्त्तक हुए स्वामी रामानन्दजी और इन्ही की शिष्य-परम्परा में कालान्तर में रामभक्ति शाखा के महान् प्रचारक सन्त तुलसीदास का जन्म हुआ। इसी प्रकार स्वामी वल्लभाचार्यजी कृष्ण के लोकरंजक रूप के आदि प्रचारक हुए। तत्पश्चात् कृष्णभक्ति शाखा के महान् प्रचारक सन्त सूरदासजी का इसी परम्परा में उदय हुआ।

रामभक्ति शाखा—स्वामी रामानन्द द्वारा चलाई हुई भक्ति की धारा ही रामभक्ति धारा के नाम से पुकारी गई। कालान्तर में उन्हीं की इस शिष्य-परम्परा मे गोस्वामी तुलसीदास जी आये और उन्होंने अपने गहन चिन्तन और मनन के पश्चात् रामभक्ति का प्रचार करने के लिए भगवान् राम के चरित्र का लोकरक्षक रूप अपने प्रमुख ग्रन्थ 'रामचरितमानस' मे प्रस्तुत किया। वैसे भगवान् राम का यह रूप वाल्मीकि-रामायण, वायुपुराण, हनुमन्नाटक, अध्यात्म रामायण आदि ग्रन्थों में भी मिलता है। परन्तु राम के जिस रूप की इस युग में आवश्यकता थी, वह गोस्वामी तुलसीदास ने ही वर्णित किया है। भगवान् राम का यह रूप है, लोकरक्षक का। भगवान् के इस लोकरक्षक रूप को जनता ने बड़ी ही तत्परता के साथ स्वीकार कर लिया यो तो इस शाखा में अन्य कवि भी हुए है परन्तु इस शाखा का जो कुछ भी महत्व है, उसका सम्पूर्ण श्रेय अकेले गोस्वामी संत तुलसीदास जी को ही है। अन्य कवियों में—नाभादासजी, अग्रदासजी, हृदयराम, प्राणचन्द चौहान, बाबा रामचरणदास और बाबा रघुनाथदास आदि के नाम प्रमुख हैं।

रामभक्ति शाखा की विशेषताएँ—रामभक्ति शाखा की महत्ता का पूर्ण श्रेय सन्त तुलसीदास को ही है, अतः उन्ही के काव्यों की विशेषताओं का हम यहाँ विवेचन करना चाहेंगे—

(१) इन्होने केवल भावपक्ष को ही महत्व नही दिया, अपितु भावपक्ष के साथ ही कलापक्ष को भी समान स्थान दिया है।

(२) कलापक्ष में शैली की दृष्टि से अभी तक हिन्दी मे वीरगाथा काल से लेकर प्रेममार्ग शाखा तक की प्रायः सभी शैलियों को इन्होंने अपनाया है।

(३) अलंकारों में शब्दालंकार और अर्थालंकार—दोनों का सुन्दर प्रयोग हुआ है परन्तु इनके अलंकार भावों को दबाने वाले नहीं, बल्कि उन्हें उत्कर्ष देने वाले हैं।

(४) इस युग में भाषा के दोनों प्रचलित रूप—अवधी और ब्रज का सुन्दर प्रयोग हुआ है।

(५) रसों की दृष्टि से नवरसों का वर्णन मिलता है परन्तु भक्ति प्रधान होने के कारण प्रधान रस शान्त है।

(६) इन्होंने अपने काव्य में तत्कालीन विभिन्न सम्प्रदाय और धर्मों में मेल कराने का प्रयास किया है; जैसे—शैव और वैष्णव का, निर्गुण और सगुण का, ज्ञान, भक्ति और कर्म का है।

(७) इन्होंने ज्ञान-मार्ग के स्थान पर भक्ति-मार्ग को सुगम बताया है।

(८) इन्होंने भक्ति के दास्य रूप व सेव्य सेवक रूप को प्रधानता दी है।

(९) इन्होंने भगवान् के लोकरक्षक रूप को ही अधिक महत्व दिया है।

(१०) इस काल में प्रबन्ध एवं मुक्तक—दोनों प्रकार के ग्रन्थ लिखे गये।

(११) प्रकृति को आलम्बन, उद्दीपन एवं उपदेशात्मक रूप में प्रस्तुत किया गया है।

(१२) इन्होंने शास्त्रसम्मत विधि-विधानों और भगवान् के मर्यादा पुरुषोत्तम रूप को ही चित्रित किया है।

संक्षेप में, निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि रामभक्ति शाखा में उपर्युक्त विशेषताएँ ही अधिक पाई जाती थीं। अपनी इन्ही विशेषताओं के कारण इस काल का साहित्य जनता के गले का हार बना हुआ है और इतना ही नहीं, वह हिन्दी के समस्त साहित्य में शीर्ष-स्थान पर है।

प्रश्न १३—कृष्णमार्गी शाखा का प्रतिपाद्य विषय और उसकी विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—सगुण भक्ति की वह धारा जिसमें कृष्ण को भगवान् का रूप प्रदान किया गया, कृष्णमार्गी शाखा कहलाई। इस शाखा के आदि प्रवर्त्तक स्वामी वल्लभाचार्य माने जाते हैं। इस शाखा का मुख्य प्रतिपाद्य विषय कृष्ण को ईश्वर रूप में मानना और उनकी लीलाओं तथा क्रीड़ाओं का भक्त-समाज में गान करना ही रहा है। स्वामी वल्लभाचार्य के पश्चात् उनके सुयोग्य पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ ने भी इसी धारा को आगे बढ़ाने में अपना सहयोग

प्रदान किया। तत्पश्चात् यह एक परम्परा चल निकली, जिसमें—सूरदास, नन्ददास, कुम्भनदास, कृष्णदास, परमानन्ददास चतुर्भुजदास, छीतस्वामी, गोविन्दस्वामी (सभी अष्टछाप के कवि) आदि शिष्य-परम्परा में आते हैं। प्रायः इस शाखा के सभी कवियों ने कृष्ण के बाल एवं किशोर जीवन की क्रीड़ाओं को ही अपने साहित्य में स्थान दिया है। सम्भवतः इसी कारण इस काव्य में वात्सल्य, माधुर्य एवं शृंगार की अद्भुत झाँकी के हमें दर्शन होते हैं। कृष्ण की घर में अपने माता-पिता को रिझाने वाली लीलाओं में वात्सल्य भाव, समवयस्क साथियों के साथ खेलने-कूदने में सख्य भाव तथा गोपियों के साथ क्रीड़ाएँ करने में शृंगार भाव का अद्भुत एवं अनुपम रूप हमें मिलता है। बाद में जब कृष्ण गोपियों को छोड़कर मथुरा चले जाते हैं तो कृष्ण के वियोग में परेशान होती हुई गोपियों की दशा में सुन्दर वियोग शृंगार के दर्शन होते हैं। संक्षेप में यही कृष्णभक्ति शाखा का प्रतिपाद्य विषय रहा है।

इस साहित्य की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(१) इस शाखा में कृष्ण को भगवान् के रूप में स्वीकार किया गया है।

(२) इस शाखा का मूल पुष्टिमार्ग के सिद्धान्त पर आधारित है। अतः उसमें माधुर्य-भक्ति को महत्व दिया गया। भगवान् के लोकरक्षक और लोकनायक रूप को कोई स्थान नहीं है।

(३) माधुर्य-भक्ति में राधा-कृष्ण और गोपियों के प्रेम का ही महत्व आँका गया है।

(४) इस काल के नायक मर्यादारक्षक न होकर मर्यादाभंजक थे। यही कारण है कि गोपियाँ कुल-मर्यादा को तोड़कर कछार और कुंजों में रात-रात भर कृष्ण के साथ क्रीड़ाएँ किया करती हैं।

(५) इस साहित्य में भक्ति के सख्य भाव को महत्व दिया गया है। भगवान् भक्त का सम्बन्ध मित्रवत् है, सेवक-स्वामी जैसा नहीं।

(६) इस युग में शुद्ध रूप से गेय मुक्तक पद ही रचे गये हैं।

(७) इस युग की भाषा मुख्यतः ब्रज रही है, जिसका मधुरता की दृष्टि से अपना महत्व है।

(८) रसों की दृष्टि से वात्सल्य रस एवं शृंगार रस को ही महत्व दिया गया है।

(९) अलंकार स्वाभाविक रूप में आये हैं जो भावों को दबाने वाले नहीं, अपितु उत्कर्ष प्रदान करने वाले हैं ।

(१०) प्रकृति का चित्रण पृष्ठभूमि प्रस्तुत करने या भावों को उद्दीप्त करने की दृष्टि से किया है ।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि कृष्णभक्ति शाखा का सगुणभक्ति में अपना निजी महत्व है । यह साहित्य जहाँ सरस एवं मनोरम है, वहाँ इसमें भावपक्ष एवं कलापक्ष दोनों का सुन्दर समन्वय हुआ है ।

प्रश्न १४—सूरदास जी का साहित्यिक परिचय देते हुए उनके द्वारा वर्णित वात्सल्य रस एवं शृंगार का विवेचन कीजिए ।

अथवा

"सूर जहाँ वात्सल्य रस के सम्राट हैं वहाँ शृंगार रस के चित्रण में भी किसी से पीछे नहीं हैं ।" सिद्ध कीजिए ।

उत्तर—कृष्णमार्गी शाखा के प्रतिनिधि कवि सूरदास जी माने जाते हैं । जिस प्रकार रामभक्ति शाखा में तुलसी का महत्व है, उसी भाँति कृष्णभक्ति शाखा में सूरदास जी का उतना ही महत्व है । वल्लभाचार्य जी की शिष्य परम्परा में अग्रगण्य एवं श्रेष्ठ कवि सूरदास जी माधुर्य भक्ति के पोषक रहे हैं । अपने-अपने ग्रन्थों को पुष्टिमार्गी सिद्धान्तों के अनुसार माधुर्य भक्ति से युक्त रखा है । वैसे तो आपके पाँच ग्रन्थ माने जाते हैं—(१) सूरसागर, (२) सूर सारावली, (३) साहित्य लहरी, (४) नल दयमन्ती, और (५) व्याहलो । परन्तु अन्तिम दो ग्रन्थों का अभी तक कहीं पता नहीं चला है अतः प्रथम तीन ग्रन्थ ही उनके स्वीकार्य ग्रन्थ हैं ।

सूरदास जी के उपर्युक्त प्रथम तीनों ग्रन्थों में भी प्रथम ग्रन्थ—सूरसागर ही सर्वाधिक ख्याति प्राप्त है । दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि सूरदास जी की ख्याति का मूल कारण यही ग्रन्थ है । यह लगभग सवा लाख पदों का संग्रह आँका जाता है परन्तु आज तक लगभग छह हजार पद ही उपलब्ध हैं । इसमें श्रीमद्भागवत् के दशम स्कन्ध की कथा को कवि ने अपनी इच्छानुसार घटा-बढ़ा कर सुन्दर रूप में वर्णित किया है । सूरसागर का मूल आधार ग्रन्थ भागवत का दशम स्कन्ध होते हुए भी इसे हम कोरा अनुवाद मात्र नहीं कह सकते हैं । सूरदास जी ने इसमें कृष्ण के वात्सल्य एवं गोपियों के विरह विदग्ध रूप को बड़ी ही मार्मिकता के साथ चित्रित किया है । यह

सूरदास द्वारा भगवान् कृष्ण के सम्मुख गाये गये पदों का संग्रह मात्र है परन्तु भावों का जैसा सुन्दर उत्कर्ष इस ग्रन्थ में प्रस्तुत हुआ है, सम्भवतः वैसा अन्य ग्रन्थों में नहीं।

वात्सल्य—संत सूरदास जी वल्लभाचार्य जी के पुष्टिमार्ग के मानने वाले थे। इसी पुष्टिमार्ग के अन्तर्गत माधुर्य भक्ति का समावेश होता है। माधुर्य भक्ति में भगवान् के मनोरम एवं प्रेमी रूप का ही चित्रण रहता है। सूर ने वात्सल्य एवं शृंगार रस के चित्रण में भगवान् के इसी रूप की झाँकी प्रस्तुत की है।

वात्सल्य रस का सम्बन्ध बालक की बाल्यावस्था की चेष्टाओं से रहता है। महाकवि सूर ने भी बालक कृष्ण की चेष्टाओं एवं क्रीड़ाओं जैसा सजीव चित्र अंकित किया है, उसकी समता हिन्दी-साहित्य तो क्या विश्व-साहित्य में कहीं नहीं है। वे बालक की छोटी-से-छोटी बात को बड़े ध्यान से चित्रित करते हैं।

यशोदा माता कृष्ण को पालने में झुला रही हैं। बालक कृष्ण का चेष्टाओं का वर्णन पढ़कर हमें आज भी वह दृश्य सामने दिखाई देने लगता है—

"जसोदा हरि पालने झुलावै।

× × ×

कबहूँ पलक हरि मूँद लेत कबहूँ अधर फरकावैं॥"

देखिए कितना सूक्ष्म वर्णन है बालकों की चेष्टाओं का।

प्रत्येक माता अपने बच्चों को पुष्ट भोजन खिलाना चाहती है, ताकि उसका बालक स्वस्थ और बलवान बने। बालकों को प्रायः दूध आदि पौष्टिक पदार्थों से बड़ी चिढ़ होती है। यशोदा माता के सामने भी यही समस्या है। कृष्ण दूध पीने को तैयार नहीं तो माता यशोदा उन्हें दूध पिलाने के लिए तरह-तरह के लालच देती हैं और कहती हैं कि तुम जितनी जल्दी दूध पिओगे तुम्हारी यह चोटी उतनी ही जल्दी बढ़ जायगी—

"कजरी को पय पियहु लला चोटी बाढ़ै।"

बच्चे में ईश्वर ने बड़ी तर्क बुद्धि दी है। जब कृष्ण अपनी चोटी पर हाथ फेरते हैं और चोटी बढ़ी हुई नजर नहीं आती तो तुरन्त माता यशोदा से तर्क करते हैं कि तुम तो कहती थी कि दूध पीने से चोटी बढ़ जाती है

परन्तु मुझे तो दूध पीते हुए इतना समय हो गया, यह अभी तक क्यों नहीं बढ़ी है—

'कितो बार मोय दूध पियत भई यह अजहू है छोटी।'

माता यशोदा बालक की तर्क बुद्धि के सामने भौंचक्की रह जाती हैं। इस प्रकार के अनेक उदाहरण से सूरसागर भरा पड़ा है। बालकों की चेष्टाओं के वर्णन में इतनी ताजगी और स्वाभाविकता है कि हमारा मन उसे पढ़कर आनन्दमग्न हो उठता है।

एक-सी उम्र के बालकों में और विशेषकर सहोदर भाइयों में जरा-जरा सी बात को लेकर नित्य लड़ाइयाँ हो जाया करती है। बलराम और कृष्ण में भी लड़ाई होती रहती है। कृष्ण अपनी माता से बलराम की शिकायत करते हुए कहते हैं—

'मैया मोहि दाऊ बहुत खिजायो।'

कृष्ण अपनी नटखट आदतों से अपने मित्रों के नेता हैं। सभी बालक तरह-तरह के खेल खेलते हैं और कभी मन आ जाता है अपने साथ की गोपियों को भी छेड़ते हैं। कभी-कभी ग्वालिनों के घरों में जाकर उनका मक्खन चुरा कर खा लेते हैं, मट्ठा फैला देते हैं और बछड़ों को खोल देते हैं और जब एक दिन ऐंड़ें पर चोर पकड़ा जाता है तो अपनी सफाई देने लगते है—

'मैया मेरी मैं नहिं माखन खायो।
मैं बालक बहियन को छोटो छींको केहि विधि पायो।'

छोटी बाँहों का तर्क देकर कितनी बड़ी सफाई दे देते हैं कि उनके आगे सभी शिकायतें निर्मूल हो जाती हैं। ऐसे पदों में सूर ने बालक कृष्ण का वाक्चातुर्य कूट-कूट कर भर दिया है।

निश्चय ही वात्सल्य के वर्णन में जितनी सफलता सूर को मिली है सम्भवतः अन्य किसी को नही। वात्सल्य-वर्णन के वे सम्राट हैं। बालकों और माताओं की चेष्टाओं का जैसा सूक्ष्मातिसूक्ष्म वर्णन सूर ने किया है, यह अनुभव एवं प्रत्यक्ष की बात है। बालकों की फुलवारी वाला प्रत्येक गृहस्थ इस रस का नित्य पान करता है।

शृंगार—जैसा कि हम कह चुके हैं कि वात्सल्य-वर्णन में सूर अद्वितीय हैं, लेकिन वात्सल्य के अतिरिक्त शृंगार रस के वर्णन में भी उन्हें अच्छी

सफलता मिली है। शृंगार के दो भेद होते है—संयोग और वियोग। सूर को संयोग शृंगार की अपेक्षा वियोग शृंगार में अधिक सफलता मिली है। वैसे संयोग शृंगार के भी कुछ चित्र बहुत ही सजीव सुन्दर है संयोग शृंगार का वर्णन निम्न रूपों मे मिलता है—

(१) कृष्ण के नख-शिख वर्णन मे।
(२) कृष्ण के हाव-भाव वर्णन में।
(३) गोपियों के हाव-भाव वर्णन में।

सूर का संयोग शृंगार वर्णन एक दो दिन की बात नहीं है, अपितु वह तो बाल्यावस्था का प्रेम है—

गोपियों और कृष्ण का प्रेम गाय दुहते समय का अर्थात् बाल्यावस्था का ही इसी कारण वह प्रेम सात्विक है, उसमे वासना का कोई स्थान नही है।

'धेनु दुहति अति ही रति बाढ़ी।'

वियोग-शृंगार—संयोग शृंगार से अधिक सफलता जैसा कि हम पहले कह चुके है सूरदास को वियोग-वर्णन मे मिली है। यह वर्णन कृष्ण के मथुरा चले जाने पर गोपियों, गायों एवं प्रकृतिगत वर्णनों में मिलता है। इसी प्रसग मे हिन्दी-साहित्य का अद्वितीय प्रसंग 'भ्रमरगीत' आता है। 'भ्रमर-गीत' द्वारा महाकवि सूर ने सगुण और निर्गुण के झगडे का बहुत सुन्दर रूप प्रस्तुत किया है। साथ ही उन्होने निर्गुण धारा का खण्डन और सगुण धारा का मण्डन किया है।

उद्धव जी ज्ञानमार्गी या निर्गुण धारा के प्रतिनिधि है और गोपियाँ सगुण भक्ति को मानने वाली। उद्धव दूत रूप मे गोकुल आते हैं और कृष्ण का सन्देश गोपियो को देते हुए निर्गुण ब्रह्म का ज्ञान देते है। लेकिन गोपियाँ निरी मूर्ख नही है। वे बडे ही मनोवैज्ञानिक ढंग से उद्धव के तर्कों का खण्डन करती हुई कहती हैं—

"ऊधौ मन नाहीं दस-बीस।
एक हुतो सो गयो स्याम संग को आराधै ईस॥"

हमारा तो केवल एक ही मन था, सो वह कृष्ण के साथ चला गया। अब हमारे पास कोई मन नहीं है जो तुम्हारे बताये हुए निर्गुण ईश्वर को भजे।

आगे गोपियाँ कहती है कि हे उद्धव! तुम निर्गुण की रट लगाते फिरते

हो, यह तो बताओ कि वह कौन है और कहाँ का रहने वाला है। हमारा तो उससे कोई परिचय ही नहीं है—

'निर्गुण कौन देश को बासी।'

कभी-कभी उनकी वियोगाग्नि इतनी बढ़ जाती है कि वे अत्यधिक बेचैन हो उठती हैं। प्रकृति के उपादान उन्हें कष्टकर लगते हैं। उन्हें ईर्ष्या होने लगती है कि कृष्ण के वियोग में जब हम इतनी दुखी हो रही हैं तो यह मधुवन भी क्यों नहीं सूख जाता—

'मधुवन तुम कत रहत हरे।'

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि शृंगार वर्णन में और विशेषकर वियोग-शृंगार वर्णन में भी सूर को अच्छी सफलता मिली है। वात्सल्य के तो वे अद्वितीय चितेरे ही हैं, परन्तु वियोग शृंगार भी उनका उच्चकोटि का है। उसमें हृदय की गहराई है।

प्रश्न १५—'सूर-सूर तुलसी ससी' पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

(संवत् २०२२)

अथवा

'सूर ससी तुलसी रवि' इस कथन के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट कीजिये। (संवत् २०२४)

अथवा

सूर और तुलसी की कवि के रूप में तुलनात्मक आलोचना कीजिए।

उत्तर—रीतिकाल में आलोचना की एक विशेष पद्धति चली, जिसे तुलनात्मक आलोचना-पद्धति कहा गया है। इसके अन्तर्गत दो महाकवियों की तुलना की जा रही है। सर्वप्रथम देव और बिहारी की तुलनात्मक आलोचना हुई। तत्पश्चात् तो विद्वान आलोचकों के कई समुदाय बन गए। उनमें से एक पक्ष किसी का समर्थक था, तो दूसरा दूसरे पक्ष का। इसी श्रेणी में तुलसी, सूर और केशव आदि कवियों की भी तुलनात्मक आलोचना प्रस्तुत हुई।

कुछ आलोचकों ने कहा है—'सूर-सूर तुलसी ससी' तो दूसरों ने कहा है—'सूर ससी तुलसी रवि।' दोनों कवियों की साहित्यिक विशेषताओं की आलोचना प्रस्तुत करने से पूर्व हम इन दोनों पंक्तियों का पहले अर्थ जान लेना चाहेंगे।

'सूर सूर तुलसी ससी' इस पंक्ति के प्रवर्त्तक विद्वानों का मत यह है कि हिन्दी साहित्याकाश में सूरदासजी का वही स्थान है जो संसार में सूर्य का है तथा तुलसीदासजी का साहित्याकाश में वही स्थान है जो नक्षत्रों में चन्द्र का है। सूर के समर्थक या सूर को सर्वश्रेष्ठ कवि मानने वालों की दृष्टि में इसका अर्थ यह है कि जिस प्रकार नव-ग्रहों में सूर्य-ग्रह सबसे अधिक बड़ा और संसार के क्रिया-कलापों के संचालन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करने वाला है, उसी प्रकार हिन्दी-साहित्य में भी महाकवि सूर का स्थान सर्वोच्च एवं महत्वपूर्ण है। चन्द्र-गृह सूर्य-ग्रह की अपेक्षा छोटा होता है और वह सूर्य के प्रकाश से ही चमकता है। उसी प्रकार सन्त कवि तुलसीदास का महत्व सूरदास की अपेक्षा कम है।

लेकिन तुलसी के भक्त एवं समर्थक आलोचक इस पद का दूसरा ही अर्थ करते हैं। उनके मतानुसार संसार में सूर्य उष्णता प्रदान करने वाला है, जब कि चन्द्र शीतलतादायक है। दूसरे रूप में सूर्य की अपेक्षा चन्द्र अधिक स्फूर्ति, आनन्द एवं शीतलता प्रदान करने वाला है जिसका आशय यह निकला कि निश्चय ही चन्द्र सदृश तुलसी का काव्य अधिक महत्व का है, अपेक्षाकृत सूर्य सदृश सूरदास के काव्य के।

इसी रूप में 'सूर ससी तुलसी रवि' का भी दोनों पक्ष के समर्थक अपने-अपने ढंग से अर्थ करते हैं। परन्तु वास्तविकता तो यह है कि सूर्य, सूर्य ही हैं और चन्द्र, चन्द्र ही है, दोनों का अपना निजी महत्व है। सूर्य से यदि दिवस की शोभा है तो रात्रि में चन्द्रमा का महत्व है। ऐसी स्थिति में दोनों में न कोई छोटा है और न कोई बड़ा। इसी प्रकार सूरदास और तुलसीदास में न कोई बड़ा है और न कोई छोटा। दोनो का अपना निजी महत्व है। इस प्रकार की आलोचना उचित नहीं है। अब हम दोनो कवियों की साहित्यिक विशेषताओं के आधार पर तुलना करना चाहेंगे—

(१) दोनों ही कवि समकालीन एवं एक ही धारा अर्थात् सगुणधारा के प्रतिनिधि कवि है। एक ने अपना आराध्य राम को बनाया है तो दूसरे ने अपना आराध्य कृष्ण भगवान् को बनाया है।

(२) दोनों ही कवि संत एवं महात्मा हैं। दोनों का लक्ष्य ईश्वर-भक्ति है। कविता भी दोनों ने स्वान्तःसुखाय की है किसी आश्रयदाता को प्रसन्न करने के लिए नहीं।

(३) जहाँ तुलसी ने भगवान् राम के लोकरक्षक एवं लोकरंजक रूप को चित्रित किया है वहाँ सूर ने केवल भगवान् कृष्ण के लोक रंजक रूप को ही वर्णित किया है।

(४) तुलसी की भक्ति दास्यभाव की है, जबकि सूर की भक्ति सख्यभाव की है।

(५) सूर ने केवल वात्सल्य एवं शृंगार का वर्णन किया है, जबकि तुलसी ने अपने काव्यों में नवरसों को स्थान दिया है। परन्तु सूर ने दो रसों का भी जितनी गहराई से विवेचन किया है उसकी तुलना में तुलसी के नवरसों का विवेचन भी फीका पड़ जाता है।

(६) तुलसी ने मानव-जीवन के सभी अंगों का चित्रण किया है, जबकि सूर का वर्ण्य-क्षेत्र सीमित अर्थात् बाल्यावस्था एवं युवावस्था तक था।

(७) तुलसी ने काव्य के विभिन्न रूपों यथा—मुक्तक, खण्ड एवं प्रबन्ध-काव्यों की रचना की है, जबकि सूर ने केवल गेय मुक्तक पदों की ही रचना की है।

(८) तुलसी का ब्रज एवं अवधी पर समान अधिकार है, जबकि सूर ने केवल ब्रजभाषा को ही अपनाया है।

(९) शैली की दृष्टि से तुलसी ने अपने के पूर्व की सभी शैलियाँ छप्पय, दोहा, चौपाई, सोरठा आदि का उपयोग किया है, जबकि सूर ने केवल पदों एवं सवैयों का ही उपयोग किया है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि दोनों ही महाकवियों का अपना-अपना स्थान है। दोनों में समग्र में कौन बड़ा है; कौन छोटा, यह बात नितान्त भ्रमपूर्ण है। हो सकता है कि एक क्षेत्र में कोई कवि कम है तो इसका तात्पर्य कदापि नहीं कि वह छोटा है। हो सकता है दूसरे क्षेत्र में वह तुलनीय कवियों से ऊँचा हो। अतः दोनों ही कवि हिन्दी-साहित्य के दो जगमगाते हुए नक्षत्र हैं। हिन्दी-साहित्य दोनों से ही अपने को गौरवान्वित एवं भाग्यवान मानता है।

प्रश्न १६—राममार्गी और कृष्णमार्गी शाखा का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत करते हुए दोनों शाखाओं के प्रमुख कवियों का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

उत्तर—जिस सम्प्रदाय में भगवान् राम को इष्ट मानकर आराधना की परिपाटी चलाई गई, वह राममार्गी शाखा कहलायी। इसके आदि प्रवर्त्तक

रामानुजाचार्य और रामानन्द जी माने जाते हैं तथा जिस सम्प्रदाय में भगवान् कृष्ण को इष्ट मानकर आराधना की परिपाटी चलाई गई, वह कृष्णमार्गी शाखा कहलायी है। इसके आदि प्रवर्तक वल्लभाचार्य कहलाये। दोनों ही सम्प्रदायों में भक्ति की महत्ता मानी गयी है और ज्ञान तथा कर्म की अपेक्षाकृत कम महत्व दिया गया है। दोनों भक्ति-पद्धतियों में निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

(१) राम-काव्य में दास्य भक्ति की प्रधानता है, जबकि कृष्ण-काव्य में सख्य भक्ति की।

(२) राम-काव्य में भगवान् के लोकरक्षक एवं लोकरंजक दोनों ही रूपों को स्थान दिया गया है, जबकि कृष्ण-काव्य में केवल भगवान् के लोकरंजक रूप को ही स्थान दिया गया है।

(३) राममार्गी शाखा में मुक्तक, सफ्ट एवं प्रबन्ध सभी प्रकार के काव्य रचे गये हैं; जबकि कृष्णमार्गी शाखा में केवल मुक्तक पदों की ही रचना हुई है।

(४) दोनों ही शाखाओं के कवि-वेद विहित मार्ग पर चलने वाले थे।

(५) राम लोकमर्यादा के रक्षक हैं, जबकि कृष्ण नई मर्यादाओं के संस्थापक हैं।

(६) राम काव्य में अवधी और ब्रज दोनों भाषाओं का परिष्कृत रूप मिलता है, जबकि कृष्णमार्गी शाखा के कवियों में केवल ब्रजभाषा का ही रूप उपलब्ध है।

(७) दोनों ही शाखाओं में काव्य का पक्षपक्ष भी पूर्ण पुष्ट है और यह भावपक्ष को उत्कर्ष प्रदान करने वाला है।

प्रमुख कवियों का संक्षिप्त परिचय

राममार्गी शाखा के प्रमुख कवि :

तुलसीदास—इस शाखा के प्रतिनिधि कवि गोस्वामी तुलसीदास जी हैं। आपका समय सत्रहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है। आपने वेदों, पुराणों और शास्त्रों का गहन अध्ययन कर और उनका सार लेकर 'रामचरित मानस' नामक काव्य की रचना की है। आप राम के अनन्य भक्त थे। आप रामभक्ति-साहित्य के ही नहीं, हिन्दी-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कवि ठहरते हैं। काव्य का जैसा उत्कृष्ट रूप आपने प्रस्तुत किया है, सम्भवतः वैसा ही उत्कृष्ट ग्रन्थ

आज तक कोई दूसरा न हो सका। 'रामचरित मानस' आपकी यशः पताका है। इसके अतिरिक्त आपने कवितावली, विनय-पत्रिका, गीतावली, रामाज्ञा-प्रश्नावली, रामलला-नहछू, पार्वती मंगल, जानकी मंगल, बरवै रामायण वैराग्य संदीपन और हनुमानी बाहुक आदि ग्रन्थों का अध्ययन किया है।

नाभादास—ये भी तुलसी के समकालीन हैं और आपने 'भक्तमाल' नामक ग्रन्थ की रचना की है। यह ग्रन्थ छप्पय शैली में लिखा गया है। इसका प्रतिपाद्य विषय भक्तों का यश बखान करना है।

अग्रदास—ये नाभादास के गुरु माने जाते है। इनके द्वारा रचे गये ग्रन्थों का परिचय इस प्रकार है—हितोपदेश, उपखण बावनी ध्यानमंजरी, राम ध्यानमंजरी और कुण्डलियाँ।

प्राणचन्द चौहान—इनका समय भी सत्तरहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है। इनके ग्रन्थ का नाम 'रामायण महानाटक' है।

हृदयराम—इनका समय सम्वत् १६८० के लगभग ठहरता है। इनके ग्रन्थ का नाम 'हनुमन्नाटक' है। इसकी कथावस्तु संस्कृत के हनुमन्नाटक के आधार पर है।

कृष्णमार्गी शाखा के प्रमुख कवि :

सूरदास—कृष्णमार्गी शाखा के आप प्रतिनिधि कवि है। आपने भगवान् कृष्ण की आराधना की है। आप संख्य भक्ति के उपासक हैं। आपने अपने ग्रन्थ सूरसागर में वात्सल्य और शृंगार का अनुपम वर्णन किया है। वात्सल्य के तो सूर सम्राट माने जाते है। आपका समय सोलहवी-सत्तरहवी शताब्दी ठहरता है। 'सूरसागर' के अतिरिक्त इनके दो और प्रसिद्ध ग्रन्थ है—'सूर सारावली' और 'साहित्य-लहरी।'

कृष्णदास—वल्लभाचार्य के शिष्यों में से आप एक है। आप जन्म से शूद्र थे, परन्तु विट्ठलनाथ जी की कृपा से आप इस भक्त सम्प्रदाय में महत्वपूर्ण भक्त माने गये। आपके द्वारा लिखी गई पुस्तकों 'जुगलमान' और 'भ्रमरगीत' अधिक प्रसिद्ध हैं।

परमानन्ददास—आप भी वल्लभाचार्य की शिष्य परम्परा में आते हैं। आप जाति के ब्राह्मण थे और कन्नौज के निवासी थे। इनका प्रमुख ग्रन्थ 'परमानन्द सागर' है जो सरल पदों का सुन्दर संग्रह है।

कुम्भनदास—वल्लभाचार्य की शिष्य परम्परा में आपका भी महत्वपूर्ण स्थान [illegible]न्ददास जी के ही समकालीन ठहरते है इनका कोई

भी ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हो सका है, केवल कृष्ण-प्रेम के कुछ स्फुट पद ही उपलब्ध हुए हैं।

चतुर्भुजदास—आप कुम्भनदासजी के पुत्र थे और शिष्य परम्परा में आप विट्ठलनाथजी के शिष्य ठहरते हैं। आपने भी कृष्ण लीला के शृंगारमय पदों का निर्माण किया है। आपके प्रमुख ग्रन्थ ये हैं—'द्वादश यश', 'भक्ति प्रताप' और 'हितजू का मंगल'।

छीत स्वामी—आप भी विट्ठलनाथजी के शिष्य माने जाते हैं। इनकी कविता में सरसता, मधुरता आदि गुण मिलते हैं। आपके स्फुट पद उपलब्ध होते है।

गोविन्द स्वामी—आचार्य विट्ठलनाथजी के शिष्य थे एवं जाति के ब्राह्मण थे। आप गोवर्धन पर्वत के निवासी थे। आपकी कविताओं में कृष्ण-भक्ति कूट-कूट कर भरी है।

नन्ददास—आप विट्ठलनाथजी के शिष्य थे और कृष्ण साहित्य में सूरदास जी के पश्चात् सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। आपने राधा-कृष्ण की प्रेमपूर्ण क्रीड़ाओं एवं रासलीलाओं का बड़ा ही सरस एवं प्रभावकारी चित्रण किया है, जिसे पढ़कर या सुनकर भक्त समाज आत्म-विभोर हो उठता है। इन्होंने कृष्ण साहित्य के कलेवर को बहुत समृद्ध किया है, परन्तु आपकी दो रचनाएँ बहुत प्रसिद्ध है—'राम पंचाध्यायी' और 'भँवरगीत'। आपके द्वारा लिखे गए 'भँवरगीत' में जो वाद-विवाद एवं तर्कपूर्ण उत्तर प्रस्तुत किए गए है उन्होंने सूर को भी मात कर दिया। इनके द्वारा प्रयोग की गई भाषा पूर्णतया साहित्यिक ब्रजभाषा है।

यहाँ यह विचारणीय है कि उपर्युक्त सभी कवि अष्टछाप के कवि माने जाते है। इन अष्टछाप के कवियों के अतिरिक्त कुछ अन्य कवि भी हुए हैं, जिनका वल्लभ-सम्प्रदाय से तो कोई विशेष सम्बन्ध नहीं रहा है। परन्तु उन्होंने कृष्ण-प्रेम में विभोर होकर कृष्ण सम्बन्धी भक्ति के सुन्दर पद गाये हैं। उनमे से प्रमुख कवि निम्नलिखित हैं :

मीरांबाई—आप बचपन से ही कृष्ण से प्रेम करती थीं। विवाहोपरान्त जब इनके पति का देहान्त हो गया तो आप पूर्णतया कृष्ण-भक्ति में डूब गयीं। साधु-संगत एवं कीर्तन-भजन में आप रहा करती थीं। आपकी भक्ति माधुर्य भाव की थी। आपने कृष्ण को पति रूप में स्वीकार किया है। आपके भक्ति-

पूर्ण पद 'मीराबाई पदावली' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनके अन्य प्रमुख ग्रन्थ हैं—(१) गीत गोविन्द की टीका, (२) नरसी का मायरा, (३) राग-सोरठ और (४) राग गोविन्द आदि। भक्ति-भावना की दृष्टि से आपका स्थान कृष्ण-भक्ति शाखा में महत्वपूर्ण है।

रसखान—आप जाति के मुसलमान थे और कृष्ण भक्त कवियों में आपका श्रेष्ठ स्थान है। आपने हृदय के भावों को बड़ी ही सरल भाषा में व्यक्त किया है। आपने अपनी कविता सवैया और कवित्त छन्दों में की है। आपके दो प्रमुख ग्रन्थ हैं—(१) प्रेमवाटिका और (२) सुजान-रसखान।

नरोत्तमदास—आप भी कृष्णभक्त कवि हैं। आपने कृष्ण की बालकालीन घटना को लेकर बाल्यावस्था के सहपाठी सुदामा और कृष्ण की पारस्परिक मित्रता एवं कृष्ण की महानता का परिचय देने के लिए 'सुदामा चरित्र' नाम तक ग्रन्थ की रचना की है। इसकी भाषा बड़ी सरस सरल एवं स्वाभाविक है।

उपरिवर्णित कवियों के अतिरिक्त 'हित चौरासी' के रचयिता हित हरिवंश हरीराम व्यास, स्वामी हरिदास, गदाधर भट्ट आदि का नाम भी कृष्ण भक्त कवियों में गिना जाता है।

प्रश्न १७—रहीम और रसखान का संक्षिप्त जीवन-परिचय देते हुए उनके साहित्य की चर्चा कीजिए।

उत्तर—रहीम—आपका जन्म मुसलमान जाति में संवत् १६१० में दिल्ली में हुआ था। आपका पूरा नाम अब्दुर्रहीम खानखाना था। आपका मृत्यु-काल संवत् १६८३ वि० ठहरता है। आप मुगल सम्राट अकबर के संरक्षक बैरमखाँ के पुत्र थे। आप अकबर के प्रधान मन्त्री, प्रधान सेनापति एवं नवरत्नों में से एक थे। आप जहाँ श्रेष्ठ वीर योद्धा थे, वहाँ आप एक सफल कवि भी थे। आपको अरबी, फारसी, तुर्की, संस्कृत, अवधी, ब्रज आदि अनेक भाषाओं का अच्छा ज्ञान था। आपकी दानशीलता बहुत प्रसिद्ध थी। कहा जाता है कि एक बार इन्होंने गंग कवि को ३६ लाख रुपये का पुरस्कार दिया था।

रहीम कृत ग्रन्थ इस प्रकार हैं—(१) बरवै नायिका भेद, (२) मदनाष्टक (३) रास पंचाध्यायी (अप्राप्त), (४) शृंगार सोरठ (अप्राप्त), तथा (५) रहीम सतसई। ये सभी स्फुट रचनाएँ मानी जाती हैं।

रहीम के दोहा में इतनी गहराई और स्वानुभूति है कि पाठक् हठात् उसकी ओर आकृष्ट हो उठता है। इन दोनों मे नीति की बातें हैं परन्तु उन नीति की बातों मे सच्चाई एवं मार्मिकता है। उनमे कवि के हृदय की झाँकी है। आपके दोहे जनता की साधारण भाषा में लिखे गये हैं अतः वे सरल एवं बोधगम्य हैं। सरल एवं बोधगम्य होने के कारण ही उन दोनों की लोकप्रियता जनमानस में बहुत है। तुलसी, कबीर आदि जनता के कवियों की तरह ही आप भी समाज मे बहुत सामान्य है। साधारण जनता भी बात-बात में आपके दोहों को प्रस्तुत किया करती है। यह इनकी लोकप्रियता का सबसे बड़ा प्रमाण है।

अब हम कुछ दोहे प्रस्तुत कर रहीम कवि की वास्तविक अनुभूति एवं ज्ञान को प्रस्तुत करना चाहेंगे।

समाज मे छोटे-बड़े सभी का समान महत्व है, कम किसी का नहीं। इस बात को देखिए, कितने सुन्दर ढंग से उदाहरण द्वारा प्रस्तुत किया गया है—

"रहिमन देखि बड़ेन को, लघु न दीजिए डारि।
जहाँ काम आवै सुई, कहा करै तलवारि॥"

देखिए, एक अन्य दोहे में, दान की महत्ता को बताते हुए कवि कहता है कि जीवित रहना तभी तक साधक है, जब तक कि दान में कमी नहीं आती है कि बिना दान के तो कवि को जीना भी भारी लगता है—

"तब ही लग जीबो भलो, दीबो परै न धीम।
बिन दीबो जगत, हमहि न रुचै रहीम॥"

विपत्ति का महत्व बताते हुए रहीमदास जी कहते हैं कि बुरे दिन ही अच्छे होते हैं, क्योंकि इस संसार में वैसे तो सभी अपने बनते हैं परन्तु अपना वह है जो मुसीबत में काम आवे—

"रहिमन विपदा हू भली जो थोरे दिन होय।
हित अनहित या जगत में, जान परत सब कोय॥"

वास्तव में रहीम ने अपने दोहों में बड़े ही पते की बातें कही हैं और उनमें उनकी स्वानुभूति है कोरा आदर्श एवं नीति ही नही है अनुभूति की गहनता के साथ भाषा की सरलता एवं सरसता ने उनके महत्व को और अधिक बढा दिया है।

रसखान—आपका मूल नाम सैयद इब्राहीम था। आपका जन्म दिल्ली

में सम्वत् १६१५ वि० के आस-पास, पठान सरदार वंश में हुआ था। ये प्रारम्भ से ही प्रेमी स्वभाव के थे। इनके प्रेम के विषय में दो किम्वदन्तियाँ प्रचलित हैं। एक तो यह कि ये किसी स्त्री से प्रेम करते थे। वह स्त्री मानवती थी और शायद उसी से तंग आकर इनका प्रेम वृन्दावन में जाकर कृष्ण प्रेम में बदल गया। दूसरी किम्वदन्ती के अनुसार ये दिल्ली के किसी वेश्या के लड़के पर आशिक थे। परन्तु किसी के कहने पर उन्होंने वृन्दावन में जाकर भगवान् कृष्ण से प्रेम करना प्रारम्भ कर दिया और बाद में वे कृष्ण-भक्त कवियों में अग्रगण्य बन गये।

कारण कुछ भी रहे हों, इतना तो निश्चित ही है कि रसखान जन्म से मुसलमान होते हुए भी कृष्ण-प्रेम में पूरी तरह डूबे हुए थे। उन्होंने कृष्ण-प्रेम विषयक जिन कवित्त और सवैयों की रचना की है, वे अपने आप में इनकी कृष्ण-भक्ति की अनन्यता के प्रमाण हैं।

आपने दो ग्रन्थ रचे हैं—(१) सुजान रसखान और (२) प्रेम-वाटिका। आप रसखान नाम से कविता करते थे। यह रसखान नाम आपको आचार्य विट्ठल द्वारा दिया गया था।

'सुजान-रसखान' में केवल १२० सवैये हैं और 'प्रेम-वाटिका' मे केवल ५२ दोहे हैं। इतनी कम मात्रा में साहित्य होते हुए भी महत्ता की दृष्टि से किसी भी हिन्दी के महाकवि से टक्कर ले सकता है। ये बड़े भारी कृष्ण प्रेमी थे। आपने बड़े ही सरस, सरल एवं मधुर ब्रजभाषा में कवित्तों की रचना की है। जाति से मुसलमान होने पर भी इन्होंने अपनी जिस अटूट कृष्ण-भक्ति का परिचय दिया है, उसी पर मुग्ध होकर एक बार भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने कहा था—

'इन मुसलमान हरिजनन पर कोटिन हिन्दू वारिये।'

कृष्ण-प्रेम की अनन्यता प्रकट करने वाले इनके कवित्त बड़े ही सरस एवं सरस हैं; यथा—

"मानुस हौं तो वही रसखान बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जौ पसु हौं तो कहा बस मेरो चरौं नित नन्द की धेनु मझारन।
पाहन हौं तो वही गिरि को जो कियो ब्रज छत्र पुरंदर धारन।
जो खग हौं तो बसेरो करौं मिलि कालिंदी कूल कदम्ब की डारन॥"

कितनी सरसता, सरलता एवं कृष्ण-प्रेम की अनन्यता है। पद को पढ़कर

एवं सुनकर भक्त रस-मग्न हो उठता है। तभी तो कहा जाता है कि रसखान की कविता वस्तुत. रस की खान है।

मिश्रबन्धुओ के अनुसार आपका मृत्यु-काल संवत् १६८५ वि० है।

प्रश्न १८—रीतिकाल के विषय में आप क्या जानते हैं ? संक्षिप्त परिचय देते हुए इस काल की साहित्यिक विशेषताओं पर प्रकाश डालें।

उत्तर—भक्तिकाल के पश्चात् हिन्दी साहित्य मे रीतिकाल का जन्म हुआ। आचार्य शुक्ल के मतानुसार इस काल का समय संवत् १७०० से १९०० तक माना जाता है।

रीति का शाब्दिक अर्थ होता है ढंग या प्रकार। इससे इसका साहित्यिक अर्थ हम यह लगा सकते है कि काव्य-रचना का एक विशेष ढग या प्रकार रीति कहलाता है; जिसमे काव्यागो—अलंकार, छन्द आदि का निरूपण हो। साथ ही जिसमे नख-शिख वर्णन, नायिका भेद, षट् ऋतु वर्णन आदि का वर्णन मिलता हो वे ही काव्य रीति-काव्य कहलाये और यह काल रीति काल कहलाया।

इस काल को विद्वानो ने भिन्न-भिन्न नामो; यथा—रीतिकाल, शृंगार-काल, अलंकृत-काल आदि नामो से पुकारा है। इस युग के काव्य में पायी जाने वाली प्रवृत्तियो के आधार पर उपयुक्त नाम भी इसके उचित ही हैं, अर्थात् इस काल मे काव्य-ग्रन्थो का एक विशेष पद्धति पर निर्माण हुआ, अत. रीति-काल, शृंगार की प्रधानता होने के कारण शृंगार काल और अलकारो या काव्य के बाह्य पक्ष की प्रधानता होने के कारण इसका नाम अलंकार काल उचित ही ठहरता है।

रीतिकाल के विकास के कारण—साहित्य समाज का दर्पण है और समाज परिवर्तनशील होता है। समाज की इस परिवर्तनशीलता का साहित्य मे भी रूप दृष्टिगोचर होता है। सत्रहवी शताब्दी के आस-पास देश मे अमन-चैन था। इस समय आदिकाल जैसा न तो युद्ध का वातावरण था और न भक्ति-काल जैसा धार्मिक संघर्ष। हिन्दुओ पर मुसलमानो का पूर्ण आधिपत्य हो चुका था देश मे छोटे-छोटे रजवाड़े बन गये थे। उन सभी ने मुगल शासको का आधि-पत्य स्वीकार कर लिया था। इस युग मे जहाँ चारों ओर शान्ति का वातावरण था वहाँ धन-धान्य एवं समृद्धि भी चारों ओर छायी हुई थी। सर्वत्र शान्ति और आनन्द का वातावरण था। राजाओं के यहाँ विलासिता का वातावरण था,

सुरा और सुन्दरी का जोर था। 'यथा राजा तथा प्रजा' की उक्ति के अनुसार अपने राजा के कार्यों के अनुसार प्रजा में भी आरामतलबी और विलासिता का वातावरण छा गया था। जब समाज में सर्वत्र विलासी रूप छा गया तो जैसा कि हम जानते है साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब होता है; साहित्य में भी वही विलासी प्रवृत्ति आने लगी। भक्ति काल में तो कवि कुटियों में रहते थे पर अब के कवि राजाओं के आश्रय में रहने लगे और राजाओं का मनोरंजन कर उनसे अधिक-से-अधिक इनाम प्राप्त करने की होड़ में लगे थे। नायिकाओं के नखशिख-वर्णन में कविगण अपनी शक्ति लगा रहे थे। इस प्रकार साहित्य मे भी शृंगार की अजस्र धारा बह निकली।

साहित्य का यह नियम रहा है कि जब साहित्य में लक्ष्य ग्रन्थ अपनी चरम सीमा को पहुँच जाते हैं तो उनका वह मार्ग रुक जाता है। तत्पश्चात् उसमें लक्षण ग्रन्थों का निर्माण हुआ करता है। गोस्वामी तुलसीदास के 'रामचरितमानस' तथा सूर के 'सूरसागर' सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य ग्रन्थ बन चुके थे और अन्य लक्ष्य ग्रन्थों के निर्माण को कोई स्थान नहीं था। अतः लक्षण ग्रन्थों का निर्माण आवश्यक हो गया था। सम्भवतः इसी कारण भक्तिकाल के पश्चात् रीतिकाल में लक्षण ग्रन्थों का निर्माण हुआ। इन लक्षण ग्रन्थों में नखशिख वर्णन, नायिका भेद, षडऋतु वर्णन, काव्य के कलापक्ष—अलंकार आदि विस्तृत एवं परिपाटीबद्ध वर्णन वर्णित हुआ है। इन्हीं लक्षण ग्रन्थों का जन्मदाता भी यही रीतिकाल रहा है। इस काल का प्रत्येक कवि लक्षण ग्रन्थ लिखकर आचार्य पदवी को धारण किया करता था।

रीतिकाल की साहित्यिक विशेषताएँ—(१) सामाजिक तथा राजनीतिक दृष्टि से यह काल पूर्ण शान्ति का काल था। इस काल में सर्वत्र-सुख समृद्धि थी, अतः तत्कालीन परिस्थितियों एवं वातावरण के अनुरूप ही शृंगार परक मुक्तक काव्यों की रचनाएँ हुईं।

(२) इस युग के अधिकांश कवि राज्याश्रित थे और विलासी राजाओं का मनोरंजन करना ही उनका लक्ष्य हुआ करता था। अतः अधिकतर नरकाव्य ही लिखे गये जिनमें शृंगार की बहुलता रहती थी परन्तु भूषण, सूदन, लाल आदि कवि ऐसे थे जिनके काव्य में वीर-रस का भी सजीव वर्णन मिलता है।

(३) इस काल के अधिकाश कवि रीतिबद्ध कविता करने वाले थे जिनमें

बिहारी, मतिराम, देव, पद्माकर आदि का नाम विशेष रूप में उल्लेखनीय है। परन्तु कुछ कवि ऐसे भी थे जो रीतिमुक्त परन्तु शृंगारिक कविता कर रहे थे जिनमे घनानन्द, आलम, बोधा आदि प्रमुख हैं।

(४) इस काल के अधिकांश कवि आचार्य कहलाये और आचार्य बनने के लिए उन्हें लक्षण ग्रन्थों का निर्माण करना पड़ा। इस तरह यह युग एक प्रकार से लक्षण ग्रन्थों का ही युग रहा है।

(५) इस काल के अधिकांश कवि शृंगार रस की कविता कर रहे थे। शृंगार को रसराजत्व भी इसी काल में प्राप्त हुआ है। शृंगार के विविध रूपों का वर्णन उनके नख-शिख, नायिका भेद षड्ऋतु आदि वर्णनों में स्पष्ट रूप से उभर कर आया है। इतना ही नहीं, उन्होंने ने तो शृंगार के संयोग और वियोग दोनों ही रूपों की सुन्दर झाँकी प्रस्तुत की है। कहीं-कहीं अश्लीलता भी आ गई है।

(६) इस काल के काव्य में भावपक्ष पर इतना ध्यान नहीं दिया गया, जितना कि कलापक्ष पर। फलतः भावपक्ष दब गया है। अलंकारों का जितना विषद् एवं भेदोपभेद वाला रूप इस काल के काव्य में मिलता है, उतना तो समस्त हिन्दी-साहित्य मे भी नहीं। छन्दों की दृष्टि से इस काल मे कवित्त, सवैया, घनाक्षरी, दोहा और सोरठा आदि का खुल कर प्रयोग हुआ है।

(७) भाषा की दृष्टि से इस युग में ब्रज-भाषा ही प्रधान रही है। यत्र तत्र छुट-पुट प्रयोग तत्कालीन प्रचलित अन्य भाषाओ के मिल जाते है।

प्रश्न १९—रीति काल के प्रवर्त्तक आचार्य कौन थे ?

अथवा

"हिन्दी रीति ग्रन्थों की अखण्ड परम्परा चिन्तामणि त्रिपाठी से चली, अतः रीति काल का प्रारम्भ उन्हीं से मानना चाहिए।" शुक्लजी के इस कथन की समीक्षा करते हुए रीति काल के प्रवर्त्तक का निर्धारण कीजिए।

उत्तर—रीतिकाल का प्रवर्त्तक कवि कौन था, इस विषय में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। बाबू श्यामसुन्दरदास जहाँ आचार्य केशव को रीतिकाल का प्रवर्त्तक आचार्य मानते हैं। वहाँ आचार्य शुक्ल चिन्तामणि को मानते हैं।

रीतिकाल के प्रायः कवि आचार्य की पदवी से विभूषित किये जाते थे और इनकी यह आचार्यत्व की पदवी लक्षण ग्रन्थ लिखने के पश्चात् मिलती थी। प्रायः सभी कवियों ने लक्षण ग्रन्थों का निर्माण किया है। इन लक्षण ग्रन्थों

का निर्माण संस्कृत के आचार्यों—भामह, दण्डी, उद्भट, मम्मट, विश्वनाथ आदि की नकल मात्र है। रीतिकालीन कवियों ने प्रायः संस्कृत के इन्हीं आचार्यों के लक्षणों को अपने रीति ग्रन्थों में स्थान दिया है। इन रीति ग्रन्थों के आचार्यों में केशव, मतिराम, देव, पद्माकर, चिंतामणि, जसवंतसिंह आदि महाकवि आते है। परन्तु देखना यह है कि इस शाखा का प्रवर्त्तक कवि कौन है।

प्रवर्त्तक कवि वह है जिसके बताये हुए मार्ग का अनुसरण किया जाए। साहित्य में प्रवर्त्तक कवि या आचार्य वही कहलायेगा जिसके द्वारा बताये गये काव्यांगों और काव्य-विषयों का अनुसरण परवर्ती कवियों ने किया हो। जैसा कि हम पूर्व में कह चुके हैं डॉ० श्यामसुन्दरदास आचार्य केशव को रीतिकालीन काव्यधारा का प्रवर्त्तक कवि मानते हैं। वैसे केशव तुलसी के समकालीन ठहरते हैं और उन्होंने 'रामचन्द्रिका' भक्ति-काव्य लिखकर भक्ति काल में भी हिस्सा बँटाया है। इसी आधार पर उन्हें हम केवल रीतिकालीन कवि ही नहीं मान सकते, अपितु हमारी दृष्टि में तो वे भक्ति और रीति काल की संधि अवस्था के कवि हैं। जहाँ उन्होंने भक्ति परक रचना की है वहाँ 'रसिक-प्रिय' और 'कवि-प्रिया' आदि रीतिवादी रचनाएँ भी प्रस्तुत की है। रीतिकालीन चकाचौंध और आचार्य की पदवी के मोह में उनके काव्य में चमत्कार का रूप भी आ गया है। इसी आधार पर बाबू श्यामसुन्दरदास जी ने उन्हें रीतिकाल का प्रवर्त्तक कवि कह दिया। परन्तु जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं कि प्रवर्त्तक कवि वह कहलाता है जिसका अनुकरण परवर्ती कवि करें और उसे अपना आदर्श मानें। परन्तु केशवजी ने 'कवि-प्रिया' में जिन काव्य रूपों का विवेचन प्रस्तुत किया उसका अनुकरण परवर्ती कवियों या आचार्यों ने नहीं किया। केशव ने जिन काव्य रूपों का विवेचन अपनी 'कवि-प्रिया' में प्रस्तुत किया है। उसके आदर्श भामह और उद्भट आचार्य रहे हैं। परवर्ती कवियों ने आचार्य केशव द्वारा बतलाये गए काव्य-रूपों का उपयोग अपने काव्य-ग्रन्थों में नहीं किया है। अतः निश्चय ही हम उन्हें प्रवर्त्तक आचार्य तो नहीं मान सकते हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि वे इन काव्यांगों के आदि आचार्य अवश्य थे।

केशव के परवर्ती आचार्यों ने अपने रीति ग्रन्थों में उन्हीं काव्य रूपों का विवेचन किया है जो आनन्दवर्धनाचार्य, मम्मट और विश्वनाथ जी आदि आचार्यों द्वारा वर्णित किए गए हैं। संस्कृत आचार्यों द्वारा वर्णित काव्यांगों का

पूर्ण निरूपण प्रस्तुत किया आचार्य चिन्तामणि ने। आचार्य चिन्तामणि द्वारा प्रमुख काव्य रूपों की ही एक अनवरत परम्परा चली जिसका रीति काल के अधिकांश कवियों ने पोषण किया है। परिष्कृत काव्यांगों का विवेचन चिन्तामणि द्वारा प्रस्तुत किये जाने के कारण ही परवर्ती आचार्यों ने चिन्तामणि का अनुसरण किया और इसलिए चिन्तामणि निश्चय ही इस धारा के प्रवर्त्तक आचार्य माने जाने चाहिए। आचार्य शुक्ल के मत को प्रस्तुत कर हम अपने कथन की पुष्टि करना चाहेंगे। आचार्य शुक्ल का कथन है कि—"पर हिन्दी में रीति-ग्रन्थो की अविरल और अखंडित परम्परा का प्रवाह केशव की 'कविप्रिया' से प्रायः पचास वर्ष पीछे चला और वह भी एक भिन्न आदर्श को लेकर, केशव के आदर्श को लेकर नहीं।.....साहित्य की मीमांसा क्रमशः बढ़ते-बढ़ते जिस स्थिति पर पहुँच गई थी, उस स्थिति से सामग्री न लेकर केशव ने अपने पूर्व की स्थिति से सामग्री ली। उन्होने हिन्दी पाठकों को काव्यांग निरूपण की उस पूर्व दशा का परिचय कराया जो भामह और उद्भट के समय में थी, उस दशा का नहीं जो आनन्दवर्धनाचार्य, मम्मट और विश्वनाथ द्वारा विकसित हुई।.....पर केशवदास के उपरान्त तत्कालीन रीति-ग्रन्थों की परम्परा चली नहीं।.....कवि-प्रिया के पचास वर्ष पीछे उसकी अखण्ड परम्परा का प्रारम्भ हुआ। यह परम्परा..... परवर्ती आचार्यों के परिष्कृत मार्ग पर चली। काव्य के स्वरूप और अंगों के सम्बन्ध मे हिन्दी के रीतिकार कवियो ने संस्कृत और इन परवर्ती आचार्यों का मत ग्रहण किया।.....हिन्दी रीति-ग्रन्थों की अखण्ड परम्परा चिन्तामणि त्रिपाठी से चली, अतः रीति काल का आरम्भ उन्ही से मानना चाहिए।"

आचार्य शुक्ल ने स्पष्ट रूप में रीति काल का प्रवर्त्तक आचार्य चिन्तामणि को माना है न कि केशव को। उनके कथन की मुख्य बाते निम्न हैं—

(१) प्रवर्त्तक आचार्य वही होता है, जिसके बताये हुए मार्ग पर परवर्ती लोग अनुकरण करें। इस दृष्टि से शुक्ल जी का कथन है कि आचार्य केशव के काव्य रूप प्राचीन था और उनका आधार था भामह और उद्भट के काव्य शास्त्रीय ग्रन्थ, जबकि चिन्तामणि के आदर्श थे नये काव्य रूप जिनका आधार थे—आनन्दवर्धन, मम्मट और विश्वनाथ आदि आचार्य। परवर्ती रीतिकालीन कवियों ने चिन्तामणि की धारा का ही अनवरत रूप से अनुकरण किया है केशव की धारा का नहीं।

(२) केशव की 'कविप्रिया' जिसमें कि काव्य रूपों का विवेचन है, की रचना के लगभग पचास वर्ष तक इस धारा को प्रभावित करने वाला कोई कवि नहीं हुआ। जब उस धारा को प्रभावित करने वाला ही कोई नहीं है तो वह प्रवर्त्तक कैसे हो सकता है। इसके विपरीत चिन्तामणि द्वारा वर्णित काव्य रूपों को सतत अनुकरण मिलता है। अतः ये ही प्रवर्त्तक आचार्य ठहरते हैं।

(३) आचार्य केशव को रीति-ग्रन्थों का आदि आचार्य अवश्य माना जा सकता है, आदि प्रवर्त्तक नहीं।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि चिन्तामणि के द्वारा स्वीकृत काव्य-रूपों को परवर्ती रीतिकालीन आचार्यों द्वारा अनुकरण किये जाने के कारण ही हम चिन्तामणि को इस धारा का आदि प्रवर्त्तक आचार्य मान सकते हैं और केशव को रीतिकाल का आदि आचार्य।

प्रश्न २०—"महाकवि बिहारी रीतिकाल के श्रेष्ठ कवि थे तथा उनकी बिहारी सतसई रीतिकाल का श्रेष्ठतम काव्य है।" इस कथन की विवेचना कीजिए।

अथवा

"बिहारी के काव्य में कलापक्ष की चकाचौंध से भावपक्ष दब जाता है।" इस कथन की पुष्टि कीजिए।

अथवा (संवत् २०२३)

"देखने में छोटे लगें, घाव करें गम्भीर"—के अनुसार बिहारी के दोहों की समीक्षा कीजिए। (सम्वत् २०२३)

उत्तर—महाकवि बिहारी रीतिकाल के कवियों में शीर्ष-स्थान रखते है। हिन्दी के श्रेष्ठ कवियों में आपका स्थान तुलसी और सूर के पश्चात् तृतीय ठहरता है प्रत्येक काल में यों तो कवियों की एक पंक्ति-सी खड़ी हो जाती है परन्तु प्रत्येक युग का सर्वश्रेष्ठ कवि एक ही माना जाता है और उसकी कृति अद्वितीय रचना। इस दृष्टि से हम देखें तो हमें ज्ञात होता है कि वीरगाथा काल का सर्वश्रेष्ठ कवि हुआ चन्दवरदाई और उनका ग्रन्थ था 'पृथ्वीराज रासो।' इसी भक्ति काल की राम भक्ति शाखा के अनुपम कवि 'तुलसी' और ग्रन्थ है 'रामचरित मानस'; कृष्ण-भक्ति शाखा के 'सूर' और उनका ग्रन्थ है 'सूरसागर'। इसी दृष्टि से रीति काल के सर्वश्रेष्ठ कवियों की गणना में

निश्चय ही 'विहारीलाल' का नाम आता है और रचना में उनकी कृति 'विहारी-सतसई' है।

विहारी जयपुर के महाराज मिर्जा जयसिंह के दरबारी कवि थे। कहते हैं कि नव-विवाहिता रानी के प्रेम में डूबे हुए राजा को राजपाट की सुध दिलाने वाला विहारी का यह दोहा था—

"नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल।
अली कली ही सों बँध्यो, आगे कौन हवाल॥"

कहा जाता है इस दोहे को पढ़कर जयसिंह को होश आ गया था और वह तब से भली-भाँति राज-काज मे लग गये थे। राजा ने प्रसन्न होकर उन्हें ऐसे ही और दोहे लिखने और प्रत्येक दोहे पर एक अशर्फी देने का आश्वासन दिया था। विहारी ने जयपुर में रहकर अपने ग्रन्थ का निर्माण किया था।

इनकी लिखी हुई केवल 'विहारी-सतसई' नामक एक ही पुस्तक है जिसमें ७१६ दोहे संगृहीत है। यह शृंगार रस की सर्वाधिक प्रसिद्ध पुस्तक है। प्रचार और प्रसार की दृष्टि से हिन्दी-साहित्य के सम्पूर्ण ग्रन्थों में तुलसी कृत 'रामचरित मानस' के पश्चात् इनका नम्बर आता है। इस ग्रन्थ की लोकप्रियता का सबसे बड़ा प्रमाण तो यह है कि इस ग्रन्थ पर जितनी टीकाएँ लिखी गई हैं, उतनी हिन्दी के किसी ग्रन्थ पर नही। प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री सर जार्ज ग्रियर्सन ने विहारी-सतसई की टीका की भूमिका मे लिखा है कि ऐसा कवि और ग्रन्थ उन्हें यूरोप-साहित्य मे देखने को नही मिला है। 'विहारी-सतसई' मात्र से हिन्दी-साहित्य के कंठहार बने हुए कवि की लोकप्रियता के विषय में शुक्लजी ने कहा है कि "किसी भी कवि का परिमाण नही, अपितु गुण उसे ऊँचा उठाते है।" निश्चय ही मात्रा में चाहे अन्य कवियों ने बहुत ही अधिक साहित्य विहारी की तुलना में लिखा हो परन्तु विहारी की अकेली सतसई सैकड़ों ग्रन्थों से टक्कर ले सकती है। 'विहारी-सतसई' लक्षण विहीन रीति-ग्रन्थ है। इसमें रस, ध्वनि, अलंकार, वक्रोक्ति आदि सभी पद्धतियों को सम्यक् स्थान प्राप्त हुआ है।

विहारी की अक्षय कीर्ति का सबसे बड़ा कारण है, उनके ग्रन्थ मे भावपक्ष और कलापक्ष का मणिकांचन संयोग। रस की दृष्टि से वे शृंगार के राजा कहलाते हैं। शृंगार के दोनों रूपों—संयोग और वियोग में उन्हें पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। संयोग शृंगार के अन्तर्गत उन्होंने भाव-व्यंजना

को जो स्थान दिया है, वह अनुपम और अद्वितीय है। वियोग पक्ष के वर्णन में कहीं-कहीं ऊहात्मक शैली आ गयी है। इनके दोहों में भाषा समास शक्ति, वाग्वैदग्ध्य, भावानुकूल भाषा, व्यापक निरीक्षण का उपयोग आदि गुणों के कारण इनकी कविता बहुत आदृत हुई।

आपने दोहे जैसे—छोटे छन्द को ही अपनी भावाभिव्यक्ति का साधन बनाया है। परन्तु दोहे में भी आपने इतने भावों को एक साथ स्थान दिया है जितना कवि बड़े-बड़े छन्दों मे भी व्यक्त नही कर सके हैं। इनके छोटे-छोटे दोहे प्रभाव की दृष्टि से बहुत महत्व रखते हैं। दोहे की इसी महत्ता को बताते हुए किसी आलोचक ने कहा है—

"सतसइया के दोहरे, ज्यों नावक के तीर।
देखत में छोटे लगें, घाव करें गम्भीर।"

आकार एवं मात्रा मे छोटे होने पर भी निश्चय ही बिहारी के दोहे अपने मे बड़े-बड़े ऊँचे भावों को सँजोये हुए हैं। दोहे की इस महत्ता में बिहारी की भाषा की समास शक्ति और कल्पना का समाहार शक्ति ही मूल कारण रहे हैं। समासान्त शैली के द्वारा ही आपने 'गागर में सागर' भरने की चेष्टा की है। यह गुण या सामर्थ्य उन्ही कवियों मे हो सकती है जो भाषा के पंडित हों। बिहारीलाल जी ने निश्चय ही जिस ब्रजभाषा को अपने काव्य का माध्यम बनाया है, उसके वे मर्मज्ञ पंडित थे।

बिहारीलाल जी ने कहीं-कहीं अनुभावो और हावों को दोहे जैसे ४८ मात्राओं के छन्द में इस सुन्दरता से व्यक्त किया है जिसे अन्य कवि कवित्त, सवैया जैसे बड़े छन्दो मे भी व्यक्त नहीं कर सके हैं। यथा—

"बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाय।
सौंह करें, भौंहन हँसै, दैन कहै नटि जाइ॥"

नायिका की अनेकानेक चेष्टाओं को इस छोटे से दोहे मे कितनी खूबी के साथ जड़ दिया है। यह क्षमता बिहारीलाल में ही थी। ऐसे ही दोहों मे जहाँ उन्होंने अनगिनती हाव-भावो को चित्रित किया है, उनकी समास शक्ति अधिक मुखर हुई है और इसी आधार पर कहा जाता है कि बिहारीलाल ने गागर में सागर भर दिया है, अर्थात् थोडे शब्दों वाले दोहा छन्द में अनेकानेक भावों की व्यंजना प्रस्तुत कर दी है। थोडे मे अधिक कहने की प्रवृत्ति के कारण उनकी भाषा मे बड़ी कसावट और गठन आ गया है।

कलापक्ष—महाकवि बिहारी अलंकारों के प्रयोग को अधिक महत्व नहीं देते थे, उन्होंने स्वयं कहा है—

"भूषन-भार-सँभारिहै क्यों इहिं तन सुकुमार।
सूधे पाइ न धर परैं सोभा हीं कैं भार॥"

परन्तु इसका उद्घोष करने पर भी उनके काव्यों में अलंकारों का खूब खुलकर प्रयोग हुआ है और इतना ही नहीं, कहीं-कहीं तो एक-एक दोहे में सोलह-सोलह अलंकार तक आ गये हैं। बिहारी द्वारा प्रयुक्त अलंकार कहीं तो स्वाभाविक रूप में ही आ गये हैं और कहीं जबरन लाये गये हैं। अतः जहाँ वे स्वाभाविक रूप में आये हैं, वहाँ काव्य में सुन्दरता का समावेश हुआ है परन्तु जबरन लादे गये अलंकारों से कहीं-कहीं भावपक्ष दब जाता है। अर्थालंकारों का प्रयोग कवि ने प्रायः भावों एवं रसों को उत्कर्षता प्रदान करने के लिए ही किया है अतः इन अलंकारों से भाव-पक्ष दबा नहीं है, अपितु निखरा ही है; यथा—

"सोहत ओढ़ें पीत पटु, स्याम सलौने गात।
मनौ नील मनि सैल पर आतपु पर्‌यौ प्रभात॥"

इस दोहे में उत्प्रेक्षा अलंकार के द्वारा कवि ने सुन्दर भावाभिव्यक्ति की है। इसी प्रकार असंगति अलंकार का सुन्दर उदाहरण देखिए—

"दृग उरझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गाँठि दुरजन हिएँ, दई नई यह रीति॥"

उलझते हैं दृग परन्तु टूटता कुटुम्ब कैसी असंगत बात है परन्तु कवि ने किस सुन्दर ढंग से उन्हें चित्रित किया है, यही दृष्टव्य है।

अर्थालंकारों के अतिरिक्त कहीं-कहीं शब्दालंकारों में अनुप्रास का भी सुन्दर चित्रण भावाभिव्यक्ति को सुन्दर रूप में व्यक्त करना है; यथा—

"रनित भृंग घंटावली, झरत दान मद नीर।
मन्द-मन्द आवत चल्यौ, कुंजर कुंज समीर॥"

यह तो रही स्वाभाविक अलंकारों के प्रयोग की बात परन्तु कहीं-कहीं अलंकारों का प्रयोग केवल अलंकारों की खातिर जानबूझ-कर दिया गया है। वहाँ कवि को चमत्कार-प्रदर्शन में तो सफलता मिली है, परन्तु भावों की गम्भीरता एवं उत्कर्ष में ह्रास हुआ है; यथा—

"बरजीते सर मैन के, ऐसे देखे मैन।
हरिनी के नैनानु तै हरि नीके ए नैन॥
तो पर वारौं उरबसी, सुन राधिके सुजान।
तू मोहन के उर बसी, ह्वै उरबसी समान॥"

उपर्युक्त दोनों दोहों यमक में चमत्कार दिखाना ही कवि का लक्ष्य रहा है अतः यहाँ भाव दब गये है।

इसी प्रकार निम्न दोहे मे श्लेष के चक्कर मे कवि सुन्दर भावाभिव्यक्ति में सफल नही हो पाया है—

"अजौं तरयौना ही रह्यौ, श्रुति सेवत इक अंग।
नाक बास बेसरि लह्यौ, बसि मुकतन के संग॥"

इसी प्रकार के कुछ अन्य दोहों को देखकर कुछ आलोचको का यह कथन उचित ही प्रतीत होता है कि "बिहारी के काव्य मे कलापक्ष की चकाचौंध से भावपक्ष दब जाता है।" निश्चय ही जिस स्थान पर कवि का लक्ष्य केवल चमत्कार प्रदर्शन रहा है, वहाँ उसका भावपक्ष दब गया है, लेकिन निष्पक्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि बिहारी के सम्पूर्ण कला पक्ष और भावपक्ष का सुन्दर संयोग हुआ है। कुछ अपवादों को छोड़कर कलापक्ष भावपक्ष को उत्कर्ष प्रदान करने वाला ही रहा है।

निष्कर्ष रूप मे यह कहा जा सकता है कि बिहारी रीति काल के सर्वश्रेष्ठ कवि थे और उनका ग्रन्थ श्रेष्ठ कृति है। उन्होंने अपने इस काव्य मे भावपक्ष और कलापक्ष—दोनों का ही सुन्दर सम्मिश्रण प्रस्तुत किया है। भाव के पूर्ण पण्डित होने के नाते उन्होंने भाषा की समास शैली का प्रयोग किया है। समास शैली के साथ ही उनमे कल्पना की भी ऊँची समाहार शक्ति थी। इन्हीं दोनों गुणों के कारण उन्होंने दोहे जैसे छोटे छन्द में भी अनगिनती भावों की योजना कर गागर मे सागर भरने का प्रयास किया है।

प्रश्न २१—निम्नलिखित कवियों की प्रधान साहित्यिक विशेषताओं पर प्रकाश डालिए—

भूषण, देव, पद्माकर।

अथवा

रीति काल से आप क्या समझते हैं ? इस काल के किसी एक कवि की कविताओं की विवेचना कीजिए। (संवत् २०२३)

अथवा

रीतिकाल की विशेषताओं का वर्णन कीजिए। इस काल के किसी कवि की रचनाओं के उद्धरण देते हुए अपने उत्तर की पुष्टि कीजिए।

(संवत् २०२१)

उत्तर—(रीति काल का परिचय एवं विशेषताओं के लिए प्रश्न संख्या १८ देखें)।

भूषण—भूषण का जन्म संवत् १६७० विक्रमी माना जाता है। आपका असली नाम अभी तक ज्ञात नही हुआ परन्तु कविनाम 'भूषण' से ही आप विख्यात है। कुछ विद्वान् आपको चिन्तामणि और मतिराम का भाई मानते है। कवि भूषण अनेक राजाओं के राज्य मे रहे परन्तु आपकी स्वतन्त्र प्रकृति के कारण इनका मन नहीं रमा। अन्त में वे छत्रसाल महाराजा के दरबार मे पहुँचे और महाराज छत्रसाल की हिन्दू धर्म-परायणता एवं हिन्दू धर्मरक्षक नीतियों से प्रभावित होकर आपने 'छत्रसाल दशक' नामक वीर काव्य लिखा। तत्पश्चात् आप शिवाजी महाराज की वीरता से प्रभावित होकर उनके दरबार मे भी रहे और उनकी प्रशंसा मे आपने 'शिवराज भूषण' और 'शिवा बावनी' दो ग्रन्थो की रचना की।

भूषण कवि रीतिकालीन शृंगारिक धारा के विपरीत वीरता के पोषक थे। इस प्रकार आप शृंगारिक परम्परा, नायिका भेद, शब्द शक्ति आदि रीतिकालीन काव्यांगो से तो हट गये थे परन्तु अलंकार का पल्ला आप भी पकड़े रहे। 'शिवा बावनी' और 'शिवराजभूषण' दोनों ही आपके अलंकारों के लक्षण और उदाहरणों के ग्रन्थ हैं।

भूषण की वीर रस की कविता मे निश्चय ही ओज एवं जोश है जिसे पढ़ कर पाठक आज भी फड़क उठता है। भूषण निश्चय ही हिन्दू धर्म के रक्षक एवं सच्चे हितैषी थे तभी तो उन्होंने जो कविताएँ की है वे खुशामद की दृष्टि से नही, बल्कि हिन्दुत्व की रक्षा के लिए लड़ रहे सच्चे वीरों की वीरता के बखान करने के लिए की हैं। शिवाजी और महाराज छत्रसाल दोनों ही सही अर्थों मे हिन्दू धर्म एवं जाति के सच्चे हिमायती थे। इसी आधार पर इनकी कविता को कुछ लोग जातीय कविता की संज्ञा दे देते हैं। शिवाजी

महाराज की शूरता-वीरता एवं हिन्दू धर्म, राजपूत-रक्षा तथा जाति-रक्षा का महत्व प्रतिपादित करता हुआ यह छन्द देखिए—

"राखी हिन्दुवानी हिन्दुवान को तिलक राख्यो,
अस्मृति पुरान राखे वेद-विधि सुनी में।
राखी राजपूती, राजधानी राखी राजन की,
धरा में धरम राख्यो, राख्यो गुनगुनी में॥"

निश्चय ही महाकवि भूषण हिन्दू धर्म, उसके धार्मिक ग्रन्थ आदि की रक्षा करने वाले वीरों के यशगायक थे।

भूषण के द्वारा वर्णित युद्धों का वर्णन सजीव एवं वीरता का संचार करने वाला है। कहीं-कहीं पर अत्युक्तिपूर्ण वर्णन किया गया है परन्तु सत्यता एवं वास्तविकता पर कोई आँच नहीं आने पायी है। उनकी कविता में मर्म को छू लेने वाली बातें हैं।

भाषा की दृष्टि से आपकी भाषा मिली-जुली ब्रजभाषा है। कवि ने शब्दों का जोड़-तोड़ अपनी इच्छानुसार किया है, फलतः कहीं-कहीं तो शब्द का वास्तविक रूप ही पता लगाना मुश्किल हो जाता है। छन्दों में प्रायः कवित्त को ही स्थान दिया है; कहीं-कहीं सवैया का प्रयोग मिल जाता है।

कुछ भी हो, शृंगार काल में भी वीरता की ओजस्विनी धारा प्रवाहित करने के कारण अपना निजी स्थान है।

देव—महाकवि देव का जन्मकाल संवत् १७३० ई० ठहरता है। आपका पूरा नाम देवदत्त था परन्तु कविता आप 'देव' नाम से ही करते थे। कविता करने की प्रवृत्ति आपमें बाल्यावस्था से ही थी और कहा जाता है कि इन्होंने १३ वर्ष की छोटी आयु में 'भाव-विलास' नामक अलंकार ग्रन्थ की रचना कर ली थी, जो उनके विस्तृत ज्ञान एवं कवि रूप का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

महाकवि देव अनेकानेक स्थानों पर घूमते-भटकते फिरे परन्तु इन्हें कोई भी अच्छा आश्रयदाता न मिल सका, जिसके यहाँ वे जमकर रहते। अपनी घुमक्कड़ प्रवृत्ति के कारण उन्हें ज्ञान एवं अनुभव अच्छा प्राप्त हो गया था। संवत् १७२४ वि० में आपका स्वर्गवास हो गया।

महाकवि देव ने बहुत अधिक ग्रन्थ लिखे हैं। इनके ग्रन्थों की संख्या ५२ से ७२ तक बताई जाती है परन्तु अभी तक आपके केवल ५२ ग्रन्थ ही प्राप्त हो सके हैं। इनके ग्रन्थों की संख्या को देखकर ही हिन्दी के आलोचकों में एक

विवाद उठ खड़ा हुआ कि 'देव बड़े या बिहारी' यहाँ तुलना करना हमारा लक्ष्य नहीं है। आपके रचे हुए ग्रन्थों में 'अष्टयाम', 'भाव विलास', 'कुशल विलास', 'रस विलास' आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं।

महाकवि देव कवि एवं आचार्य दोनों ही थे परन्तु कवि रूप में ही आप सफल हुए हैं, आचार्य रूप में नहीं। आपके काव्य का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय शृंगार रहा है। शृंगार की कविता लिखने में उन्होंने अपनी सम्पूर्ण कवित्व शक्ति लगा दी है। नायिका भेद वर्णन में तो रीतिकालीन सभी कवियों से श्रेष्ठ हैं। वृद्धावस्था में कुछ वैराग्य के पद भी लिखे हैं।

भाषा आपकी ब्रज रही है परन्तु पाण्डित्य-प्रदर्शन और अलंकार के चमत्कार प्रदर्शन के कारण कहीं-कहीं कविता अपनी स्वाभाविकता छोड़ देती है। इसी सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल का कथन है कि—'कभी-कभी वे कुछ बड़े पेचीदे मजमून का हौसला बाँधते थे पर अनुप्रास के आडम्बर की रुचि बीच ही में उनका अंग-भंग करके सारे पद्य को कीचड़ में फँसा छकड़ा बना देती थी।" यह कथन निश्चय ही सही है। देवजी अलंकारों का चमत्कार दिखाने के चक्कर में कहीं-कहीं वास्तविक वर्ण्य विषय को भी स्पष्ट नहीं कर सके हैं।

छन्दों के स्थान में उन्होंने कवित्त और सवैया नामक छन्दों का प्रयोग किया है।

निश्चय ही महाकवि देव रीतिकाल के श्रेष्ठ कवि थे। अनुभव, कल्पना भावाभिव्यक्ति और सूक्ष्मदर्शिता का जैसा सुन्दर रूप उनके काव्य में बन पड़ा है, वैसा अन्यत्र कम मिलता है। डॉ० श्यामसुन्दरदास जी ने उनके महत्व को आँकते हुए कहा है कि—पाण्डित्य की दृष्टि से रीतिकाल के समस्त कवियों में देव का स्थान आचार्य केशवदास से कुछ नीचा माना जा सकता है, कलाकार की दृष्टि में वे बिहारी से निम्न ठहरते हैं, परन्तु अनुभव और सूक्ष्मदर्शिता में उच्च कोटि की काव्यप्रतिभा का मिश्रण करने और कल्पनाओं की अनोखी शक्ति लेकर विकसित होने के कारण हिन्दी काव्य क्षेत्र में सहृदय और प्रेमी कवि देव को रीति काल का प्रमुख कवि स्वीकार करना पड़ता है।" देव निस्सन्देह एक श्रेष्ठ कवि थे।

पद्माकर—जाति से भट्ट ब्राह्मण पद्माकर का जन्म सागर जिले में संवत् १८१० वि० में हुआ। आप तैलंग ब्राह्मण थे। कविता करना आपको विरासत में मिला था। आपके पूर्वज प्रकाण्ड पण्डित और सफल कवि थे।

पद्माकर जी ने भी अनेक ग्रन्थों की रचना की है जिनमें—'हिम्मत बहादुर विरुदावली', 'जगद्विनोद', 'गंगा लहरी', 'पद्माभरण' आदि ग्रन्थ प्रमुख हैं।

रीतिकालीन कवियों में पद्माकर का नाम प्रमुख है। इस परम्परा के आप सम्भवतः अन्तिम कवि हैं। आप कविता के क्षेत्र में एक सफल कवि माने जाते हैं। आपकी रचनाओं का सबसे बड़ा गुण रमणीयता मानी जाती है। आपकी कल्पनाएँ बड़ी ही मधुर, सरल एवं भावपूर्ण है।

आपकी कविताओं में भावपक्ष और कलापक्ष का बड़ा ही सुन्दर समन्वय हुआ है। लेकिन कहीं-कहीं अनुप्रास और शब्द-सौन्दर्य के मोह में पड़कर उनका भावपक्ष दब गया है। परन्तु ऐसा कम ही हुआ है। पद्माकर की भाषा भावों को उत्कर्ष प्रदान करने वाली है। वसन्त ऋतु का वर्णन करते समय कैसी सुन्दर पदावली का प्रयोग हुआ है देखिए—

"कूलन में केलि में कछारन में कुंजन में
क्यारिन में कलित कलीन किलकंत है।
कहैं पद्माकर परागन में पौन हूँ में,
पातन में पिक में पलासन पगंत है।"

उपर्युक्त पद में अनुप्रासमय पदावली में सुन्दर भावों की अभिव्यक्ति हुई है। यह कवि की विद्वता एवं कल्पना की ऊँचाई का ही परिणाम था।

भाषा पर उसका पूर्ण अधिकार था। छन्दों के रूप में आपने कवित्त एवं सवैया का ही प्रयोग किया है।

काव्य की दृष्टि से आपने वीर-काव्य रीति-काव्य दोनों ही प्रकार के काव्य रचे हैं। 'जगद्विनोद' आपका शास्त्रीय ग्रन्थ है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी पद्माकर में देव, मतिराम और बिहारी की काव्यगत विशेषताओं का सम्मिश्रण मानते हुए कहते हैं कि—"पद्माकर में देव की भाँति मौजीपन, मतिराम की भाँति सहृदयता और बिहारी की भाँति वाग्वैदग्ध्य पाया जाता है।"

प्रश्न २२—हिन्दी गद्य का प्रयोग रीतिकाल से पूर्व नहीं मिलता है। कारण सहित उत्तर दीजिए।

उत्तर—विश्व के किसी भी साहित्य को उठाकर देख लीजिए उसके साहित्य में सर्वप्रथम पद्य ही आया है, गद्य नहीं। यही बात हमें हिन्दी-साहित्य में भी मिलती है। इसके कारणों पर विचार करें तो हमें ज्ञात होगा कि

निम्नलिखित कारणो से हिन्दी-साहित्य में गद्य का प्रादुर्भाव प्रारम्भ में नहीं हो सका—

(१) पद्य-बद्ध रचना शीघ्रता से कण्ठस्थ हो जाया करती है, गद्य रचना नही। हमारे हिन्दी-साहित्य में ही नहीं, वैदिक-साहित्य में भी आदि-ग्रन्थ पद्य मे रहे हैं। उनके मूल मे भी यह कंठस्थ होने में सरलता की प्रवृत्ति काम कर रही थी।

(२) पद्य का प्रभाव हृदय पर प्रभावकारी एवं अमिट होता है।

(३) पद्य से व्याकरण आदि में भूलें क्षम्य होती हैं।

(४) मुद्रण कला का अभाव—इस कला के अभाव मे किसी भी साहित्यकार द्वारा एक ग्रन्थ की रचना करने मे ही बहुत समय लग जाता था, फिर अनेकानेक ग्रन्थों की रचना सरल कार्य नही था क्योंकि समय का अभाव बहुत बड़ा कारण होता था।

(५) किसी भाषा का गद्य रूप उसका परिष्कृत एवं व्याकरण सम्मत रूप माना जाता है और भाषा का उद्भव के प्रारम्भिक कालों में भाषा के व्याकरण, शब्द भण्डार-आदि का अभाव रहता है। यही बात हिन्दी के विषय मे भी है। शब्द का भण्डार एवं भाषा के व्याकरण के अभाव में गद्य की स्वच्छ धारा न बह सकी।

(६) गद्य-फुर्सत की भाषा है, संघर्षों की नहीं, हिन्दी अपने जन्म-काल से ही संघर्षरहित रही है। आदि काल मे राजनैतिक संघर्ष था तथा भक्ति काल में धार्मिक संघर्ष। अतः इन दोनों कालों मे थोड़े से छुटपुट प्रयासों को छोड़कर हिन्दी गद्य का कोई व्यवस्थित रूप नहीं मिलता है और फिर संघर्ष के समय मनुष्य के दुःख की भावनाएँ संक्षेप में व्यक्त हुआ करती हैं और इस संक्षेप की पूर्ति पद्य में होती है, गद्य मे नहीं।

संक्षेप मे, ये ही उपर्युक्त कारण रहे हैं जिनके कारण रीति काल से पूर्व हिन्दी गद्य का व्यवस्थित रूप सामने न आ सका। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि रीतिकाल से पूर्व हिन्दी गद्य का कोई रूप ही नही था। किसी भी वस्तु का जन्म एक क्षण या काल विशेष में नही हो जाया करता है। उसके बीज बहुत समय से पड़े रहते हैं। वे धीरे-धीरे पनपते रहते है और उचित संमय आने पर अपने वास्तविक रूप में सामने आ जाते हैं। यही बात गद्य के विषय में भी रही है। गद्य के छुटपुट प्रयास हमे प्रत्येक काल में ढूँढ़ने पर मिल जायेंगे।

रीतिकाल तक गद्य की यही विशेषता रही। कालान्तर में आधुनिक युग आया और फिर गद्य का अबाध प्रवाह बह निकला।

प्रश्न २३—हिन्दी के प्रारम्भिक गद्य के विषय में संक्षिप्त विवेचना प्रस्तुत कीजिए।

उत्तर—हिन्दी गद्य का प्रारम्भिक रूप हमें राजस्थानी गद्य के रूप में मिलता है। १२ व १३वी शताब्दी के आस-पास के समय में हमें जो दानपत्र और शिलालेख मिलते हैं। वे इस बात के प्रमाण है कि उस समय भी—गद्य का प्रयोग होता था। वैसे दानपत्रों और शिलालेखों का साहित्य की सीमा में अंकन नहीं होता है परन्तु वे कम से कम इस बात के तो प्रमाण है ही कि उस समय की गद्य का प्रयोग होता था। परन्तु तत्कालीन गद्य राजस्थानी गद्य था।

राजस्थानी गद्य के पश्चात् व्रज-गद्य का रूप हमारे सामने आता है। संवत् १०० के लगभग गुरु गोरखनाथ कृत 'सिद्ध प्रमाण' और 'गोरखगोष्ठी' नामक ग्रन्थों में हमें तत्कालीन व्रज-गद्य का रूप देखने को मिल जाता है। इसके पश्चात् सूरदास के समकालीन वल्लभाचार्य जी के पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ जी की 'शृंगार रस मंडन' नामक व्रजभाषा गद्य मे पुस्तक मिलती है। इसकी गद्य गोरखनाथ की गद्य से कुछ अधिक परिष्कृत है।

गोसाईं विट्ठलनाथ जी के पश्चात् उनके सुपुत्र गोसाईं गोकुलनाथजी ने भी 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता' नामक दो ग्रन्थ व्रजभाषा गद्य में रचे। इन दोनों ग्रन्थों की गद्य भाषा पूर्ववर्ती ग्रन्थों से निश्चय ही अधिक व्यवस्थित है।

संवत् १६६० के आस-पास स्वामी नाभादास जी ने एक व्रज गद्य ग्रन्थ निर्माण किया, जिसका नाम था 'अष्टयाम'। शैली की दृष्टि से इसमें पंडिताऊपन आ गया है।

संवत् १७५७ के आस-पास में 'बैताल-पच्चीसी' नामक एक व्रजभाषा का गद्य ग्रन्थ मिलता है। इसके लेखक सूरति मिश्र थे। तत्पश्चात् आपने संवत् १८५१ वि० में तत्कालीन जयपुर नरेश महाराज प्रतापसिंह के आदेश पर 'आइने अकबरी' की 'भाषा चयनिका' नामक पुस्तक की रचना व्रज-गद्य में की है। इसमें यत्र-तत्र विदेशी भाषा अरबी-फारसी के भी शब्द आ गये है।

व्रजभाषा के गद्य के पश्चात् हम खड़ी बोली गद्य के विषय में जब चर्चा

करते हैं तो हम देखेंगे कि खड़ीबोली गद्य का सबसे आरम्भिक रूप हमे 'अमीर खुसरो' की कविताओ मे मिलता है। उनके द्वारा प्रयोग की गयी खड़ी बोली वर्तमान खडीबोली के बहुत समीप है; जैसे—

'ना मारा ना खून किया, बीसों का सिर काट लिया।' (नाखून)
'पण्डित क्यों प्यासा, गदहा क्यों ऊदासा।' (लोटा न था)

उपर्युक्त उदाहरणों को पढ़कर हम सरलता से कह सकते हैं कि हिन्दी खड़ीबोली का विकास बहुत पहले ही हो चुका था। अमीर खुसरो का समय १२-१४ शताब्दी ठहरता है। इससे भी पहले हेमचन्द सूरी ने अपने व्याकरण में खड़ीबोली के शब्दों का प्रयोग किया था। इसके पश्चात् निर्गुण भक्ति के उपासक सन्त कबीरदास के पदो में भी हमे खड़ीबोली गद्य का रूप मिल जाता है। तत्पश्चात् अकबर के दरबारी कवि गंग ने १३वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे 'चन्द छन्द बरनन की महिमा' नामक खड़ीबोली की पुस्तक लिखी। इसके बाद जयमल द्वारा रचित 'गोरा बादल की वीरता' नामक पुस्तक का उल्लेख मिलता है।

इसके पश्चात् खड़ीबोली गद्य की 'भाषा योग वासिष्ठ' नामक पुस्तक का नाम आता है। इसके रचयिता रामप्रसाद निरजनी है और पुस्तक का रचना काल सन् १७४१ ई० के आस-पास ठहरता है। भाषा की दृष्टि से इस पुस्तक की भाषा व्यवस्थित एवं परिष्कृत है। यद्यपि 'भाषा योग वासिष्ठ' के २० वर्ष के पश्चात् सन् १७६१ ई० में मध्य प्रदेश के निवासी पण्डित दौलतराम जी का पद्मपुराण भाषानुवाद हमें उपलब्ध होता है। परन्तु भाषा की दृष्टि से न तो इस ग्रन्थ की भाषा व्यवस्थित है और न परिष्कृत। इस प्रकार हम परिष्कृत एवं शुद्ध खड़ी बोली का क्रमिक विकास सन् १७४१ ई० की रचना 'भाषा 'योग वासिष्ठ से' ही मानते हैं।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि यों तो हिन्दी-गद्य का विकास १२-१३ वी सदी से ही प्रारम्भ हो चुका था। प्रारम्भ मे वह हमें राजस्थानी गद्य के रूप में मिलता है। तत्पश्चात् ब्रजभाषा का गद्य रूप मिलता है। परन्तु वर्तमान गद्य जिसका दूसरा नाम खड़ीबोली है, का व्यवस्थित एवं क्रमिक विकास हमें रामप्रसाद निरंजनी की 'भाषा योग वासिष्ठ' नामक रचना से ही मानना चाहिए जिसका रचना काल सन् १७४१ ई० है।

प्रश्न २४—हिन्दी-पद्य के प्रारम्भिक चार लेखकों का हिन्दी गद्य के विकास में क्या उल्लेख रहा ? उनकी शैलीगत विशेषताओं की विवेचना कीजिए।

अथवा

भारतेन्दु से पूर्व हिन्दी गद्य के विकास का इतिहास संक्षेप में दीजिए।

(सन् १९७२)

उत्तर—भारतेन्दु जी से हिन्दी-साहित्य का चतुर्थ काल अर्थात् गद्य काल प्रारम्भ होता है, परन्तु भारतेन्दु काल आने से पूर्व भी हिन्दी गद्य के विकास का क्रम चलता रहा। सर्वप्रथम खड़ीबोली का प्रयोग मुसलमान औलियों द्वारा १४ वीं शताब्दी में किया गया। ये लोग जिस गद्य का प्रयोग करते थे उसे 'हिन्दवी' के नाम से पुकारते थे। इन औलियों में शाह मूरहानखान, शाह मीरानजी बाजीपुर और सैयद मुहम्मद गैसूदराज आदि का नाम प्रमुख है। इसी समय सम्राट अकबर के दरबारी कवि गंग द्वारा 'चन्द छन्द वरनन की महिमा' नामक ग्रन्थ की रचना खड़ीबोली गद्य मे हुई। इसके अतिरिक्त और भी छुटपुट प्रयास इस सम्बन्ध मे होते रहे, परन्तु प्रमुख कार्य किया गया श्री रामप्रसाद निरंजनी द्वारा 'भाषा योग वासिष्ठ' की रचना के फलस्वरूप। यह खड़ीबोली गद्य का परिष्कृत एवं व्यवस्थित ग्रन्थ था। इससे पूर्व के जितने भी प्रयास हुए वे न तो पूर्णतया व्यवस्थित थे और न उनमें प्रयुक्त भाषा ही परिष्कृत थी। अतः निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि रामप्रसाद निरंजनी ही १८ वीं सदी के प्रथम गद्य लेखक और उसकी रचना 'भाषा योग वासिष्ठ' प्रथम गद्य कृति है। इनका समय सन् १७४१ ई० ठहरता है।

आधुनिक गद्य काल आने से पूर्व ही देश में अँग्रेजों का राज्य जम चुका था। अंग्रेजों ने विदेशी भाषा-भाषी प्रदेश में अपनी शासन-व्यवस्था सुचारु रूप से चलाने के लिए यह आवश्यक समझा कि वे इस देश की भाषा अर्थात् हिन्दी को पढ़ें और फिर राज्य को जमाने के साथ-साथ अपना ईसाई धर्म का प्रचार और प्रसार करने के लिए उन्होंने हिन्दी स्वयं पढ़ना आरम्भ किया और अपनी धर्म पुस्तक बाइबल का हिन्दी में अनुवाद कराकर मुफ्त पुस्तक बाँटने की व्यवस्था की। इस प्रकार इस प्रारम्भिक हिन्दी गद्य के विकास का मुख्य कार्य ईसाई मिशनरियों ने किया चाहे उनका लक्ष्य अपना राज्य और

धर्म जमाना ही क्यों न हो, परन्तु इस बात से कोई असहमति प्रकट नहीं कर सकता है कि हिन्दी गद्य के विकास में ईसाइयों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

सर्वप्रथम हिन्दी गद्य की सेवा एवं प्रचार कार्य करने वाले व्यक्तियों में चार विद्वानों का नाम शीर्षस्थ है जो क्रमशः इस प्रकार हैं—(१) लल्लूलाल जी, (२) पं० सदल मिश्र (३) मुंशी सदासुखलाल नियाज और (४) मुंशी इशाअल्लाखाँ।

जैसा कि हम कह चुके हैं अंग्रेजों ने हिन्दी भाषा को पढ़ने और समझने के लिए कलकत्ते में 'फोर्ट विलियम कालेज' की स्थापना की और इसके तत्कालीन प्रिंसिपल सर जान गिलक्राइस्ट ने भाषा मुंशियों लल्लूलाल जी और पं० सदल मिश्र की नियुक्ति की। दोनों ही भाषा के पंडितों के सहयोग से उन्होंने 'हिन्दी इंगलिश' डिक्शनरी का निर्माण किया।

(१) लल्लूलाल—आप आगरा के निवासी थे। आप हिन्दी-गद्य के प्रारम्भिक लेखकों मे अपना निजी महत्व रखते हैं। आपने फोर्ट विलियम कालेज के प्रिन्सिपल गिलक्राइस्ट के आदेश पर खड़ीबोली गद्य में भागवत के दशम स्कन्ध का अनुवाद 'प्रेमसागर' के नाम से किया। अन्य रचनाओं में 'बेताल पच्चीसी' और 'सिंहासन बत्तीसी' है।

गद्य की विशेषताएँ—आपका गद्य खड़ीबोली का शुद्ध रूप है जिसमें यत्र-तत्र ब्रजभाषा और फारसी के शब्द भी आ गये है। शैली सरल एव भावानुकूल है।

(२) पं० सदल मिश्र—आप भी फोर्ट विलियम कालेज में भाषा के मुंशी के रूप में कार्य करते थे। आप बिहार प्रदेश के निवासी थे। आपने सम्वत् १८३० में 'नासिकेतोपाख्यान' नामक पुस्तक की रचना कालेज के अधिकारियों से प्रेरित होकर की। इस ग्रन्थ की भाषा बड़ी ही व्यवहारोपयोगी है। बिहारी होने के नाते आपकी भाषा में पूर्वीपन आ गया है। शैली की दृष्टि से आपको अच्छी ख्याति मिली और बाद के लेखकों के आदर्श रहे।

(३) मुंशी सदासुख लाल नियाज—मुंशी सदासुखलालजी का समय संवत् १८०३ से १८८१ वि० तक माना जाता है। आप उर्दू और फारसी भाषाओं के पंडित थे। इसके साथ ही साथ आपकी हिन्दी के प्रति भी विशेष रुचि थी। आपने संवत् १८७५ के आस-पास भक्ति-भावना से प्रेरित होकर

'सुखसागर' नामक ग्रन्थ की रचना की। हिन्दी के प्रारम्भिक चार लेखकों में आपका स्थान उच्च माना जाता है।

भाषा-शैली—आपने अपने ग्रन्थ में संस्कृत गर्भित भाषा का प्रयोग किया है। इनकी शैली सरल एवं बोधगम्य है। कहीं-कहीं पंडिताऊपन की भी झलक मिलती है।

(४) **मुंशी इंशाअल्ला खाँ**—आप गद्यकार के साथ ही साथ हिन्दी के प्रथम कहानीकार भी हैं। आपकी कृति 'रानी केतकी की कहानी' या 'उदय-भानु चरित्त' प्रथम हिन्दी कहानी का पद प्राप्त किये हुए है। ये सरल एवं अन्य भाषाओं में रहित हिन्दी के हिमायती थे। वे न तो संस्कृतनिष्ठ भाषा के पक्ष में थे और न हिन्दी-फारसी मिश्रित भाषा के। वे इनसे रहित शुद्ध हिन्दी के पक्षपाती थे।

भाषा-शैली—आपकी भाषा चटकदार एवं मुहावरेदार है। वाक्य में तुकबन्दी का प्रायः प्रयोग मिलता है। आतियाँ-जातियाँ, खातियाँ आदि शब्दों का प्रयोग आपकी भाषा मे बहुतायत से हुआ है। शैली सरल एवं मजेदार है।

संक्षेप में, निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि भारतेन्दु जी से पूर्व हिन्दी गद्य के विकास के प्रयास चल रहे थे तथा लल्लूलाल जी, सदल मिश्र जी मुंशी सदासुखलाल तथा इंशाअल्ला खाँ का गद्य के निर्माण एवं विकास में बहुत ही महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इन चारों लेखकों के अतिरिक्त अन्य छुट-पुट प्रयास भी चल रहे थे।

प्रश्न २५—ईसाई मिशनरियों और आर्यसमाजियों ने हिन्दी गद्य के विकास में क्या योगदान दिया है ? प्रकाश डालिए।

उत्तर—उन्नीसवी शताब्दी हिन्दी-गद्य के विकास के लिए बहुत ही महत्व-पूर्ण एवं सुविधाजनक सिद्ध हुई, क्योंकि इस युग में छापेखाने और आवागमन के साधनों से बड़ी मदद मिली। हिन्दी-गद्य को विकसित करने में हिन्दी के गद्य लेखकों का जहाँ स्थान है, वहाँ ईसाई मिशनरियों और आर्य-समाजी नेताओं का महत्वपूर्ण योगदान रहा।

अँग्रेजों ने अपनी शासन-व्यवस्था सुचारु रूप से चलाने के लिए कलकत्ते के फोर्ट विलियम कॉलेज मे जहाँ हिन्दी पढ़ने-पढ़ाने एवं पुस्तकें लिखने की व्यवस्था की, वहाँ अपने ईसाई धर्म के प्रचार करने के लिए इन्होंने बाइबिल का हिन्दी में अनुवाद करवाकर जनता में उसकी प्रतियाँ मुफ्त में बाँटीं। सन् १७९९ ई० के आसपास कलकत्ते के समीप श्री रामपुर में एक डैनिश मिशन

की स्थापना की गई। इसके संस्थापकों मे विलियम केरे, मार्शमैन और बोर्ड का नाम उल्लेखनीय है। इस मिशन की स्थापना का लक्ष्य था ईसाई धर्म की पुस्तकों का भारतीय भाषाओं में अनुवाद करना और उसे छापकर धर्म प्रचार के लिए जनता मे वितरित करना और उसके लिए उन्हें उचित माध्यम मिला खड़ीबोली गद्य।

इसके अतिरिक्त अन्य सोसाइटियाँ भी बनी जिन्होंने हिन्दी गद्य के निर्माण में सक्रिय सहयोग दिया। 'चर्च मिशनरी सोसाइटी', 'स्कूल बुक सोसाइटी', 'नार्थ इंडिया टैक्स्ट एण्ड बुक सोसाइटी' आदि। इन सोसाइटियों ने अनेक हिन्दी गद्य पुस्तकों के निर्माण का कार्य अपने हाथ मे लिया।

भाषा की शुद्धता की दृष्टि से इस काल के गद्य में बड़ी भूलें थी। उसका कारण यह था कि एक तो यह गद्य का प्रारम्भिक रूप था, दूसरे इस गद्य के लेखक प्राय: विदेशी अँग्रेज हुआ करते थे। हिन्दी के परिष्कार की दृष्टि से इस युग का कोई योगदान नही रहा, हाँ भाषा के विकास मे निश्चय ही इस काल ने गद्य सोपान का कार्य किया।

ईसाइयों ने हिन्दी गद्य के विकास में तो कुछ योगदान अवश्य दिया, परन्तु इसके साथ ही साथ इन लोगों ने हिन्दू धर्म के अन्धविश्वास एवं धर्म के ऊपर अनेक प्रकार की जब कीचड़ उछाली तो आर्य समाजियों से न रहा गया। वे हिन्दू धर्म की निन्दा न सह सके। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने 'सत्यार्थ प्रकाश' की हिन्दी गद्य मे रचना कर जहाँ हिन्दू धर्म की वकालत की वहाँ हिन्दी के विकास में बड़ा ही महत्वपूर्ण योगदान दिया। इनके अतिरिक्त नवीनचन्द्र राय और श्रद्धाराम फिल्लौरी आदि आर्यसमाजी नेताओं ने भी हिन्दू धर्म के प्रचार के साथ-साथ हिन्दी गद्य के विकास में भी बहुत महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

संक्षेप मे, हम कह कहते है कि ईसाई मिशनरियो का लक्ष्य शुद्ध रूप में अपना धर्म प्रचार ही था परन्तु अप्रत्यक्ष रूप मे इससे हिन्दी गद्य का विकास मार्ग निश्चय ही खुला है। इसी प्रकार ईसाई धर्म प्रचार की प्रतिक्रियास्वरूप आर्य समाजियो ने भा जो हिन्दू धर्म की वकालत की उससे भी अप्रत्यक्ष रूप में हिन्दी गद्य का विकास हुआ है। ईसाइयों की हिन्दी मे जहाँ व्याकरण गत दोष थे, वहाँ आर्य समाजियों की हिन्दी मे दोष नही थे, अपितु उनकी हिन्दी गद्य संस्कृतनिष्ठ थी।

प्रश्न २६—हिन्दी गद्य के विकास में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का क्या योगदान है। इस सन्दर्भ में उनकी हिन्दी सेवाओं पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का जन्म संवत् १९०७ वि० में काशी में हुआ। आपके पूज्य पिता श्री गोपालचन्द्र देव एक प्रतिष्ठित धनी एवं अच्छे साहित्यकार थे। ऐसे साहित्यकार घराने में जन्म होने के कारण आप पर बाल्य काल से ही साहित्यिक गतिविधियों का प्रभाव पड़ना शुरू हो गया था। कहा जाता है कि पाँच वर्ष की छोटी-सी अवस्था में ही आपने एक पद रचकर अपने पिता को सुनाया था जिसे सुनकर आपके पिता ने आपको एक अच्छा कवि होने का आशीर्वाद दिया।

भारतेन्दु जी का हिन्दी साहित्याकाश में उदित होना एक बड़ी ही अनोखी घटना थी। इससे पूर्व यद्यपि हिन्दी गद्य का विकास होना आरम्भ हो चुका था। भारतेन्दु जी के पूर्व मुंशी सदासुखलाल, इंशाअल्ला खाँ, सदल मिश्र, लल्लूलाल जी गद्य साहित्य की श्रीवृद्धि में जुटे हुए थे। इसके साथ ही दो और साहित्यकार राजा लक्ष्मणसिंह और राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द भी साहित्यिक आराधना में जुटे हुए थे। इन सभी लेखकों ने हिन्दी के गद्य साहित्य को एक दिशा प्रदान की। परन्तु अभी तक के गद्य का रूप अच्छी तरह स्थिर नहीं हो सका था। आपने इस क्षेत्र में आकर एक ओर तो गद्य को स्थिरता प्रदान करने का प्रयत्न किया और दूसरी ओर हिन्दी गद्य-साहित्य की विभिन्न रूपों में पूर्ति की। इन्हीं सब विशेषताओं के कारण उन्हें हिन्दी-गद्य साहित्य का जनक कहते हैं।

स्वयं बाबू भारतेन्दु जी ने यहाँ गद्य के विभिन्न अंगों—नाटक, कहानी, समाचार-पत्र, निबन्ध, कविता आदि को लिखा वहाँ दूसरी ओर उन्होंने हिन्दी के विभिन्न अंगों की पूर्ति के लिए हिन्दी के तत्कालीन साहित्यकारों का एक मण्डल भी स्थापित किया। इस साहित्य-मण्डल के प्रमुख साहित्यकारों में पं० प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, चौधरी बदरीनारायण 'प्रेमघन', लाला श्री निवासदास, ठाकुर जगमोहन सिंह नेगी आदि का नाम उल्लेखनीय है। इस साहित्यिक मण्डल की गोष्ठियाँ प्रायः भारतेन्दु जी के निवास-स्थान पर ही होती थीं और उनमें सभी साहित्यकार अपनी साहित्यिक कृतियों को बारी-बारी से पढ़ते थे। तत्पश्चात् उन रचनाओं की आलोचनाएँ की जाती थीं। इस प्रकार इस साहित्यिक मण्डल की चेष्टा एवं भारतेन्दु जी की सत्प्रेरणा

के फलस्वरूप ही हिन्दी-साहित्य के विभिन्न अंगों की बहुत अधिक पूर्ति इसी युग में हुई थी।

भारतेन्दु जी एक कड़ी के रूप में हमारे सामने आते हैं। उनकी रचनाओं में प्राचीन एवं नवीन का सुन्दर सम्मिश्रण दिखाई देता है। उसमें प्राचीनता के प्रति मोह था तो नवीनता के प्रति आकर्षण था। उन्होंने जहाँ अपनी रचनाओं में शृंगार एवं प्रेम की भावनाओं को अभिव्यक्त किया है वहाँ उनमें राष्ट्र-प्रेम एवं समाज-प्रेम की भावनाएँ भी पाई जाती हैं। आपने बंगला साहित्य, संस्कृत आदि साहित्यों का अध्ययन किया और उनके ही अनुरूप हिन्दी साहित्य में भी रचनाएँ प्रस्तुत कीं। यह युग गद्य का प्रयोग काल कहलाता है, क्योंकि इस युग में गद्य के विभिन्न प्रकार के प्रयोग किए गए।

जैसा कि हम कह चुके है भारतेन्दु जी ने साहित्यिक मण्डल की स्थापना कर हिन्दी साहित्य की अनेक विधि से सहायता की, वहाँ स्वयं उन्होंने हिन्दी साहित्य के विविध अंगो की भी पूर्ति की है। आपकी सबसे बड़ी देन नाटक हैं। आपके रचे गये नाटक तीन प्रकार के है। मौलिक; रूपान्तरित एवं अनूदित। नाटकों मे आपने—भारत दुर्दशा, मुद्राराक्षस, विद्यासुन्दर, सत्य हरिश्चन्द्र आदि प्रमुख नाटकों की रचना की है। इसके अतिरिक्त नाटक के उपभेदों में प्रहसन, भाण, वियोग आदि भी लेखनी चलाई है। प्रहसनों में आपके 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'विषष्य विषमौषधम्' और 'अंधेर नगरी' आदि बहुत प्रसिद्ध हैं।

नाटकों के विषय एवं शैली दोनो ही क्षेत्रो मे आपका प्राचीनता के प्रति मोह और नवीनता के प्रति आकर्षण विद्यमान रहा। आपने प्राचीन रीतिकालीन प्रेम एवं शृंगारमय शैली को अपने नाटकों मे यथास्थान दिया वहाँ आपके नाटकों में राष्ट्रीय-प्रेम, राष्ट्र-सुधार आदि की भावनाओं का भी सफल चित्रण हुआ है। इसके उदाहरणस्वरूप हम 'भारत-दुर्दशा' एवं 'भारत जननी' नामक नाटकों को प्रस्तुत कर सकते है। इतना ही नहीं, कहीं-कहीं तो उन्होंने विषय की दृष्टि से शृंगार एवं प्रेम के स्थान पर शुद्ध राष्ट्रीयता एवं समाज-सुधार की भावनाओं का ही सफल चित्रण किया है।

नाटकों के अतिरिक्त कविता के क्षेत्र में आपने ब्रजभाषा को ही अंगीकार किया है। साथ ही आपने कई पत्रिकाएँ भी निकाल कर हिन्दी-साहित्य की

महती सेवा की है। हिन्दी पत्रिकाओं में 'हरिश्चन्द्र मेगजीन', 'कवि वचन सुधा', 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका', 'स्त्री सुबोधिनी' आदि का आपने सफल सम्पादन किया है। पत्रिकाओं के अतिरिक्त आपने निबन्ध एवं इतिहास आदि पर भी लेखनी चलाई है।

भाषा-शैली—भाषा-शैली के क्षेत्र में भी आप मध्यम वर्ग के पक्षपाती थे। आपसे पूर्व दो भाषा-शैलियाँ हिन्दी-गद्य में प्रचलित थीं—राजा लक्ष्मण सिंह की संस्कृत गर्भित तथा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' की फारसी एवं उर्दू-मयी। परन्तु भारतेन्दु जी ने इन दोनों के मध्य मार्ग का अवलम्बन किया, अर्थात् उनके गद्य में जहाँ एक ओर उर्दू फारसी के प्रचलित शब्दों का प्रयोग था तो दूसरी ओर वहाँ संस्कृतनिष्ठ तत्सम शैली का भी प्रयोग चल रहा था।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि भारतेन्दु बाबू ने हिन्दी-साहित्य की जो श्रीवृद्धि की है उतनी सम्भवतः किसी अन्य साहित्यकार ने नहीं की और हिन्दी के गद्य काल के प्रारम्भिक साहित्यकार होने के नाते आपने जो अपना उत्तरदायित्व हिन्दी के विविध अंगों की पूर्ति कर निर्वाह किया है उसी से आप हिन्दी-गद्य के जनक के रूप में हिन्दी-साहित्य में सदैव स्मरण किये जायेंगे। आपने ३५ वर्ष के अपने अल्प जीवनकाल में जो सरस्वती की सेवा की है, वह चिरस्मरणीय रहेगी। आपके ग्रन्थों की कुल संख्या लगभग १४० है।

प्रश्न २७—हिन्दी-साहित्य के इतिहास में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का क्या योगदान रहा है ? विवेचन करें।

अथवा

'द्विवेदी युग हिन्दी-साहित्य के सभी अंगों के विकास का युग है, सभी अंगों के उत्थान का नहीं !" इस कथन पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

उत्तर—भारतेन्दु जी का नाम हिन्दी गद्य के प्रयोगकर्ताओं में प्रथम है। आप इस युग के प्रतिनिधि लेखक थे और आपके ही नाम पर इस काल का नाम भी भारतेन्दु काल पड़ा। गद्य का प्रयोग काल होने के कारण इस काल में सर्वत्र स्वच्छन्दता विद्यमान थी। प्रश्न केवल हिन्दी-गद्य के निर्माण का था उसके रूप का नहीं। अतः इस युग में भाषा के व्याकरण की ओर ध्यान नहीं दिया गया। महावीर प्रसाद जी ने हिन्दी-साहित्य में आते ही सर्वप्रथम इसी कमी को दूर करने का बीड़ा उठाया। 'सरस्वती' पत्रिका के सम्पादक के

रूप में तत्कालीन लेखकों की भाषा सम्बन्धी अशुद्धता की आलोचना की और स्वयं उन्हे शुद्ध करने का प्रयास किया। इसी समय आपने पं० कामता प्रसाद गुरु को प्रामाणिक हिन्दी व्याकरण लिखने को सुझाया। ध्यान रहे कामता गुरु का यह ग्रन्थ हिन्दी व्याकरण का प्रथम ग्रन्थ है और आज भी उसकी उपयोगिता कम नही हुई है।

महावीर प्रसाद जी द्विवेदी संस्कृत, उर्दू, बंगला, अंग्रेजी आदि अनेक भाषाओं के ज्ञाता थे। सन् १९०४ ई० में 'सरस्वती' पत्रिका के सम्पादक बनने के पश्चात् आपने भारतेन्दु कालीन हिन्दी-गद्य के बिगड़े हुए रूप को परिष्कृत करने का प्रयास किया। भारतेन्दु काल के गद्य में व्याकरणगत दोष एवं वाक्य-विन्यास की शिथिलता विद्यमान थी। आपने इन दोनों कमियो को दूर करने का प्रयास स्वयं भी किया और अपने समकालीन अन्य साहित्यकारो से भी इस पुनीत कार्य मे हिस्सा बँटवाया।

अभी तक पद्य की भाषा केवल ब्रज या अवधी ही थी। द्विवेदीजी ने खड़ीबोली को भी इस योग्य कर दिया कि उसमे सुन्दर कविता होने लगी। आपने तत्कालीन कवियो को इस ओर आकर्षित किया और यह आपका ही प्रयास था कि खडीबोली में कविता की जाने लगी और हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त, श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी, माखनलाल चतुर्वेदी, पन्त, प्रसाद महादेवी वर्मा आदि ख्याति प्राप्त कवियों का सम्बन्ध इसी भाषा से जुड़ा। इतना ही नही, खड़ीबोली को राष्ट्रभाषा का पद भी प्राप्त हुआ।

खडीबोली को पद्य की भाषा के रूप तक पहुँचाने मे निश्चय ही आचार्य द्विवेदी का बहुत बडा हाथ है। भाषा के साथ आपने काव्य के विषयों में भी परिवर्तन प्रस्तुत किया। भारतेन्दु युग तक कविता मे प्रायः शृंगार एवं प्रेम का ही चित्रण अधिक रहा था। यत्र-तत्र राष्ट्र-प्रेम एवं समाज-सुधार विषयक कविताएँ भी की गयी परन्तु द्विवेदी युगीन कविताओं में तो वर्ण्य-विषय की दृष्टि से बड़ा ही क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। शृंगार पर एक प्रकार से अंकुश ही लग गया और साहित्य मे स्वदेश-प्रेम एवं समाज-सुधार की भावनाओ का ही चित्रण होने लगा।

द्विवेदी जी ने हिन्दी, साहित्य के सभी अंगो का विकास किया। कविता, कहानी, उपन्यास, आलोचना, निबन्ध आदि सभी प्रकार के साहित्यिक अंगों का पूर्ण विकास इस युग मे परिलक्षित होता है, परन्तु इतना होते हुए भी

साहित्य के इन विविध अंगों में कोई प्रौढ़ता नहीं आ पायी है। द्विवेदी युगीन गद्य-शैली की एक सबसे बड़ी कमी यह रही कि वह गम्भीर एवं विचार प्रधान विषयों की व्याख्या करने में समर्थ नहीं थी। इसलिए यह कहा जाता है कि 'द्विवेदी युग हिन्दी-साहित्य के सभी अंगों के विकास का युग है, सभी अंगों के उत्थान का नहीं।'

द्विवेदी जी एक महान् साहित्यकार थे। भाषा के सुधारने एवं संवारने वाले वे एक महान् शिल्पी थे। उन्होंने लगभग ६० ग्रन्थों की रचना की है जिनमें मौलिक एवं अनूदित—दोनों ही सम्मिलित है। पद्य-काव्यों मे विनय-विनोद विहार-वाटिका, कुमारसम्भव सार, कविता कलाप आदि प्रसिद्ध हैं तथा गद्य काव्यों में बेकन विचार रत्नावली, नैषध चरित्र चर्चा, हिन्दी कालिदास की आलोचना, नाट्य-शास्त्र आदि प्रसिद्ध है।

संक्षेप में हम कह सकते है कि द्विवेदी निश्चय ही एक महान् साहित्यकार हुए। उन्होने हिन्दी गद्य के प्रारम्भिक भवन को बड़ी ही कुशलता से काट-छाँट एवं तराश कर हिन्दी-साहित्य को सुन्दर भवन प्रदान किया है। आपने हिन्दी के अनेक ख्याति प्राप्त कवियों को बनाया एवं प्रेरित किया है। आपके ही सद्प्रयासों से आज हिन्दी अपने सर्वोच्च पद अर्थात् राष्ट्रभाषा को सुशोभित कर रही है। द्विवेदी जी की सेवाएँ हिन्दी-साहित्य में सदैव चिर-स्मणीय रहेंगी।

प्रश्न ३८—खड़ीबोली कविता का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

अथवा

आधुनिक हिन्दी कविता के विकास का संक्षिप्त इतिहास लिखिये।

(संवत् २०२०)

उत्तर—यों तो खड़ीबोली कविता का प्रारम्भ चौदहवी शताब्दी के प्रसिद्ध कवि अमीर खुसरो के काव्य से ही हो जाता है। परन्तु इसका क्रमिक एवं व्यवस्थित विकास द्विवेदी युग से ही माना जाना चाहिए। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के प्रयासों से खड़ीबोली पद्य की भाषा ठहरायी गयी और उन्हीं की प्रेरणा से श्रीधर पाठक, अयोध्यासिंह उपाध्याय, नाथूराम शंकर शर्मा, मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी, जयशंकर प्रसाद, दिनकर, माखनलाल चतुर्वेदी, सुमित्रानन्दन पन्त, महादेवी वर्मा, नवीन, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, रामकुमार वर्मा आदि महान् कवियों ने खड़ीबोली को पद्य के रूप में

अपनाया। इन्हीं महान् कवियों की सतत् साधना के फलस्वरूप ही आज यह भाषा पूर्ण समर्थ एवं सशक्त है। इतना ही नहीं, इसमें 'कामायनी' जैसे महाकाव्यों की रचना हुई है, जिसने विश्व साहित्य को अपनी ओर आकर्षित किया है। काव्य एवं शैली की विविधता की दृष्टि से भी इस काव्य का बड़ा महत्व है।

प्रमुख कवियों का संक्षिप्त परिचय

(१) मैथिलीशरण गुप्त—आप खड़ीबोली कविता के प्रथम कवि हैं और खड़ीबोली को पूर्णता प्रदान करने में भी आपका बड़ा महत्व है। आपने विभिन्न छन्दों में रचना की है जिनमें महाकाव्य, खण्ड काव्य एवं मुक्तक काव्य सभी हैं। 'साकेत' आपका महाकाव्य है। सिद्धराज, जयद्रथ वध, यशोधरा आदि आपके खण्ड-काव्य हैं। आप अपने जीवन काल में इस देश के राष्ट्रकवि भी रहे।

(२) प्रसाद—आपका पूरा नाम जयशंकर प्रसाद है। आप खड़ीबोली के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। कविता के अतिरिक्त आपने नाटक, उपन्यास, कहानी आदि साहित्य के विभिन्न अंगों की पूर्ति की है। परन्तु कवि रूप में ही आपकी ख्याति अधिक है। आप भारतीय संस्कृति के प्रबल समर्थक माने जाते हैं। आपका 'कामायनी' महाकाव्य खड़ीबोली का उत्कृष्ट काव्य है। इतना ही नहीं, अपनी उत्कृष्टता के कारण इस ग्रन्थ ने विश्व साहित्य में अपना अक्षुण्ण स्थान बना लिया है। इसके अतिरिक्त 'आंसू', 'लहर' आदि भी आपके काव्य हैं।

(३) पंत—आपका पूरा नाम सुमित्रानन्दन पंत है। आप भी खड़ीबोली के प्रतिनिधि कवियों में अपना प्रमुख स्थान रखते हैं। इस वर्ष १९७८ में पन्तजी के स्वर्गवास से हिन्दी को जो क्षति पहुँची है, उसकी पूर्ति असम्भव है। आपको अपनी अनुपम कृति 'चिदम्बरा' पर ज्ञानपीठ का एक लाख रुपये का पुरस्कार उपलब्ध हुआ था। यह पुरस्कार महाकवि पंत की कविताओं के मूल्याकन स्वरूप है। इसके अतिरिक्त भी आपके अनेकानेक कविता संग्रह—पल्लव, गुंजन, युगान्त, युगवाणी आदि प्रकाशित हो चुके हैं। छायावादी कवियों में भी आपका प्रमुख स्थान है।

(४) निराला—आपका पूरा नाम सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' है। आपकी कविताओं में यथार्थ का वास्तविक चित्रण है। कवि स्वभाव एवं काव्य—दोनों

ही रूपों में विद्रोही रहा है। भाषा पर उनका पूर्ण अधिकार है। आपके जो काव्य संग्रह प्रकाशित हो चुके है उनमें—अनामिका, परिमल, गीतिका आदि प्रमुख हैं।

(५) **दिनकर**—रामधारीसिंह 'दिनकर' वर्तमान पीढ़ी के सबसे अधिक जागरूक कवि थे। वे अपने जीवन-काल में राष्ट्रकवि की पदवी को सुशोभित करते रहे। आपने अपने ग्रन्थों में बदलते हुए सामाजिक मूल्यों का पुनर्मूल्यांकन किया है। रेणुका, हुंकार, कुरुक्षेत्र, परशुराम की प्रतीक्षा आपकी रुचि के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। आपको 'उर्वशी' नामक कृति पर ज्ञानपीठ का एक लाख का पुरस्कार मिल चुका है।

प्रश्न २९—मैथिलीशरण गुप्त को आधुनिक युग का प्रतिनिधि कवि क्यों कहा गया है ? इस पर अपने विचार व्यक्त कीजिए। (संवत् २०२४)

उत्तर—सर्वप्रथम हम यह जानना चाहेंगे कि प्रतिनिधि कवि किसे कहते हैं। प्रत्येक युग का प्रतिनिधि कवि एक ही हुआ है; यथा—वीरगाथा काल का प्रतिनिधि कवि 'चन्दबरदाई', भक्ति काल का प्रतिनिधि कवि 'तुलसी' और रीतिकाल का प्रतिनिधि कवि 'केशव'। प्रतिनिधि कवि हम उस कवि को कहते हैं जो अपने युग की सभी राजनैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक समस्याओं का चित्रण अपने काव्य मे करे। इस दृष्टि से यदि हम विवेचन करें तो हम देखेंगे कि मैथिलीशरण गुप्त ने अपने काव्यों में अपने युग की सभी परिस्थितियों का सुन्दर ढंग से चित्रण किया है।

आपने अनेक ग्रन्थों की रचना की है—'भारत-भारती', 'जयद्रथ-वध', 'अनघ', 'पंचवटी', 'नहुष', 'काबा' और 'कर्बला' 'अर्जन व विसर्जन', 'यशोधरा' और 'साकेत' आदि।

'भारत-भारती' आपकी प्रथम लोकप्रिय रचना है। इसमें आपने तत्कालीन भारत का बहुत ही सुन्दर एवं प्रभावकारी वर्णन प्रस्तुत किया है। आप भारत की वर्तमान दशा से दुःखी थे ही, यदि यही रफ्तार रही तो भविष्य में क्या स्थिति हो जायेगी इस बारे में भी शंकित थे। तभी तो भारतीयो को सचेत करते हुए कहा है—

> "हम कौन थे क्या हो गये और क्या क्या होंगे अभी।
> आओ विचारें आज मिलकर ये समस्याएँ सभी॥"

वस्तुतः एक प्रकार से यह हिन्दू-जागरण काव्य ही कहा जा सकता है। इसी प्रकार आपने महाभारत, पुराण, रामायण आदि के कथानकों को लेकर

भी विभिन्न काव्य ग्रन्थों की रचना की है जिनमें 'जयद्रथ वध' 'पंचवटी', 'नहुष' 'कुणाल', 'द्वापर', 'साकेत' आदि ग्रन्थों में हिन्दुत्व एवं जातीय रूप स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

हिन्दू संस्कृति के पश्चात् आपने 'काबा और कर्बला' नामक काव्य में मुस्लिम संस्कृति का भी सुन्दर परिचय दिया है। इसमें हुसैन और उसके परिवार की दु:खद कथा का वर्णन है।

'अर्जन व विसर्जन' नामक काव्य ईसाई धर्म का परिचायक ग्रन्थ है। 'गुरुकुल' नामक काव्य में सिक्ख गुरुओं के आदर्शों को प्रस्तुत किया है। 'यशोधरा' बौद्ध संस्कृति ग्रन्थ है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मैथिलीशरण गुप्त विभिन्न धर्म जातियों वाले भारत देश के सच्चे प्रतिनिधि थे। उन्होंने विभिन्न सम्प्रदायों एवं धर्मों के सिद्धान्तों का बड़ा ही सहिष्णुता के साथ परिचय दिया है।

इन जातीय काव्यों के अतिरिक्त आपने अपने भावपूर्ण काव्यों की भी रचना की है जिनमें—'झंकार', 'विरहिणी ब्रजांगना', 'वीरांगना' आदि प्रमुख ग्रन्थ है। इन भावपूर्ण ग्रन्थों के अतिरिक्त आपने 'स्वदेश-संगीत', 'हिन्दू' और 'विश्व वेदना' आदि अनेक काव्यों का निर्माण किया है, जिनमें राष्ट्रीयता की भावना का पूर्ण परिचय मिलता है।

काव्य रूपों की दृष्टि से आपने महाकाव्य, खण्ड काव्य और मुक्तक काव्यों की रचनाएँ की हैं। इसके अतिरिक्त आपकी स्फुट कविताएँ भी मिलती हैं। 'साकेत' आपका महाकाव्य है जो महाकाव्य के सभी तत्वों की दृष्टि से पूर्ण खरा उतरता है। इस काव्य के नायक-नायिका राम और सीता ही हैं। इस ग्रन्थ की रचना का मुख्य लक्ष्य लक्ष्मण की पत्नी उर्मिला का चरित्र-निर्माण ही है। राम काव्य की कड़ी का यह अन्तिम काव्य है।

इन्हीं समस्त विशेषताओं के कारण ये भारत के राष्ट्रकवि थे। आपने विभिन्न सम्प्रदायों एवं धर्मों के सिद्धान्तों को लेकर विभिन्न ग्रन्थों की रचना की। आपका दृष्टि में सभी धर्मों एवं सम्प्रदायों का समान मूल्य था। धर्म के अतिरिक्त देश की तत्कालीन आर्थिक एवं राजनैतिक समस्याओं का भी आपके ग्रन्थों में सफल चित्रण हुआ है।

काव्य रूपों की दृष्टि से आपने महाकाव्य, खण्डकाव्य, मुक्तक काव्य आदि सभी प्रकार के ग्रन्थों की रचना की है।

उपर्युक्त सभी विशेषताओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि गुप्त जी वास्तव में प्रतिनिधि कवि थे। उन्हें देश का प्रत्येक नागरिक, प्रत्येक धर्म एवं सम्प्रदाय समान रूप से प्रिय था। वे प्रत्येक धर्म का समान आदर करते थे और वह धर्म और सम्प्रदाय वाले भारत की भी एक रूप में ही पूजा करते थे। वास्तव में वे भारत देश के सच्चे प्रतिनिधि थे। वे जनता की भावनाओं के सच्चे चितेरे थे। उनकी कविता की भाषा भी सरल एवं बोधगम्य हुआ करती थी।

प्रश्न ३०—छायावाद से आप क्या समझते हैं? इस साहित्य की विशेषताओं का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

उत्तर—वर्तमान युग वादों का युग कहा जाता है। साहित्यिक क्षेत्र में यह भावना प्रबल हुई; फलस्वरूप छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद हालावाद आदि अनेक वादों का जन्म हुआ है और न मालूम इसी प्रकार के कितने अन्य वादों का जन्म होना शेष है।

प्रसाद जी के हिन्दी क्षेत्र में उतरते ही जो काव्य-धारा प्रवाहित हुई, उसमें कुछ ऐसी स्वच्छ बातें थीं कि तत्कालीन विरोधी आलोचकों ने इसका परिहास करने के लिए इसका नाम 'छायावाद' रख दिया। इस धारा के प्रवर्त्तकों ने विरोधियों के दिये हुए नाम को स्वीकार कर लिया।

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में समय-समय पर प्रतिक्रियाएँ हुआ करती हैं, उसी प्रकार साहित्य के क्षेत्र में भी यही बात घटित होती है। रीति काल में जो शृंगार की उद्दाम धारा प्रवाहित हुई तो उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप ही द्विवेदी-युग में शृंगार-विहीन इतिवृत्तात्मक कविता का जन्म हुआ। पुनः साहित्य में मोड़ आया और द्विवेदी-युगीन शृंगार-विहीन इतिवृत्तात्मक कविता का विरोध हुआ और उसी की प्रतिक्रियास्वरूप 'प्रसाद-युग' में जो काव्य-धारा प्रवाहित हुई वह 'छायावाद' के नाम से विख्यात हुई। इतिवृत्तात्मकता के विरुद्ध होने वाली प्रतिक्रिया केवल वर्ण्य-विषय तक ही सीमित न थी, अपितु यह प्रतिक्रिया भाव, भाषा-शैली, छन्द आदि सभी रूपों में हुई। द्विवेदी-कालीन कविता में अभिव्यक्ति स्थूल थी जो छायावाद में आकर सूक्ष्म बन गयी। भाषा के क्षेत्र में भी द्विवेदी-कालीन इतिवृत्तात्मक कविता की भाषा नीरस थी परन्तु छायावादी युग में भाषा में सरसता, संगीतात्मकता एवं लाक्षणिकता आ गयी थी। वस्तुतः कविता के भावपक्ष

एवं कलापक्ष—दोनों ही क्षेत्रों मे छायावादी काल में एक बड़ा ही परिवर्तन आया।

छायावादी कविता के मूल में बंगला एवं अंग्रेजी साहित्य की भावनाएँ विद्यमान हैं। इन्ही सरस भावनाओं ने हिन्दी कविता में पदार्पण किया और वह छायावाद के नाम से पुकारी गयी। खड़ीबोली इस काल तक काव्य के अनुरूप भाषा बन चुकी थी अतः इस नयी भाषा ने भी छायावाद के विकास मे अपना हाथ बढाया। संक्षेप में, इन्ही सब विशेषताओं के आधार पर हिन्दी में छायावाद आया।

छायावादी कवि अपने प्राणों की छाया प्रकृति में देखता है। छायावादी कवि को सुख मे प्रकृति आनन्दित एवं दुःख में उदास दिखाई देती है। अतः हम कह सकते हैं कि छायावाद का प्रधान आलम्बन प्रकृति का है। प्रकृति के सुन्दर रूप की अभिव्यक्ति एवं उसके साथ मानव के क्रिया-कलापों का सम्बन्ध स्थापित करना ही छायावादी काव्य की प्रमुख विशेषता है। विभिन्न विद्वानों ने छायावाद की विभिन्न प्रकार की परिभाषाएँ दी हैं। आचार्य शुक्ल छायावाद को काव्य प्रवृत्तियो का प्रच्छन्न पोषण या अभिव्यंजना की एक शैली कहते हैं तो नन्ददुलारे वाजपेयी का कथन है कि—"इसमें एक नूतन सांस्कृतिक भावना का उद्गम है और एक स्वतन्त्र दर्शन की आयोजना भी। पूर्ववर्ती काव्यों से इसमें स्पष्टतः अधिक अस्तित्व और गहराई है।" डा० रामकुमार वर्मा के मत में—"प्रकृति के अन्तर्निहित मानवीय भावो का प्रदर्शन ही छायावाद है।" महादेवी वर्मा के शब्दों में "छायावाद तत्वतः प्रकृति के बीच जीवन का उद्गीथ है।" पंतजी के अनुसार—"छायावादी प्रकृति-चित्रणों मे कवि की अपनी भावनाओ के सौन्दर्य की छाया है।"

उपर्युक्त सभी आलोचकों की परिभाषा का निष्कर्ष इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है कि जब कभी कवि प्रकृति को सजीव बनाकर उससे अपनी आत्मा का तादात्म्य स्थापित करता है तभी उसका नाम छायावाद पड़ जाता है।

विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रस्तुत की गई छायावादी काव्य की परिभाषाओ का सार अग्रलिखित रूप मे प्रकट किया जाता है—

छायावादी काव्य की विशेषताएँ

(१) सौन्दर्य की उपासना इस काव्य का प्रधान गुण है। सौन्दर्य के रूप में नारी-सौन्दर्य एवं प्रकृति-सौन्दर्य—दोनों को ही लिया गया है। इस काल का सौन्दर्य स्थूल एवं मांसल न होकर सूक्ष्म है।

(२) सौन्दर्य-चित्रण के साथ-साथ इस युग में प्रेम-भावना का भी वासना रहित सात्विक रूप मिलता है।

(३) रहस्य की भावना भी इस युग की निजी विशेषता है। ईश्वर की सत्ता के प्रति रहस्य-भावना का विश्वास इस युग की विशेषता है। यह रहस्य-दर्शन पर आधारित है।

(४) वेदना और करुणा की प्रधानता इस युग के साहित्य में अत्यधिक मिलती है। प्रसाद का 'आँसू' और महादेवी जी का प्रसिद्ध गीत 'मैं नीर भरी दुख की बदली' आदि इसी भावना को प्रकट करने वाले हैं।

(५) नारी की महत्ता का अंकन—वह केवल वासनामयी नहीं है, अर्थात् इससे भी बढ़कर प्रेरणामयी एवं जीवनदायिनी भी है।

(६) पलायन की प्रवृत्ति—छायावादी कवि संसार के दुःखों एवं असन्तोष से घबराकर किसी काल्पनिक लोक में विचरण करना चाहते हैं अतः उसके काव्य में इसी कारण 'पलायन' की प्रवृत्ति भी आ गयी है।

(७) इस युग की कविता का प्रधान आलम्बन प्रकृति है। प्रकृति सजीव, चेतन एवं सहचरी के रूप में चित्रित की गयी है। दूसरे शब्दों में प्रकृति का मानवीकरण इस काव्य की प्रमुख विशेषता है।

(८) छायावादी काव्य 'प्रतीकवादी' काव्य होते हैं। इसमें प्रकृति का आलम्बन लेकर तदनुकूल प्रतीकों को वर्णित किया जाता है।

(९) इस काव्य की भाषा खड़ी बोली है जो संस्कृत गर्भित, क्लिष्ट एवं परिष्कृत है।

(१०) पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव के कारण इसमें कुछ नवीन अलंकारों, यथा—विशेषण विपर्यय, मानवीकरण आदि का प्रयोग हुआ है साथ ही छन्द भी नवीन है।

हिन्दी में पदार्पण—कुछ विद्वान् छायावाद का प्रारम्भ मैथिलीशरण गुप्त की 'झंकार' नामक पुस्तक से मानते हैं। परन्तु वास्तव में यह छायावादी काव्य न होकर भावनाप्रधान काव्य है। छायावाद का श्रीगणेश प्रसाद जी

के 'झरना' नामक काव्य से मानना चाहिए। तत्पश्चात् उनका द्वितीय छायावादी काव्य 'लहर' निकला। 'लहर' के पश्चात् पंतजी का 'पल्लव' नामक काव्य प्रकाशित हुआ। किंतु प्रसादजी का 'कामायनी' नामक महाकाव्य निकला जो छायावादी सभी विशेषताओं को अपने में समेटे हुए है, प्रसाद और पंत के पश्चात् छायावाद में गिने जाने वाले कवियों में महादेवी और निराला जी का महत्वपूर्ण स्थान है। महादेवी जी ने 'दीप-शिखा' और 'यामि' नामक काव्यों को प्रस्तुत किया तो निरालाजी ने 'अनामिका', 'परिमल' 'कुकुरमुत्ता' आदि काव्यों को प्रस्तुत किया। छायावादी शैली की दृष्टि से इन सभी ग्रन्थों का विशेष महत्व है।

उपर्युक्त प्रमुख चार कवियों के अतिरिक्त अन्य भी इस धारा की श्रीवृद्धि करने में डा० रामकुमार वर्मा, भगवतीचरण वर्मा, दिनकर, माखनलाल चतुर्वेदी आदि अनेक कवियों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

पतन के कारण—छायावाद हिन्दी-साहित्य में बड़े जोर-शोर से एवं तेजी के साथ आया परन्तु चूँकि यह केवल कल्पना लोक की वस्तु थी और इसका लोक-जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं था, अतः यह काव्य जनमानस का कल्याण न कर सका। फलतः जनता ने भी इसे भली-भाँति नहीं स्वीकारा। इसी कारण यह केवल पन्द्रह-बीस वर्ष के छोटे समय में ही जिस तेजी से आया था, उस तेजी से लुप्त हो गया। छायावाद के प्रमुख कवि पन्तजी ने स्वयं इस तथ्य को स्वीकार करते हुए कहा है कि—'छायावाद अधिक नहीं चल सका, क्योंकि इसके पास भविष्य के लिए उपयोगी नवीन आदर्शों का प्रकाश, नवीन भावना का सौन्दर्य-बोध और नवीन विचारों का रस नहीं था।" यही कारण रहा कि अधिकांश छायावादी कवि भी स्वयं इस धारा को छोड़कर प्रगतिवाद में बहने लगे थे।

प्रश्न ३१—रहस्यवाद क्या है, स्पष्ट करें। साथ ही रहस्यवाद एवं छायावाद में अन्तर स्थापित करते हुए रहस्यवाद की विशेषताओं पर प्रकाश डालें।

उत्तर—'रहस्य' का शाब्दिक अर्थ है—छिपा हुआ व अज्ञात। ईश्वर अज्ञात है और इसी अज्ञात को जानने की सबकी जिज्ञासा बनी रहती है। जिस काव्य-प्रवृत्ति के द्वारा हम उस अज्ञात एवं अव्यक्त ईश्वर को व्यक्त करने की चेष्टा करते हैं, उसे ही 'रहस्यवाद' का नाम दिया जाता है। यह रहस्यवाद

साहित्य में कोई नयी भावना नहीं, अपितु इसका प्रचलन वैदिक काल से होता चला आ रहा है, हाँ इतनी बात अवश्य है कि इसका यह नाम वादों के युग में नहीं रखा गया है। रहस्यवाद की परिभाषा करते हुए विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने मत प्रस्तुत किये है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मतानुसार—"जो चिन्तन के क्षेत्र में अद्वैतवाद है वही भावना के क्षेत्र में रहस्यवाद है।" डॉ० रामकुमार वर्मा के मत में—"रहस्यवाद आत्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना निश्चल सम्बन्ध जोड़ना चाहती है और यह सम्बन्ध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में कुछ अन्तर नहीं रह जाता है।

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि जब कवि की आत्मा भावना के क्षेत्र में पहुँचकर परमात्मा से मिलन कर लेती है, तब उस स्थिति को हम 'रहस्यवाद' के नाम से पुकारा करते हैं।

रहस्यवादी साधक को चार स्थितियों में से गुजरना पड़ता है जो क्रमशः जिज्ञासा, ज्ञान, प्रेम और मिलन या लय कहलाती है। जिज्ञासा मे साधक के अन्दर उस अज्ञात सत्ता को जानने की इच्छा बनी रहती है; यथा—

'हे अनन्त रमणीय कौन तुम कैसे मैं यह कह सकता।'

इसके पश्चात् यह ज्ञान प्राप्त कर चिन्तन मनन में जुट जाता है और तत्पश्चात् वह उससे अनन्य प्रेम करने लगता है। प्रेम की यह अनन्यता कालान्तर में मिलन या लय में परिणत हो जाती है और साधक को सारा संसार ही 'सियाराम मय' या फिर 'लाली मेरे लाल की जित देखूँ तित लाल' दिखाई देने लगता है।

रहस्यवाद चार प्रकार का होता है—

(१) **दार्शनिक रहस्यवाद**—इसके अन्तर्गत ईश्वर की अभिव्यक्त सत्ता को दर्शनशास्त्र में बताये गए सिद्धान्तों के अनुसार जानने की चेष्टा की जाती है, अतः इसे हम दार्शनिक रहस्यवाद कहते है। इस वर्ग में जयशंकर प्रसाद और भूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' का नाम आता है।

(२) **प्रकृति सम्बन्धी रहस्यवाद**—प्रकृति के माध्यम से ईश्वर की प्रतीति की जाती है अतः इसे प्रकृति सम्बन्धी रहस्यवाद कहते है। इसके प्रमुख कवि है—सुमित्रानन्दन पन्त और रामनरेश त्रिपाठी।

(३) **उपासना सम्बन्धी रहस्यवाद**—इसके अन्तर्गत भक्त केवल मात्र उपासना के माध्यम से अपना अस्तित्व ईश्वर से मिला देना चाहते हैं ईश्वर ही उनका सब कुछ होता है। इस वर्ग के कवियों मे मीरा और दादू आदि सन्त आते हैं।

(४) **शृंगार व प्रेम सम्बन्धी रहस्यवाद**—प्रेम के माध्यम से ईश्वर से मिलन करने की चेष्टा की जाती है। इसके प्रमुख कवि प्रेममार्गी शाखा के प्रतिनिधि कवि जायसी, ज्ञानमार्गी शाखा के कबीर तथा नवीन एवं माखन लाल चतुर्वेदी आदि माने जाते हैं।

छायावाद और रहस्यवाद में अन्तर—छायावाद और रहस्यवाद दोनो में ही प्रकृति का सम्बल लिया जाता है। आजकल के रहस्यवादी कवियों मे अधिकाश प्रकृति सम्बन्धी रहस्यवाद के ही पोषक है। प्रकृति को सजीव रूप में वर्णित करके उसी के द्वारा वे अपनी आत्मा का परमात्मा से मेल स्थापित किया करते हैं। इसी आधार पर कुछ आलोचक छायावाद और रहस्यवाद को एक ही बात समझ बैठे। प्रकृति, कलापक्ष एवं भावो की तीव्रता आदि का साम्य होने के कारण छायावाद और रहस्यवाद को एक ही समझा जाने लगा परन्तु वास्तविकता इससे भिन्न है। छायावाद और रहस्यवाद में अन्तर है। छायावाद मे आत्मा का मिलन आत्मा मे होता है, जबकि रहस्यवाद में आत्मा का मिलन परमात्मा से होता है। छायावाद में जगत अथवा प्रकृति के अन्दर ब्रह्म अथवा जीव की छाया का वर्णन हुआ करता है, जबकि रहस्यवाद मे ब्रह्म और जीव अर्थात् परमात्मा और आत्मा में एकता स्थापित की जाती है। छायावाद में लक्ष्य 'व्यक्ति' रहता है, जबकि रहस्यवाद में 'ईश्वर'। संक्षेप मे रहस्यवाद और छायावाद मे प्रधान अन्तर यही है। हाँ, प्रकृति सम्बन्धी रहस्यवाद और छायावाद मे कुछ समीपता अवश्य होती है। परन्तु रहस्यवाद के अन्य तीन रूपों—दार्शनिक उपासना सम्बन्धी और शृंगार व प्रेम सम्बन्धी रहस्यवाद का छायावाद से कोई सम्बन्ध नहीं होता है।

प्रश्न३२—प्रगतिवाद क्या है ? इस साहित्य की विशेषताओं का संक्षेप में विवेचन करें।

अथवा

प्रगतिवाद से आप क्या समझते हैं ? हिन्दी में प्रगतिवाद के विकास पर अपने विचार प्रकट कीजिए। (संवत् २२०१)

उत्तर—जगत व मानव सभी कुछ परिवर्तनशील है। इसी प्रकार साहित्य भी इस प्रभाव से अछूता नहीं रहा है। जब साहित्य में प्रचलित विचारधारा प्राचीन पड़ जाती है तो उसका स्थान लेने के लिए एक नवीन विचारधारा जन्म लिया करती है। द्विवेदी युगीन इतिवृत्तात्मकता को प्रतिक्रियास्वरूप साहित्य में छायावाद का जन्म हुआ और छायावाद का भी अतिक्रमण होने लगा तो साहित्य मे एक अन्य विचारधारा का विकास हुआ जो 'प्रगतिवादी विचारधारा' कहलाई। छायावाद की कल्पनाशीलता, भावुकता एवं आदर्शवाद के विरोध में ही इस नवीन धारा का जन्म हुआ। छायावादी साहित्य में एक प्रकार का पलायनवादी प्रवृत्ति आ गई थी। कवि-जगत के संघर्ष से दूर हट-कर कल्पनालोक में विचरण किया करते थे। इस प्रवृत्ति को ही रोकने के लिए साहित्य में प्रगतिवाद आया।

प्रगतिवाद में कोई निश्चित परिभाषा तो नहीं की जा सकती है परन्तु फिर भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि राजनीति के क्षेत्र में जिसे साम्यवाद कहा जाता है, उसी को साहित्य के क्षेत्र में प्रगतिवाद नाम दिया जाता ह। साम्यवाद और प्रगतिवाद—दोनों का ही लक्ष्य एक है। दोनों ही इसी जगत् और इस जगत् में रहने वाले मानवों का अध्ययन करते हैं; दोनों का लक्ष्य है आर्थिक वैषम्य को दूर कर जनता में छोटे-बड़े के भेद को नष्ट करना, गरीबों एवं दुःखियों के दुःख को दूर करना आदि प्रगतिवाद के मूल में 'मार्क्स' का दर्शन होता है। और मार्क्स तथा 'हीगल' ही इसके आदि-प्रवर्त्तक माने जाते हैं। हिन्दी साहित्य में इसका प्रारम्भ करने वाले श्री सुमित्रानन्दन पन्त हैं।

प्रगतिवाद की मुख्य विशेषताएँ—(१) यह साहित्य पूँजीवाद का घोर विरोधी है। छोटे-बड़े, धनी-निर्धन, ऊँच-नीच के बीच की खाई यह साहित्य नहीं देखना चाहता है। इसमें मजदूर, किसान, श्रमिक तथा शोषित वर्ग के उत्थान का बीड़ा उठाया गया है।

(२) यह साहित्य समाज की विषमता को दूर करने के लिए कटिबद्ध है। उसकी शान्तिपूर्ण सुधारों में कोई आस्था नहीं है वह तो क्रान्ति एवं विद्रोह के द्वारा इस आर्थिक विषमता को दूर भगाना चाहता है।

(३) प्रगतिवादी आदर्शवाद न होकर घोर यथार्थवादी है। समाज का यथातथ्य चित्रण करना ही इसका एकमात्र लक्ष्य है।

(५) यह गरीब जनता की आवाज है और उसका साथी है।

प्रगतिवाद के दोष—प्रत्येक वस्तु के दो रूप होते है—शुभ और अशुभ प्रगतिवाद मे जहाँ कुछ अच्छाइयाँ हैं, वहाँ उसमें कुछ दोष भी पाये जाते हैं। ये दोष निम्नलिखित है :

(१) यह साहित्य पूर्णतया विदेशी भावना से ओतप्रोत है। अपने देश की संस्कृति को छोड़कर यह विदेशी, अर्थात् रूसी संस्कृति के गीत गाता है जो ठीक नही है।

(२) यह भ्रान्ति एव विद्रोह फैलाना चाहता है जब शान्तिमय सुधारों से कोई कार्य हो जाय तो इस उग्र कदम का उठाना हितकर नही है।

(३) इस साहित्य में धर्म एवं ईश्वर का कोई स्थान नही है, जबकि धर्म-प्राण भारत में प्रत्येक पग पर धर्म एवं ईश्वर की सत्ता स्वीकार की जाती है अतः इसका यह रूप भी उचित नहीं है। यह भावना देश के हित मे नही है।

(४) इस साहित्य में वासना का नग्न चित्रण प्रस्तुत किया जाता है, इससे समाज मे अनाचार एवं दुराचार को प्रोत्साहन मिलता है।

(५) साहित्य का लक्ष्य 'सत्यं, शिवं सुन्दरम्' होना चाहिए। इस साहित्य में 'शिवं' अर्थात् समाज के कल्याण सम्बन्धी बातों को कोई स्थान नहीं है। ऐसी स्थिति में साहित्यकार इस साहित्य को साहित्य ही मानने का तैयार नही है।

(६) इसमें कलापक्ष की ओर ध्यान नही दिया गया।

प्रगतिवाद के इन्ही दोषों के कारण यह साहित्य केवल पन्द्रह वर्ष तक जीवित रहा। सन् १९३५ मे इंगलैण्ड में प्रगतिवादी लेखकों का एक संगठन बना था। सन् १९३६ में उसकी एक शाखा भारत मे बनी और उसी वर्ष प्रेमचन्द जी के सभापतित्व मे इसका प्रथम सम्मेलन लखनऊ में आयोजित हुआ था। तभी से हिन्दी साहित्यकारों का ध्यान इस वाद की ओर आकृष्ट हुआ। प्रगतिवाद के प्रथम कवि के रूप में सुमित्रानन्दन पन्त का नाम आता है। इस वर्ग के लेखकों मे रामेश्वर 'करुण' व राणा जंगबहादुर सर्वप्रथम आते हैं। तत्पश्चात् श्री मलिन्द, उदयशंकर भट्ट, हरिकृष्ण प्रेमी, पन्त, निराला आदि अनेक कवि इस साहित्य की श्रीवृद्धि करते रहे। लगभग पन्द्रह वर्ष तक यह हिन्दी-साहित्य गगन पर छाया रहा और सन् १९५० के लगभग इस वाद का अन्त हो गया। संक्षेप में यही इसका इतिहास है।

प्रश्न ३३—हिन्दी-साहित्य में नाटकों के विकास पर एक संक्षिप्त लेख लिखें। (सन् १९७२)

उत्तर—भारतेन्दुकाल हिन्दी के विभिन्न अंगों की रचना की दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण काल माना जाता है। इस युग में गद्य के विभिन्न अंग—नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, आलोचना आदि का सम्यक् विकास हुआ।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का काल हिन्दी-साहित्य में नाटकों के विकास की दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान रखता है। स्वयं भारतेन्दु के मतानुसार हिन्दी का प्रथम नाटक विश्वनाथसिंह कृत 'आनन्द रघुनन्दन' है। इसके पश्चात् राजा लक्ष्मणसिंह का कालिदास के प्रसिद्ध नाटक 'शाकुन्तलम्' का, हिन्दी में 'शकुन्तला' के नाम से अनुवाद प्रस्तुत हुआ। स्वयं भारतेन्दु के पिता बाबू गोपालचन्द्र जी भी अच्छे साहित्यकार थे और उन्हीं के द्वारा लिखा गया 'नहुष' नामक नाटक हिन्दी का प्रथम मौलिक नाटक माना जाता है।

भारतेन्दु जी के इस क्षेत्र में अवतरित होते ही नाटक क्षेत्र में एक क्रान्ति सी उपस्थित हो गयी। भारतेन्दु के समय बंगला एवं अंग्रेजी नाटकों का हिन्दी नाटकों पर प्रभाव पड़ रहा था। भारतेन्दु जी ने अपने नाटकों में अंधानुकरण नहीं किया अपितु वे प्राचीनता एवं नवीनता—दोनों का सम्मिलित रूप अपने नाटकों में प्रस्तुत कर सके। उन्होने विभिन्न प्रकार के विषयों को लेकर हिन्दी में अनेकानेक नाटकों का निर्माण किया। 'भारत दुर्दशा', 'भारत जननी', 'विद्यासुन्दर', 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' आदि अनेक नाटक सामाजिक एवं राजनीतिक दशाओं को चित्रित करने वाले है। भारतेन्दुजी ने अपने नाटकों को रंग-मंच पर खेले जाने योग्य बनाया।

एक ओर तो भारतेन्दुजी स्वयं नाटक रचना में रत थे दूसरी ओर उन्होने साहित्यकारों की एक मंडली बनायी जिसमें अनेकानेक छोटी के साहित्यकार थे। इन साहित्यकारों ने भी अनेक प्रकार के नाटकों का निर्माण कर हिन्दी नाटक साहित्य को खूब भरा है। श्रीनिवासदास द्वारा रचित—'संयोगिता स्वयंवर' और 'प्रहलाद चरित्र' नाटक, चौधरी बदरीनारायण कृत 'सौभाग्य', श्रीधर भट्ट कृत—'रेल का विकट खेल', 'बाल-विवाह' और 'चन्द्रसेन' नामक नाटकों की रचना हुई है। इस युग के अन्य नाटकों में प्रतापनारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी, अम्बिकादत्त व्यास, बालकृष्ण भट्ट, गोपलराम गहमरी आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इस काल के नाटकों का वर्ण्य-विषय प्रायः सामाजिक ही हुआ करता था।

भारतेन्दुकाल के पश्चात् द्विवेदीकाल आता है। यह काल अनुवादों का काल है, अर्थात् इस काल में प्राय: बंगला एवं अंग्रेजी नाटकों का ही अनुवाद है। सर्वाधिक अनूदित नाटकों में श्री राय और श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के नाटकों की गणना की जाती है। इस युग में कुछ मौलिक नाटकों का भी पता चलता है, जिसमें मिश्रबन्धु कृत 'नेत्रोन्मीलन' और गुप्त जी कृत 'चन्द्रहास' नामक नाटक प्रमुख हैं। अन्य नाटककारों में राधेश्याम कथावाचक और हरीकृष्ण जौहरी आदि नाटककारों का नाम आता है।

द्विवेदी-युग के पश्चात् प्रसाद-युग आता है। इस युग में नाटककारों में सर्वाधिक ख्याति प्रसाद बाबू की है। आपने भारतीय संस्कृति की पृष्ठभूमि में सामाजिक एवं ऐतिहासिक नाटकों की रचना की है। चारित्रिक विकास एवं अन्तर्द्वन्द्व प्रसाद जी के नाटकों की निजी विशेषता है। आप प्राचीन भारतीय संस्कृति के सजग प्रहरी माने जाते हैं। आपके नाटकों मे यह बात स्पष्ट रूप से लक्षित होती है। आपके नाटकों में चन्द्रगुप्त, करुणालय, स्कन्दगुप्त आदि प्रसिद्ध हैं। भाषा, भाव, अभिनेयता और देश-काल आदि सभी नाटकीय तत्वों की दृष्टि से प्रसाद के नाटकों का हिन्दी में उच्च स्थान है।

प्रसादजी के अतिरिक्त इस युग के अन्य श्रेष्ठ नाटककार श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र माने जाते हैं। मिश्र जी के नाटक समस्या प्रधान हैं उनमें आधुनिकता की झलक स्पष्ट रूप में दृष्टिगोचर होती है। अन्य नाटककारों में बदरीनाथ भट्ट, पं गोविन्दवल्लभ पंत, सेठ गोविन्ददास, हरिकृष्ण प्रेमी, उदयशंकर भट्ट, हरिकृष्ण जौहरी आदि का नाम प्रमुख है। जी० पी० श्रीवास्तव के नाटकों में हास्य का स्थान प्रमुख है। उपर्युक्त सभी नाटककारों के नाटकों के विषय ऐतिहासिक न होकर मध्य वर्ग की समस्याओ का उद्घाटन करने वाले हुआ करते थे।

एकांकी नाटक—वर्तमान युग ज्यों-ज्यों उन्नति करता जा रहा है, त्यों-त्यों मनुष्य संक्षिप्तता की ओर अग्रसर होता जा रहा है। बड़े-बड़े नाटकों को पढ़ने के लिए अब मनुष्य को समय नही मिलता है, अत: वह चाहता है कि कम से कम समय में नाटक पढ़ा जा सके, ऐसा नाटक होना चाहिए। इसी आवश्यकता को पूरा करने के लिए साहित्य मे एकांकी नाटक का उद्भव हुआ। आदर हुआ। वर्तमान समय में प्रमख

एकांकीकारों में डा० रामकुमार वर्मा, भुवनेश्वर प्रसाद, उपेन्द्रनाथ अश्क तथा उदयशंकर भट्ट आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय है। अन्य एकांकीकारों में विष्णु प्रभाकर, भगवतीचरण वर्मा एवं रामचन्द्र तिवारी आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

प्रश्न ३४—हिन्दी साहित्य में उपन्यासों के विकास पर एक संक्षिप्त लेख लिखिये।

उत्तर—गद्य की अन्य विधाओं के समान ही उपन्यास का विकास भी भारतेन्दु-काल से ही हिन्दी में माना जाता है। इस युग का प्रथम मौलिक उपन्यास श्रीनिवास द्वारा रचित 'परीक्षा-गुरु' माना जाता है। इसी काल में बाबू राधाकृष्णदास रचित 'निस्सहाय हिन्दू' का नाम आता है। तत्पश्चात् बालकृष्ण भट्ट कृत 'सौ अजान : एक सुजान' एवं 'नूतन ब्रह्मचारी' नामक दो उपन्यासों का परिचय मिलता है।

इस काल में मौलिक उपन्यासों के अतिरिक्त कुछ अन्य उपन्यास बंगला भाषा से भी अनुदित हुए। अनुवादकों में कार्तिक प्रसाद खत्री, राधाचरण गोस्वामी और राधाकृष्णदास का नाम प्रमुख है।

भारतेन्दु काल के पश्चात् द्विवेदी-काल उपन्यास की दृष्टि से बहुत ही समृद्ध माना जाता है। इस काल में मौलिक एवं अनूदित दोनो प्रकार के उपन्यासों का निर्माण हुआ। मौलिक उपन्यासकारों में सर्वप्रथम नाम बाबू देवकीनन्दन खत्री का आता है। 'चन्द्रकांता', 'चन्द्रकांता संतति' एवं 'भूतनाथ' आपके प्रसिद्ध उपन्यास हैं। ये उपन्यास साहित्यिक दृष्टि से तो उच्च नहीं थे, क्योंकि इनमें ऐय्यारी और तिलिस्मी प्रवृत्ति की प्रधानता थी, परन्तु मनोरंजन की दृष्टि से इन नाटकों का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। पं० किशोरी लाल गोस्वामी भी मौलिक उपन्यासकार थे। आपने लगभग ६० उपन्यासों का निर्माण किया था। गोपालराम गहमरी के उपन्यासों में जासूसी का तत्व था। साहित्यिक दृष्टि से लिखे गये उपन्यासों में हरिऔध का 'अधखिला फूल' और 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' अधिक प्रसिद्ध हैं। इस काल के अन्य उपन्यासकारों में लज्जाराम मेहता एवं बाबू ब्रजनन्दन सहाय आदि का नाम उल्लेखनीय है।

द्विवेदी-युग के पश्चात् उपन्यास के क्षेत्र में बड़ा ही क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित हुआ और इसका सम्पूर्ण श्रेय जाता है मुंशी प्रेमचन्द को। प्रेमचन्द

ने लगभग १६ उपन्यास लिखे है। आपके लगभग सभी उपन्यास समाज में बड़ी ही श्रद्धा के साथ पठनीय है। इन उपन्यासों मे गबन, गोदान, रंगभूमि, प्रेमाश्रम, सेवासदन आदि प्रमुख है। प्रेमचन्द से पूर्व भी यों तो उपन्यास लिखे जा चुके थे, परन्तु उन उपन्यासों में जीवन की अनुभूति नही थी। वे जन-जीवन की समस्याओं के चित्र नही थे। परन्तु प्रेमचन्द जी के सभी उपन्यास जन-जीवन की समस्याओं को अपने में समेटे रहते है। आपने अपने उपन्यासों में समाज का यथार्थ चित्रण किया है। आपने अनमेल विवाह, बाल और वृद्ध विवाह, दहेज प्रथा आदि सामाजिक कुरीतियो एवं साथ ही सरकारी कर्मचारियों—पुलिस, पटवारी, तहसीलदार आदि सभी पर करारे व्यंग्य कसे हैं। आपने अपने उपन्यासो मे यथार्थ और आदर्श का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत किया है। प्रेमचन्द के उपन्यासों की इसी सफलता के कारण उन्हें उपन्यास सम्राट के नाम से पुकारा जाता है।

प्रेमचन्द के पश्चात् अन्य उपन्यासकारों में प्रसाद आते है। आपने 'तितली' एवं 'इरावती', (अपूर्ण) नामक उपन्यासों की रचना की है। तत्पश्चात् अन्य उपन्यासकारों में विशम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', सुदर्शन उग्र आदि का नाम आता है। इनके पश्चात् ऐतिहासिक उपन्यासकारों के रूप में बाबू वृन्दावन लाल वर्मा का नाम उल्लेखनीय है। वृन्दावनलाल वर्मा ने 'गढ़ कुण्डार', 'विराटा की पद्मिनी', 'झाँसी की रानी', 'मृगनयनी', 'महारानी दुर्गावती' आदि अनेक प्रमुख ऐतिहासिक उपन्यासो की रचना की है। चतुरसेन शास्त्री का 'हृदय की प्यास', 'अमर अभिलाषा', 'वैशाली की नगर वधू' आदि प्रमुख उपन्यास है। इस युग के अन्य प्रसिद्ध उपन्यासकारो में भगवतीचरण वर्मा, जैनेन्द्रकुमार, यशपाल, रांगेय राघव, भगवती प्रसाद वाजपेयी आदि के नाम प्रमुख है।

प्रश्न ३५—हिन्दी निबन्ध साहित्य का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

उत्तर—भारतेन्दु-काल से ही हिन्दी-निबन्ध साहित्य का विकास माना जाना चाहिए। बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने साहित्य के इस अंग की पूर्ति 'हरिश्चन्द्र मेगजीन', 'कवि वचन सुधा' आदि पत्रिकाओं में विविध प्रकार के निबन्ध लिख कर की। शुद्ध निबन्ध रचना की दृष्टि से पं० बालकृष्ण भट्ट का नाम सर्वप्रथम आता है। आपने 'हिन्दी-प्रदीप' नामक पत्रिका का सफलता-पूर्वक तीस वर्ष तक सम्पादन किया और शिष्टाचार, सदाचार, जीवन-चरित्र, पर्व आदि विविध विषयों पर जमकर निबन्ध लिखकर निबन्ध-साहित्य

का मार्ग प्रशस्त किया। अन्य निबन्धकारों में प्रतापनारायण मिश्र, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', राधाकृष्णदास, राधाचरण गोस्वामी, लाला श्रीनिवास दास आदि का नाम प्रमुख है। इस युग में लिखे गये निबन्ध प्रायः पत्र-पत्रिकाओं में ही होते थे, अलग से संगृहीत नहीं।

भारतेन्दु-काल के पश्चात् द्विवेदी-काल में निबन्धों का बड़ा ही विकास हुआ। इस काल के प्रमुख निबन्धकारों में पं० माधवप्रसाद मिश्र, बाबू बालमुकुन्द गुप्त, पद्मसिंह शर्मा, प्रो० पूर्णसिंह, मिश्रबन्धु, श्यामसुन्दरदास, गणेशशंकर विद्यार्थी आदि का नाम प्रमुख है। विषय की दृष्टि से इस युग के निबन्धों में साहित्य और भाषा, भूगोल, इतिहास, धर्म आदि का ही प्रमुखता से वर्णन हुआ है। यह युग भाषा के संस्कार का युग था अतः निबन्धों का भाषा के परिमार्जित रूप में प्रमुख स्थान रहा है।

अन्य निबन्धकारों में स्वयं महावीरप्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, कामताप्रसाद गुरु एवं पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, बाबू गुलाबराय, वियोगी हरि, शान्तिप्रिय द्विवेदी आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने तो इस युग के निबन्ध के क्षेत्र में बड़ा ही महत्वपूर्ण योगदान किया है। उन निबन्धों का संकलन चिन्तामणि के दो भागों में हुआ है। आपके निबन्ध मनोवैज्ञानिक, विचारात्मक, गवेषणात्मक एवं आलोचनात्मक होते है।

शुक्ल जी के पश्चात् के युग में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० रामविलास शर्मा, डा० नगेन्द्र, जैनेन्द्र, अज्ञेय, शिवदानसिंह चौहान, प्रभाकर माचवे, धर्मवीर भारती, नलिन विलोचन शर्मा, राहुल सांकृत्यायन आदि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

इस युग मे लिखे गये निबन्धों में वर्ण्य-विषय विविध है परन्तु फिर भी साहित्यिक एवं आलोचनात्मक निबन्धों की दृष्टि से इस काल का बड़ा महत्व है।

प्रश्न ३६—हिन्दी-साहित्य में आलोचना-साहित्य का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

उत्तर—अन्य गद्य की विधाओं के अनुसार इस विधा का भी विकास काल भारतेन्दु जी से आँका जाता है। इस युग के लाला श्रीनिवासदास द्वारा 'संयोगिता स्वयंवर' की आलोचना चौधरी बदरीनारायण 'प्रेमघन' ने निकाली

तथा पं० बालकृष्ण ने भी इसी ग्रन्थ की आलोचना 'हिन्दी-प्रदीप' नामक समाचारपत्र मे प्रकाशित की। यह आलोचना नहीं, अपितु कृति के दोषों का लेखा-जोखा मात्र है। आलोचना का प्रारम्भिक रूप सम्भवतः कृति के दोषों का ही माना जाता रहा होगा। इसके अतिरिक्त इस युग में और कोई विशेष आलोचना के क्षेत्र में प्रगति नही हुई।

भारतेन्दु के पश्चात् हिन्दी-युग आया। साहित्य की अन्य विधाओं के समान आलोचना की दृष्टि से भी यह युग बहुत ही महत्वपूर्ण रहा। इस युग मे स्वयं महावीरप्रसादजी द्विवेदी ने 'नैषध-चरित चर्चा' और 'विक्रमांकदेव चरित चर्चा' नामक लेखों मे सस्कृत के ग्रन्थों की सुन्दर आलोचना प्रस्तुत की है। 'कालिदास की निरंकुशता' नामक आलोचना मे आपने कालिदास के दोषों का निरूपण किया है। इस प्रकार द्विवेदी जी ने स्वय इस क्षेत्र में हिस्सा बँटाया है। पर उनकी आलोचनाएँ खण्डनात्मक एवं परिचयात्मक ही हैं। विशेष गवेषणा एवं साहित्यिक मूल्याकन सम्बन्धी नहीं।

द्विवेदी जी के समकालीन आलोचकों में मिश्रबन्धु, पद्मसिंह शर्मा, लाला भगवानदास आदि का नाम प्रमुख है। इन आलोचकों ने प्रायः रीतिकालीन साहित्य की ही आलोचना प्रस्तुत की है। मिश्रबन्धुओं ने 'देव बड़े कि बिहारी' नामक आलोचना का सूत्रपात कर एक नयी आलोचना को जन्म दिया। साहित्य मे इस विषय पर काफी आलोचनाएँ द्विवेदी युगीन आलोचना के क्षेत्र में 'सरस्वती' एवं 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' का बड़ा ही महत्वपूर्ण योगदान रहा। इन पत्रिकाओं में 'पुस्तक समीक्षा' एवं 'पुस्तक परिचय' के साथ ही कुछ साहित्यिक आलोचनाएँ भी छपा करती थी। इस काल के अन्य आलोचकों में बाबू श्यामसुन्दरदास, जगन्नाथदास रत्नाकर, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी आदि का नाम उल्लेखनीय है।

द्विवेदी-युग में कुछ समालोचना सम्बन्धी ग्रन्थों का भी प्रकाशन हुआ। गंगाप्रसाद अग्निहोत्री कृत 'समालोचना' इस कोटि का प्रथम ग्रन्थ है। तत्पश्चात् बाबू श्यामसुन्दरदास जी ने 'साहित्यालोचन' की रचना की। इस ग्रन्थ में श्यामसुन्दरदासजी ने पाश्चात्य एवं भारतीय साहित्य के सिद्धान्तों को सुन्दर रूप मे प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार का कार्य पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी द्वारा 'विश्व-साहित्य' के नाम से प्रस्तुत किया गया। इसमें विद्वान् लेखक ने पाश्चात्य साहित्य के समीक्षा सिद्धान्तों को सुन्दर रूप में प्रस्तुत किया है।

द्विवेदी युगीन आलोचना के पश्चात् शुक्ल-युगीन आलोचना का साहित्य में प्रवेश हुआ। इस युग में शुक्लजी के प्रयास एवं चिन्तन-मनन से आलोचना अपने पूर्ण विकसित रूप में प्रकट हो सकी और इन्हीं के बताये हुए मार्ग का अनुगमन करती हुई हिन्दी-आलोचना निरन्तर प्रगति की ओर बढ़ती जा रही है। आचार्य शुक्ल ने सूर, जायसी व तुलसी पर आलोचनाएँ प्रस्तुत की। आपकी आलोचना का ढंग अनोखा ही है। अपनी अद्भुत प्रतिभा एवं लगन के बल पर उपर्युक्त तीन कवियों की जो आलोचना आपने प्रस्तुत कर दी, आज तक बड़े-से-बड़े विद्वान् उसी के चारों ओर चक्कर लगाया करते हैं। आपने विभिन्न आलोचना पद्धतियों का समावेश किया है जिनमें समीक्षात्मक, विवेचनात्मक एवं तुलनात्मक रूप विशेष प्रसिद्ध हैं।

शुक्लजी के अतिरिक्त इस काल के आलोचकों में पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, बाबू गुलाबराय, डा० जगन्नाथ शर्मा, पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० नगेन्द्र, शान्तिप्रिय द्विवेदी, अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी आदि प्रमुख हैं।

इस काल में अनेकानेक आलोचनात्मक शोध-प्रबन्ध भी विभिन्न भारतीय विश्वविद्यालयों से स्वीकृत एवं प्रकाशित हो चुके हैं। पत्रिकाओं के रूप में इस युग में 'साहित्य सन्देश', 'आलोचना', 'सम्मेलन पत्रिका', 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका', 'बिहार राष्ट्र भाषा परिषद् पत्रिका', 'भारतीय साहित्य' आदि प्रमुख हैं।

हिन्दी-व्याकरण

प्रश्न १—भाषा और व्याकरण किसे कहते हैं ? दोनों में परस्पर क्या सम्बन्ध हैं ?

उत्तर : भाषा—मानव इस संसार में रहते हुए संसार की वस्तुओं को देख या सुनकर उनके विषय मे अपनी राय प्रकट किया करता है। इस राय के प्रकट करने का माध्यम ही भाषा कहलाती है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते है कि भाषा विचारों की वाहिका है। भाषा के दो रूप होते है—(१) बोल-चाल की भाषा और (२) साहित्य की भाषा। प्रत्येक काल में ये दोनों ही भाषाएँ चलती रहती है।

व्याकरण—जिस शास्त्र के द्वारा हमे भाषा के शुद्ध एवं अशुद्ध रूपों तथा उनकी व्युत्पत्ति (किस भाषा के रूप से वर्तमान शब्द बना है) का ज्ञान होता है उसे ही हम व्याकरण कहते हैं। प्रत्येक उन्नत भाषा का अपना व्याकरण होता है; यथा—हिन्दी भाषा का हिन्दी व्याकरण, अंग्रेजी भाषा का अंग्रेजी व्याकरण आदि।

परस्पर सम्बन्ध—भाषा और व्याकरण का अति निकट का एवं अटूट सम्बन्ध है। परन्तु ध्यान रहे व्याकरण का अधिक हस्तक्षेप साहित्य की भाषा मे ही रहता है बोलचाल की भाषा मे नही। भाषा के अंग है—शब्द वाक्य। व्याकरण का यह कार्य होता है कि वह पुष्ट तर्कों के आधार पर शब्द एवं वाक्य में यदि कोई दोष हो तो उसे सुधार दे। दूसरे शब्दो मे भाषा को शुद्ध परिष्कृत करने का कार्य व्याकरण को सौपा जाता है। किसी भी भाषा की प्रारम्भिक अवस्था मे व्याकरण नही होता। वास्तव में भाषा का निर्माण एवं परिवर्तन तो स्वभावतः होता है, बाद में उसके व्याकरण का निर्माण हुआ करता है। व्याकरण भाषा पर ही नियन्त्रण रखता है।

प्रश्न २—व्याकरण के कितने अंग होते है ? विवेचन करें।

उत्तर—भाषा को शुद्ध एवं परिष्कृत करने वाले शास्त्र का ही नाम व्याकरण है। दूसरे शब्दों मे हम कह सकते हैं कि भाषा एवं व्याकरण का अभिन्न एवं अटूट सम्बन्ध है। अतः जो अंग भाषा के कहे जाते हैं, वे ही अंग

व्याकरण के भी कहलायेंगे। भाषा के तीन अंग माने जाते हैं—(१) वर्ण (अक्षर), (२) पद (शब्द) और (३) वाक्य। इसी आधार पर व्याकरण के भी तीन अंग होंगे—(१) वर्ण (अक्षर) विचार, (२) पद (शब्द) विचार, और (३) वाक्य विचार।

(१) **वर्ण (अक्षर) विचार**—इसके अन्तर्गत हम वर्णों के आकार, प्रकार एव उच्चारण-स्थल आदि का विवेचन करते हैं।

(२) **पद (शब्द) विचार**—वर्णों के समूह से पद या शब्द का निर्माण होता है और इस शीर्षक के अन्तर्गत हम शब्दों के प्रकार, व्युत्पत्ति एव रूप-परिवर्तन आदि का अध्ययन करते हैं।

(३) **वाक्य-विचार**—जिस प्रकार अनेक वर्णों के योग से शब्द का निर्माण होता है उसी प्रकार अनेक शब्दों के योग से वाक्य का निर्माण हुआ करता है। इसी शीर्षक के अन्तर्गत हम वाक्य-रचना, वाक्य-भेद आदि का अध्ययन करते है।

प्रश्न ३—भाषा कितने प्रकार की होती है ? प्रत्येक का विवेचन करें।

उत्तर—भाषा साधारण अर्थों में दो प्रकार की मानी जाती है—(१) बोल-चाल की भाषा जिसे जन साधारण की भाषा कहते है और (२) साहित्यिक भाषा जिसे लिखने-पढ़ने की भाषा कहा जाता है। विद्वानों के अनुसार भाषा के तीन रूप निर्धारित किये गए है—(१) सांकेतिक रूप (२) ध्वनि रूप और (३) लिपि रूप।

(१) **सांकेतिक रूप**—यह भाषा का अस्पष्ट रूप होता है, इसमें केवल संकेत या इशारों के द्वारा ही किसी बात की ओर इशारा किया जाता है। गूंगे या छोटे बच्चों की भाषा इस प्रकार की हुआ करती है।

(२) **ध्वनि रूप**—जो भाषा उच्चरित की जाती है तथा उच्चारण के समय उसमें से ध्वनि निकलती है—साधारण बोलचाल की भाषा में यही ध्वनि रूप होता है।

(३) **लिपि रूप**—यह भाषा का लिखित एवं श्रेष्ठ रूप होता है। लिपि का प्रयोग हम उस स्थान पर सरलता से कर लिया करते हैं जहाँ पर ध्वनि नही पहुँच पाती है। भाषा के इसी रूप में साहित्य की अक्षय-निधि भरी रहती है।

प्रश्न ४—लिपि का परिचय देते हुए देवनागरी लिपि की विशेषताओं का संक्षेप में परिचय दें।

उत्तर—भाषा का लिखित रूप ही लिपि कहलाता है। प्रत्येक उन्नत भाषा की अपनी लिपि होती है; यथा—हिन्दी की लिपि देवनागरी कहलाती है, अँग्रेजी की रोमन, पंजाबी की गुरमुखी आदि। प्राचीन काल से हमारे देश में ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपियाँ चला करती थी।

देवनागरी की विशेषताएँ—(१) सभी प्रकार की प्रचलित लिपियों में यह लिपि अधिक स्पष्ट एवं वैज्ञानिक है।

(२) इसमें उच्चारण के अनुसार ही लिखा जाता है, अर्थात् जैसा हम बोलते हैं, वैसा ही लिखते हैं; जैसे—राम, विद्यालय आदि।

(३) इसमें प्रत्येक ध्वनि के लिए एक अलग वर्ण होता है। रोमन लिपि में द, ड के लिए केवल D और थ के लिए दो वर्ण th होते हैं। देवनागरी लिपि में ऐसी कोई ध्वनि नहीं है जिसका अपना वर्ण न हो।

(४) इस लिपि में व्यर्थ की ध्वनियों का कोई प्रयोग नहीं मिलता है।

(५) इस लिपि में स्वरों का जितना विधान है, उतना शायद किसी लिपि में नहीं; जैसे रोमन में 'ए' के उच्चारण के लिए कहीं तो 'e' कहीं ye तो कहीं 'is' का प्रयोग होता है, उसमें कहीं भी एकरूपता नहीं है।

(६) इसमें एक वर्ण की ध्वनि एक ही रहती है अलग-अलग नहीं। परन्तु रोमन लिपि में एक ही ध्वनि भिन्न-भिन्न प्रकार से उच्चारित होती है; यथा-c कहीं तो 'च' रूप में, कहीं 'क' रूप में और कहीं 'स' रूप में उच्चारित होती है।

(७) इसमें किसी शब्द को याद करने में वर्तनी (Spelling) नहीं रटनी पड़ती है परन्तु रोमन आदि में इसके बिना काम ही नहीं चलता है।

प्रश्न ५—हिन्दी वर्णमाला में कितने वर्ण या अक्षर होते हैं?

उत्तर—हिन्दी वर्णमाला में वर्ण या अक्षर ४६ माने जाते हैं जिनमें ११ स्वर तथा ३५ व्यंजन माने जाते हैं। उच्चारण की दृष्टि से व्यंजनों के पुनः भेद होते हैं जिन्हें हम स्पर्श, अन्तस्थ, ऊष्म और अयोगवाह के रूप में बाँटते हैं।

स्वर—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ए, ऐ, ओ और औ ११

व्यंजन—स्पर्श

कवर्ग—क, ख, ग, घ, ङ ५

चवर्ग—च, छ, ज, झ, ञ,	५
टवर्ग—ट, ठ, ड, ढ, ण,	५
तवर्ग—त, थ, द, ध, न,	५
पवर्ग—प, फ, ब, भ, म,	५
अन्तस्थ—य, र, ल, व,	४
ऊष्म—श, ष, स, ह,	२
आयोगवाह—अं, अः	२

कुल योग ४६

प्रश्न ६—वर्ण (अक्षर) को कितने भागों में बाँटा जा सकता है ?

उत्तर—उच्चारण की दृष्टि से वर्ण को दो भागों में बाँटा जा सकता है—स्वर और व्यंजन ।

स्वर—जिसका उच्चारण हम बिना किसी अन्य की सहायता से कर सकें उसे हम स्वर कहते हैं; यथा—अ, इ, उ ऋ आदि । इनके उच्चारण में हमें अन्य की सहायता की आवश्यकता नहीं पड़ती है ।

व्यंजन—जिनके उच्चारण में स्वर की सहायता के बिना काम नहीं चलता है, उन्हें हम व्यंजन कहते है, यथा—क=क्+अ, चे=च्+ए । दोनों ही उदाहरणों में बिना स्वर की मदद के हम इन व्यंजनों का उच्चारण नहीं कर सकते हैं ।

प्रश्न ७—स्वर और व्यंजन के भेद और उपभेद लिखिये ।

अथवा

स्वरूप एवं उच्चारण के अनुसार स्वर और व्यंजन का विभाजन प्रस्तुत कीजिए ।

उत्तर—जैसा कि हम कह चुके है कि जो वर्ण बिना दूसरे की मदद से उच्चरित होते हैं वे स्वर कहलाते है । इन स्वरों के रूप और उच्चारण की दृष्टि से दो भेद किये जाते है । स्वरूप की दृष्टि से पुनः स्वर के दो उपभेद किये जाते है—(अ) मूल स्वर और (आ) सन्धि स्वर ।

(अ) **मूल स्वर**—उन्हें कहते हैं जो किसी अन्य स्वर से मिलकर न बने हों; यथा—अ, इ, उ, ऋ । केवल ये चार स्वर माने हैं ।

(आ) **सन्धि स्वर**—जो स्वर दो स्वरों के योग से बनते हैं उन्हें हम सन्धि स्वर कहते हैं; जैसे—अ+अ=आ, इ+इ=ई, उ+उ=ऊ, अ+इ=ए,

अंतःस्थ—जो वर्ण न तो पूर्णतया स्वर ही होते हैं और न पूर्णतया व्यंजन ही, अर्थात् स्वर और व्यंजन के मध्य स्थिति वाले व्यंजन अन्तःस्थ कहलाते हैं; यथा—य, र, ल और व।

ऊष्म—जिनके उच्चारण में हमारी श्वास ऊष्म हो जाया करती है, उन व्यंजनों को हम ऊष्म कहते हैं; यथा—श, ष, स और ह।

अनुनासिक—जिनके उच्चारण में हम नाक का सहयोग लेते हैं, वे अनुनासिक व्यंजन माने गये हैं। यथा—कंत, पंथ, अंब आदि।

अननुनासिक—जिसका उच्चारण सीधे-सीधे रूप में होता है, उन्हें हम अननुनासिक व्यंजन कहते हैं; यथा—राम, कमल आदि।

प्रश्न ८—निम्न पारिभाषिक शब्दों की परिभाषा दीजिए—

वर्ण, प्रयत्न, स्वराघात, प्रत्यय, उपसर्ग, अव्यय, अनुनासिक, संयोग, आयोगवाह, अपवाद, शब्द और संयुक्त व्यंजन।

उत्तर : वर्ण—वह छोटी से छोटी बोली जाने वाली ध्वनि है जिसके कि टुकड़े नहीं हो सकते हों; यथा—अ, इ, क्, च्, ट्, त्, प्, म्, आदि। इन्हीं को अक्षर भी कह सकते हैं।

प्रयत्न—वर्णों के मुख से बोलने के समय वागिन्द्रियों की जो दशा होती है, उसे ही हम प्रयत्न कहते हैं। ये प्रयत्न वागिन्द्रियों एवं उच्चारण की दृष्टि से दो प्रकार के होते हैं—

(१) आभ्यन्तर प्रयत्न और (२) बाह्य प्रयत्न। इनके पुनः उपभेद किये जाते हैं—

(१) **आभ्यन्तर प्रयत्न**—वर्णों के उच्चारण में वागिन्द्रियों की आन्तरिक स्थिति होती है, उसे हम आभ्यन्तर प्रयत्न कहते हैं। इसके उपभेद इस प्रकार हैं—विवृत, ईषत् विवृत, स्पृष्ट, ईषत् स्पृष्ट आदि।

(२) **बाह्य प्रयत्न**—वर्णों के उच्चारण के प्रयास-स्वरूप जो ध्वनि उच्चरित होकर हमारे कानों में प्रवेश करती है, उसे ही हम बाह्य प्रयत्न कहते हैं इसके भी पुनः दो उपभेद होते हैं—घोष और अघोष।

स्वराघात—जिस समय संयुक्त व्यंजन के उच्चारित करने में जो एक झटका-सा लगता है और जिसके फलस्वरूप एक विशेष ध्वनि उत्पन्न होती है, उसे स्वराघात कहा जाता है; यथा—शुद्ध जल पिया करो—इस वाक्य

में, 'द्ध' और 'भ्र' के उच्चारण करने में एक झटका-सा लगता है, अतः इसी को हम स्वराघात कहते हैं।

प्रत्यय—जो शब्दांश एवं धातु (क्रिया) के अन्त में जुड़कर उसमें कुछ परिवर्तन उत्पन्न कर देते हैं, उन्हें हम प्रत्यय कहते हैं; यथा—स्त्रीत्व में 'त्व' 'बुराई' में 'ई' ये प्रत्यय माने जाते हैं। अंग्रेजी में इन्हें Suffix कहते हैं।

प्रत्यय दो प्रकार के होते हैं—कृत प्रत्यय और तद्धित प्रत्यय।

कृत प्रत्यय—ये प्रत्यय धातु या क्रिया के पीछे जोड़े जाते हैं और इस प्रकार दोनों के संयोग से जो नया शब्द बनता है, उसे हम कृदन्त कहते हैं।

जैसे 'मारनहारा' यह एक कृदन्त का उदाहरण है। इसमें 'मारना' धातु और उसमें 'हारा' प्रत्यय लगा है। इस प्रकार दोनों के संयोग से 'मारनहारा' एक नया शब्द बना, जिसको हम कृदन्त कहते हैं।

तद्धित प्रत्यय—जो प्रत्यय संज्ञा, सर्वनाम या विशेषण के पीछे जुड़कर नये शब्दों का निर्माण किया करते हैं; यथा—बकरा से बकरी, बुद्धि से बुद्धिमान, वसुदेव से वासुदेव।

उपसर्ग—यह भी शब्दांश है। जो शब्दांश किसी शब्द के आरम्भ में जुड़कर उसके अर्थ में या तो विशेषता उत्पन्न कर देते हैं या पूरी तरह उसके अर्थ को बदल देते हैं; यथा—'आरम्भ' मे 'प्र' उपसर्ग लगने से 'प्रारम्भ' और 'कर्म' में 'सु' उपसर्ग लगने से 'सुकर्म', 'ज्ञान' में 'वि' उपसर्ग जोड़ने से विज्ञान, 'कार' मे 'प्रति' उपसर्ग जोड़ने से 'प्रतिकार' शब्द बनते हैं।

उपसर्गों की सख्या २२ मानी जाती है। जिनमें प्र, परा, अप, अनु, सम, प्रति, सु, वि, नि, अति, अधि आदि प्रमुख हैं। अंग्रेजी में इन्हें Prefix कहते हैं।

अव्यय—अव्यय वे शब्द हैं जिनमे लिंग, वचन और कारक आदि के कारण कोई भी विकार या परिवर्तन नहीं होता है, अर्थात् जो हमेशा एक से ही रूप में बने रहते हैं। इन्हें अविकारी भी कहा जाता है; यथा—तेज, कम, धीरे-धीरे, सदैव, सदा, वहाँ निस्सन्देह, अवश्य, यथाशक्ति, कदाचित् आदि।

अनुनासिक—जिन वर्णों का उच्चारण नासिका के सहयोग से होता है, उन्हें हम अनुनासिक वर्ण कहते हैं; यथा—ङ, ञ, ण, म, न आदि।

संयोग—दो वर्णों के मेल को संयोग कहा जाता है।

अयोगवाह—ये वे वर्ण हैं जो स्वरों के साथी होते हुए भी स्वरों के साथ नहीं बोले जाते हैं; यथा—अ, अः।

अपवाद—जब कोई एक नियम एक स्थान पर तो लगता हो परन्तु अन्य स्थान पर वह घटित न होता हो तो ऐसी स्थिति अपवाद कहलाती है; यथा—अकारान्त स्त्रीलिंग 'लता' शब्द का बहुवचन लताएँ होगा। परन्तु यही नियम अकारान्त चुड़िया, चिड़िया आदि पर लागू नहीं होता है। इनके बहुवचन के रूप भी यथावत् ही रहेंगे, कोई अन्तर नहीं होगा। यह इस नियम का अपवाद कहलायेगा।

शब्द—वर्णों का समूह 'शब्द' कहलाता है; यथा—कमल शब्द है। इसमें क, म और ल तीनों वर्णों का समूह प्रयुक्त हुआ है।

संयुक्त व्यंजन—दो भिन्न व्यंजनों के मेल को संयुक्त व्यंजन कहते हैं।

प्रश्न ९—प्रयत्न किसे कहते हैं ? इसकी विस्तारपूर्वक विवेचना करें।

उत्तर—वर्णों या अक्षरों के मुख से उच्चारण करने में जो श्रम करना पड़ता है, उसे ही हम 'प्रयत्न' कहते हैं।

यह प्रयत्न दो प्रकार का होता है—(१) आभ्यन्तर और (२) बाह्य।

(१) **आभ्यन्तर प्रयत्न**—वर्णों या अक्षरों के उच्चारण में होने वाले वागिन्द्रियों के आन्तरिक श्रम को आभ्यन्तर प्रयत्न कहते हैं।

(२) **बाह्य प्रयत्न**—वर्णों के उच्चारण में होने वाले बाह्य श्रम को बाह्य प्रयत्न कहते हैं।

आभ्यन्तर प्रयत्न के पुनः चार उपभेद होते हैं—(१) विवृत्त, (२) ईषत् विवृत्त, (३) स्पृष्ट और (४) ईषत् स्पृष्ट।

(१) **विवृत्त**—विवृत्त का शाब्दिक अर्थ होता है—खुलना। यहाँ अर्थ होगा कि जिन वर्णों के उच्चारण में मुँह अधिक खुल जावे और ध्वनि गूँजकर बाहर निःसृत होवे उस प्रयत्न को हम विवृत्त प्रयत्न कहते हैं। समस्त स्वर इसी श्रेणी के अन्तर्गत आते है।

(२) **ईषत् विवृत्त**—इसका शाब्दिक अर्थ होता है—कम खुलना, अर्थात् जिन वर्णों के उच्चारण में मुख थोड़ा खुले, उसे हम ईषत् विवृत्त प्रयत्न कहते हैं। यह प्रयत्न अन्तःस्थ वर्णों—य, र, ल, व के उच्चारण में होता है।

(३) **स्पृष्ट**—जिन वर्णों के उच्चारण में जिह्वा का कण्ठ, दन्त, तालु आदि से स्पर्श हो, उसे हम स्पृष्ट प्रयत्न कहते हैं। पाँचों वर्णों अर्थात् कवर्ग से पवर्ग तक उच्चारण में यह प्रयत्न लागू होता है।

(४) ईषत् स्पृष्ट—जिन वर्णों के उच्चारण में जिह्वा का हल्का स्पर्श होता है, उसे हम ईषत स्पृष्ट प्रयत्न कहते हैं। ऊष्म व्यंजनों के उच्चारण में यह प्रयत्न लागू होता है।

बाह्य प्रयत्न—इसके भी दो उपभेद होते हैं—(१) घोष और (२) अघोष।

(१) घोष—जिन वर्णों के उच्चारण में कुछ ध्वनि निकले वहाँ घोष प्रयत्न होता है। यह प्रयत्न पाँचों वर्गों के तृतीय, चतुर्थ और पंचम वर्णों—य, र, ल, व अन्तःस्थ व्यंजनों और समस्त स्वरों में लागू होता है।

(२) अघोष—जिन वर्णों के उच्चारण में कोई ध्वनि या नाद हो, उसे हम अघोष प्रयत्न कहते हैं। यह प्रयत्न पाँचों वर्णों के प्रथम और द्वितीय वर्णों तथा श, ष, स, ह व्यंजनों के साथ लागू होता है।

उपर्युक्त वर्गीकरण के आन्तरिक वर्णों के उच्चारण करने में जो श्रम लगाना पड़ता है, उसके आधार पर दो अन्य भेद और किये जाते हैं—(१) अल्प प्राण और (२) महाप्राण।

(१) अल्प प्राण—जिन वर्णों के उच्चारण करने में कम बल लगाना पड़े, उन्हें अल्प प्राण वर्ण कहते हैं। इस कोटि में पाँचों वर्गों के प्रथम, द्वितीय और पंचम वर्ण के अनुसार, अन्तःस्थ य, र, ल, व और समस्त स्वर आते हैं।

(२) महा प्राण—जिन वर्णों के उच्चारण करने से अपेक्षाकृत अधिक बल लगाना पड़े, उन्हें हम महाप्राण कहते हैं। पाँचों वर्गों के द्वितीय और चतुर्थ वर्ण तथा श. ष, स और ह विसर्ग (:) महाप्राण कहलाते हैं।

प्रश्न १०—उच्चारण स्थान से क्या तात्पर्य है ? वे कितने प्रकार के हैं ? यह लिखकर उनका वर्णों के साथ उल्लेख कीजिए।

उत्तर—मुख के जिन स्थानों के साथ जिन वर्णों के उच्चारण में जिह्वा का स्पर्श होता है, उन्हें ही हम वर्ण या उच्चारण का स्थान कहते हैं। ये उच्चारण स्थान १० माने जाते हैं, जिनमें सात मूल और तीन दो-दो के योग से बने हुए हैं। सात मूल उच्चारण स्थान हैं—कंठ, तालु, मूर्धा, दन्त, ओष्ठ, नासिका और जिह्वा मूल। तीन यौगिक मूल उच्चारण स्थान हैं—कण्ठ, तालु, कण्ठ ओष्ठ और दन्तौष्ठ।

उच्चारण-स्थान से उच्चरित होने वाले शब्दों का वर्गीकरण इस प्रकार से है :—

(१) **कंठ्य**—कंठ से उच्चारित होने वाले वर्ण 'कंठ्य' कहलाते हैं। इसमें अ, आ, कवर्ग, ह, और विसर्ग ये समस्त वर्ण आते हैं।

(२) **तालव्य**—तालु और जीभ से उच्चरित होने वाले वर्ण 'तालव्य' कहलाते हैं। इसमें इ, ई, चवर्ग, य और श वर्ण आते हैं।

(३) **मूर्धन्य**—मूर्धा पर जिह्वा लगने के साथ उच्चरित होने वाले वर्ण 'मूर्धन्य' कहलाते हैं। इसमें ऋ, टवर्ग, र और ष वर्ण आते हैं।

(४) **दन्त्य**—दाँतों पर जिह्वा लगने के साथ उच्चरित होने वाले वर्ण 'दन्त्य' कहलाते हैं। इसमें तवर्ग, ल और स वर्ण आते हैं।

(५) **ओष्ठ्य**—ओठों से उच्चरित होने के कारण ये वर्ण 'ओष्ठ्य' कहलाते हैं। इसमें उ, ऊ तथा पवर्ग वर्ण आते हैं।

(६) **नासिक्य**—मुख और नासिका के सहयोग से उच्चरित होने वाले वर्ण नासिक्य या अनुनासिक कहलाते हैं। इसमें ङ, ञ ण, न, म, ँ और ां वर्ण आते हैं।

(७) **जिह्वामूलीय**—जिन वर्णों का उच्चारण जिह्वा के मूल से होवे उन्हें जिह्वामूलीय वर्ण कहते हैं। इसमें ढ़, ढ़ आते हैं।

(८) **कण्ठ तालव्य**—कण्ठ और ताल से उच्चरित होने वाले वर्ण कण्ठ-ओष्ठ्य, कहलाते हैं। इसमें ए, ऐ वर्ण आते हैं।

(९) **कण्ठ ओष्ठ्य**—कण्ठ और ओष्ठ से उच्चरित होने वाले वर्ण 'कण्ठ ओष्ठ्य कहलाते हैं। इसमें ओ, औ वर्ण आते हैं।

(१०) **दन्त-ओष्ठ्य**—दाँत और ओष्ठ से उच्चरित होने वाले वर्ण 'दन्त ओष्ठ्य' कहलाते हैं। इसमें व वर्ण आता है।

प्रश्न ११—शब्द किसे कहते हैं? शब्दों का वर्गीकरण कितने प्रकार से किया जा सकता है?

उत्तर—एक या एक से अधिक वर्णों के योग से निर्मित वह सार्थक ध्वनि जो मुख से उच्चरित हो, 'शब्द' कहलाती है। यथा—राम, कमल, पुस्तक आदि।

शब्दों का वर्गीकरण कई प्रकार से हो सकता है। उनमें निम्न चार प्रकार प्रमुख हैं—

(१) उत्पत्ति के अनुसार,

(२) व्युत्पत्ति के अनुसार,

(४) अर्थ के अनुसार,

(५) प्रयोग या परिवर्तन के अनुसार।

प्रश्न १२—उत्पत्ति के अनुसार शब्दों के कितने भेद होते हैं ?

उत्तर—उत्पत्ति के विचार से शब्दों के छह भेद होते हैं—(१) तत्सम्, (२) तद्भव, (३) देशज, (४) विदेशी, (५) द्विज और (६) अनुकरणात्मक।

तत्सम—जो शब्द संस्कृत भाषा से ज्यों-के-त्यों हिन्दी भाषा में ले लिए गए हैं और जिनमें थोड़ा भी परिवर्तन नहीं हुआ है उन्हें हम 'तत्सम शब्द' कहते हैं; यथा—अग्नि, पुस्तक, पवन, जल, बालक आदि।

तद्भव—जो शब्द मूल रूप में तो संस्कृत से निकले हैं परन्तु हिन्दी मे उनका रूप बिगड़ कर प्रयुक्त होता है उन्हें हम 'तद्भव' शब्द कहते हैं; यथा—नाक, कान, आम, गाँव, शब्द तद्भव हैं और ये क्रमशः संस्कृत के नासिका, कर्ण, अग्नि और ग्राम शब्दों से बिगड़ कर बने हैं।

देशज—जिन शब्दों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कोई निश्चित ज्ञान न हो यथा—खिचड़ी, पगड़ी, पेड़, लोटा आदि।

विदेशी—जो शब्द मूल रूप में तो विदेशी भाषाओं के हैं परन्तु बिगड़ कर हिन्दी में प्रयोग होने लगे हैं उन्हे हम 'विदेशी' शब्द कहते हैं; यथा—लालटेन (अंग्रेजी के लेन्टर्न का विकृत रूप), कुली, स्कूल, (अंग्रेजी), दरोगा (तुर्की), इमारत (अर्बी) आदि।

द्विज—जो शब्द दो भाषाओं के मेल से बने हैं इन्हें हम 'द्विज' शब्द कहते है, यथा—'डबल रोटी' में 'डबल' शब्द अंग्रेजी भाषा का है और 'रोटी' शब्द हिन्दी भाषा का। इस प्रकार क्लर्क से क्लर्की, साहिब से साहिबी आदि भी द्विज शब्द हैं।

अनुकरणात्मक—जिन शब्दों का निर्माण अनुकरण के आधार पर हुआ है उन्हें हम 'अनुकरणात्मक' शब्द कहते हैं; यथा—म्याऊँ, खटपट, पत्ता, फड़-फड़ाना, झरना आदि।

प्रश्न १३—व्युत्पत्ति के अनुसार शब्दों के कितने भेद होते हैं ?

उत्तर—व्युत्पत्ति का शाब्दिक अर्थ है—शब्दों की बनावट। इस दृष्टि से शब्दों में तीन भेद होते हैं—(१) रूढ़, (२) यौगिक और (३) योगरूढ़।

रूढ़—जो शब्द किसी अन्य शब्द या शब्दों के योग से न बनते हों, साथ

ही जिसके टुकड़े करने पर कोई अर्थ न निकले उन्हें हम 'रूढ़' शब्द कहते हैं; यथा—घर, घोड़ा, लोटा, खाट आदि।

यौगिक—जो शब्द दो या दो से अधिक शब्दों या शब्दांशों के मेल से बने हों और खण्ड करने पर जिनके खण्ड भी सार्थक हों, उन्हें हम 'यौगिक' शब्द कहते हैं। यथा—हिमालय (हिम+आलय), घुड़सवार (घोड़ा+सवार) आदि।

योगरूढ़—ये वे शब्द हैं, जो यौगिक होने पर भी अपना साधारण अर्थ छोड़कर कोई विशेष अर्थ प्रकट करें; यथा—'चारपाई' का यौगिक अर्थ है 'चार पैरों वाली' परन्तु सभी चार पैरों वाली वस्तुओं को हम 'चारपाई' नाम से नहीं पुकारते हैं। चारपाई केवल 'खाट' को ही कहा गया है अतः यह 'चारपाई' शब्द योगरूढ़ कहलाता है अन्य उदाहरण में वारिज, पीताम्बर दशानन आदि।

प्रश्न १४—अर्थ के अनुसार शब्दों के कितने भेद होते हैं ?

उत्तर—अर्थ की दृष्टि से शब्दों के तीन भेद होते हैं—(१) वाचक, (२) लाक्षणिक और (३) व्यंजक।

वाचक—वाचक शब्द उन्हें कहते हैं जिनसे शब्द का प्रसिद्ध अर्थ निकलता हो; यथा—गाय, घोड़ा, पशु, मनुष्य आदि।

लाक्षणिक—जो शब्द अपने प्रचलित एवं प्रसिद्ध अर्थ को छोड़कर किसी अन्य अर्थ का ज्ञान करावें, उन्हें हम लाक्षणिक शब्द कहते हैं; यथा—'राम बिल्कुल गधा है इस वाक्य में 'गधा' लाक्षणिक है अतः यहाँ गधा शब्द का अर्थ गधा जानवर नहीं, अपितु गधे जैसी अक्ल रखने वाला होगा।

व्यंजन—वे शब्द जो वाचक तथा लाक्षणिक शब्दों के भिन्न अर्थ में प्रयोग किये जाते हैं साथ ही जिनका अर्थ साधारण अर्थ से सम्बन्धित न हो, उन्हें हम व्यंजन शब्द कहते हैं; यथा—कोई व्यक्ति एक अन्य परिचित व्यक्ति से कहता है कि 'सात बज गये।' पहले व्यक्ति का कहने का तात्पर्य यह है कि अब समय आ गया है अतः हमको अपने निर्दिष्ट स्थान पर चलना चाहिए। परन्तु उपर्युक्त वाक्य में न तो कहीं यह अर्थ वाच्य है और न लक्ष्य ही। अतः यहाँ केवल व्यंजना से ही यह अर्थ निकलता है कि 'अब चलना है' अतः यह व्यंजन अर्थ हुआ।

प्रश्न १५—रूपान्तर या परिवर्तन के अनुसार शब्दों के कितने भेद होते हैं ?

उत्तर—रूपान्तर या परिवर्तन के अनुसार शब्दों के दो भेद होते हैं—(१) विकारी और (२) अविकारी।

विकारी—जो शब्द लिंग, वचन, कारक आदि के अनुसार बदलते रहते हैं, उन्हें हम 'विकारी' शब्द कहते हैं; यथा—राम, बालक, सुन्दर आदि।

इनके चार उपभेद किए जाते हैं—(१) संज्ञा, (२) सर्वनाम, (३) क्रिया और (४) विशेषण।

अविकारी—जो शब्द लिंग, वचन, कारक आदि के अनुसार कभी भी नहीं बदलते हैं; अर्थात् जो शब्द एक-से ही रूप में वर्तमान रहते हैं उन्हें 'अविकारी' शब्द कहा जाता है। इन्हीं को 'अव्यय' भी कहा जाता है; यथा—यहाँ, वहाँ, कदाचित् सदा, सदैव, तथा, किन्तु आदि।

प्रश्न १६—संज्ञा किसे कहते हैं ? उसकी परिभाषा एवं भेद लिखो।

उत्तर : संज्ञा—किसी व्यक्ति, जाति, वस्तु, स्थान, गुण; भाव एवं क्रिया आदि के नाम को संज्ञा कहते हैं। यथा—राम (व्यक्ति), घोड़ा (जाति), मेज (वस्तु), मथुरा (स्थान), पवित्रता (गुण), यथा (भाव), मारना (क्रिया)।

संज्ञा तीन प्रकार की होती है—(१) जातिवाचक, (२) व्यक्तिवाचक, और (३) भाववाचक।

जातिवाचक—जिस संज्ञा से एक जाति के प्राणियों या पदार्थों का बोध होता है, उसे हम जातिवाचक संज्ञा कहते हैं; यथा—बालक, शहर, कमल मेज, कुर्सी, कुरता आदि।

जातिवाचक संज्ञा के अन्तर्गत दो संज्ञाएँ और मानी जाती हैं जो क्रमशः समुदायवाचक और द्रव्यवाचक संज्ञाएँ कहलाती हैं।

समुदायवाचक—एक ही प्रकार की वस्तुओं के समूह का बोध कराने वाली संज्ञा समुदायवाचक संज्ञा कहलाती है; यथा—सेना, कक्षा, सभा, पंक्ति आदि।

द्रव्यवाचक—धातुओं के नाम को द्रव्यवाचक कहा जाता है; यथा—लोहा, सोना, वायु, मिट्टी आदि।

नोट—ध्यान रहे, हिन्दी व्याकरण में ये दोनों वर्गीकरण 'जातिवाचक

संज्ञा' के अन्तर्गत ही गिने जाते हैं। अंग्रेजी में अवश्य इनकी गणना पृथक से होती है।

व्यक्तिवाचक—जिस संज्ञा से किसी खास व्यक्ति, वस्तु या स्थान का बोध होता है उसे हम 'व्यक्तिवाचक' संज्ञा कहते हैं; यथा—मथुरा, सोहन, गंगा आदि।

भाववाचक—जिस संज्ञा से किसी गुण, दशा, स्वभाव अथवा व्यापार का बोध होता है उसे हम 'भाववाचक' संज्ञा कहते हैं; यथा—पवित्रता, बचपन, बुराई, दौड़, हिंसा आदि।

प्रश्न १७—भाववाचक संज्ञा किस प्रकार बनती है ? उसके नियमों का उल्लेख करें।

उत्तर—भाववाचक संज्ञाएँ—जातिवाचक संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया, क्रिया-विशेषण और निरर्थक शब्दों से बना करती हैं।

जातिवाचक संज्ञा से—यथा—मनुष्य से मनुष्यता, शत्रु से शत्रुता, चोर से चोरी, बालक से बालकपन आदि।

सर्वनाम से—यथा—अपना से अपनापन।

विशेषण से—यथा—मीठा से मिठाई, मोटा से मुटापा, वीर से वीरता, अच्छा से अच्छाई, सुन्दर से सुन्दरता, बूढ़ा से बुढ़ापा आदि।

क्रिया से—यथा—लिखना से लिखाई, पढ़ना से पढ़ाई, दौड़ना से दौड़, ठहरना से ठहराव आदि।

क्रिया-विशेषण से—यथा—शीघ्र से शीघ्रता, निकट से निकटता, दूर से दूरी आदि।

निरर्थक शब्दों से—यथा—भिनभिनाना से भिनभिनाहट, चरचराना से चरचराहट आदि।

प्रश्न १८—संज्ञा में विकार या परिवर्तन किन कारणों से होता है ?

उत्तर—संज्ञा विकारी या परिवर्तनशील शब्द है और यह विकार या परिवर्तन लिंग, वचन एवं कारक के अनुसार होता रहता है।

प्रश्न १९—लिंग किसे कहते हैं ? उसके कितने भेद हैं ?

उत्तर—जिस संज्ञा शब्द से किसी स्त्री अथवा पुरुष जाति का ज्ञान होता है, उसे हम लिंग कहते हैं। हिन्दी में लिंग के दो भेद प्रचलित हैं :

(१) स्त्रीलिंग और (२) पुल्लिंग।

(१) स्त्रीलिंग—जिस संज्ञा शब्द से पुरुष जाति का बोध होता हो उसे हम स्त्रीलिंग कहते हैं; यथा—गाय, लड़की, बिल्ली आदि।

(२) पुल्लिंग—जिस संज्ञा शब्द से पुरुष जाति का बोध होता हो उसे हम पुल्लिंग कहते हैं; यथा—सोहन, लड़का, बैल, बैला, कुत्ता आदि।

नोट—लिंग निर्णय के यों तो कुछ नियम प्रचलित हैं परन्तु वे नियम सभी जगह घटित नहीं होते हैं अतः लिंग का निर्णय प्रायः शब्द के साथ आने वाली क्रिया, सर्वनाम अथवा विशेषण के हिसाब से किया जाना चाहिए: यथा—मोटा रस्सा—यहाँ 'मोटा' पुल्लिंग है अतः रस्सा भी पुल्लिंग हुआ। 'कनेर फूल रही है', 'बेला सुगन्ध दे रहा है'। यहाँ पर 'रही है' और 'रहा है' के प्रयोग से कनेर स्त्रीलिंग और बेला पुल्लिंग के रूप में है।

लिंग निर्णय के कुछ नियम :

१. कुछ संज्ञाएँ जिनका पुल्लिंग रूप ही नियत है उनका स्त्रीलिंग होता ही नहीं है यथा—कौवा, तोता, तीतर, बिच्छू, मच्छर, चींटी, झींगुर, केंचुआ खटमल, भेड़िया, चीता आदि।

२. कुछ संज्ञाएँ जिनका स्त्रीलिंग रूप ही नियत है उनका पुल्लिंग होता ही नहीं; यथा—मछली, मक्खी, दीमक, बटेर, कोयल, चील आदि।

३. इमली, सुपारी, जामुन, खिरनी इत्यादि वृक्षों के अतिरिक्त अन्य सभी वृक्षों के नाम, पहाड़ों, समुद्रों, अनाज (मकई को छोड़कर) महीना और दिनों के नाम, ऋतुओं, रत्नों (मणि को छोड़कर), धातुओं 'चाँदी को छोड़कर' पृथ्वी को छोड़कर शेष अन्य ग्रहों आदि के नाम पुल्लिंग में ही होते हैं।

४. नदियों (सिन्धु, ब्रह्मपुत्र, चिनाब को छोड़कर), स्त्रियों, तिथियों, भाषाओं, दालों, (राशियों—कन्या, मकर, तुला आदि) के नाम स्त्रीलिंग ही होते हैं।

५. जिन शब्दों के अन्त में—पन, पा, त्व, और आव लग जाता है, वे पुल्लिंग शब्द कहलाते हैं; यथा—बचपन, बुढ़ापा, मनुष्यत्व, मनबहलाव आदि।

६. जिन शब्दों के अन्त में—ई, ी, वट, हट, श, ता, ति लग जाते हैं वे स्त्रीलिंग कहलाते हैं—लिखाई, पसन्दगी, लिखावट, फिसलाहट, पालिश, सुन्दरता, कीर्ति आदि।

(७) हिन्दी के अकारान्त शब्द प्रायः पुल्लिग ही होते हैं; यथा—लड़का, कुत्ता, कपड़ा आदि।

नोट—संस्कृत में अकारान्त प्रायः स्त्रीलिंग माने जाते हैं।

(८) ईकारान्त शब्द प्रायः स्त्रीलिंग में होते हैं; यथा—टोपी, खेती, वाड़ी, गाड़ी आदि।

(९) कुछ शब्द ऐसे भी हैं जिनका उद्भव तो संस्कृत से है किन्तु हिन्दी में आने पर उनका लिंग बदल गया है; यथा—अग्नि, पवन, आत्मा आदि संस्कृत में पुल्लिग है और हिन्दी में ये स्त्रीलिंग में प्रयोग किये जाते हैं।

प्रश्न २०—पुल्लिग शब्दों को स्त्रीलिंग में बदलने सम्बन्धी कुछ नियमों का उल्लेख करो।

उत्तर—पुल्लिग शब्दों को स्त्रीलिंग में बदलने के कुछ प्रमुख नियम इस प्रकार हैं—

(१) पुल्लिग अकारान्त शब्दों के अन्त में आ या ई लगा देने से स्त्रीलिंग बन जाते हैं; यथा—सुत से सुता, बाल से बाला, आचार्य से आचार्या, नद से नदी, दास से दासी।

(२) अकारान्त पुल्लिग शब्दों के अन्त में 'ई' या 'इया' लगा देने से स्त्रीलिंग शब्द बन जाते हैं; यथा—घोड़ा से घोड़ी, कुत्ता से कुतिया आदि।

(३) आकारान्त पुल्लिग शब्दों को अकारान्त कर देने से स्त्रीलिंग शब्द बन जाते हैं; यथा—भैंसा से भैंस।

(४) कुछ जातिवाचक अकारान्त शब्दों के अन्त में 'नी', 'ई' जोड़ देने से स्त्रीलिंग बन जाते हैं; यथा—मोर से मोरनी, ऊँट से ऊँटनी, शेर से शेरनी, सुनार से सुनारी।

(५) जातिवाचक ईकारान्त शब्दों के अन्तिम स्वर का लोप करके और अन्त में 'इन' शब्द जोड़कर स्त्रीलिंग शब्द बन जाते हैं; यथा—धोबी से धोबिन, तेली से तेलिन, माली से मालिन आदि।

(६) कुछ पुल्लिग शब्दों के अन्त में 'आनी' या 'आइन' जोड़ देने से स्त्रीलिंग शब्द बन जाते हैं; यथा—पंडित से पंडितानी और पंडिताइन, बाबू से बबुआइन, ठाकुर से ठकुराइन, मिसर से मिसराइन आदि।

(७) जिन पुल्लिग शब्दों के अन्त में 'अ' प्रयुक्त होता है, उन शब्दों का स्त्रीलिंग रूप बनाने के लिए अन्तिम 'अ' को दीर्घ और अन्तिम से पूर्व 'अ' को 'इ' में बदल देते हैं; यथा—बालक से बालिका, अध्यापक से अध्यापिका।

(८) जिन शब्दों के अन्त में मान या वान् का प्रयोग होवे तो स्त्रीलिंग बनाते समय उनके स्थान पर क्रमशः मती या वती लगा देते हैं; यथा—श्रीमान् से श्रीमती, बुद्धिमान से बुद्धिमती, बलवान् से बलवती, गुणवान से गुणवती आदि।

(९) कुछ पुल्लिग शब्द ऐसे होते हैं जिसका स्त्रीलिंग बिल्कुल भिन्न होता है; यथा—पिता का स्त्रीलिंग माता, बैल का गाय, पुत्र का पुत्रवधू, भाई का बहन, राजा का रानी आदि।

प्रश्न २१—वचन किसे कहते हैं ? यह कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर—वचन का अर्थ यहाँ 'संख्या' से अर्थात् जिस शब्द के द्वारा संज्ञा या सर्वनाम के एक या अनेक रूपों का बोध हो, उसे हम **वहुवचन** कहते हैं। **वचन दो प्रकार के होते हैं :**

(१) एकवचन और (२) बहुवचन।

एकवचन—जिस शब्द से संज्ञा या सर्वनाम के रूप का ज्ञान होता है उसे एकवचन कहते हैं; यथा;—गाय, बैल, मनुष्य, बालक आदि।

बहुवचन—जिस शब्द से संज्ञा या सर्वनाम के एक से अधिक रूपों का ज्ञान होता है उसे हम वहुवचन कहते हैं; यथा गायें, बैलों, मनुष्यों, बालकों आदि।

'बाल' 'हस्ताक्षर', 'प्राण', 'दर्शन', 'लोग', आदि शब्दों का प्रयोग सदैव बहुवचन के रूप में होता है। 'जनता', 'तैयारी', 'सामग्री' आदि शब्दों का प्रयोग केवल एकवचन में होता है।

प्रश्न २१—कारक की परिभाषा देते हुए उनके भेदों का भी उदाहरण सहित उल्लेख करें।

उत्तर—संज्ञा या सर्वनाम के जिस रूप में वाक्य के दूसरे शब्दों के साथ सम्बन्ध माना जाता है, उसको कारक कहते हैं। राम पढ़ता है—में 'पढ़ना' क्रिया को करने वाला 'राम' है अतः 'राम' का 'पढ़ना' क्रिया से सम्बन्ध प्रकट होता है।

विभक्ति—जिस चिन्ह के द्वारा कारक का ज्ञान होवे अथवा कारक सूचित करने हेतु संज्ञा या सर्वनाम के साथ जो प्रत्यय प्रयोग किया जाता है, उसे हम विभक्ति कहते हैं; यथा—'राम ने रावण को बाण से मारा'। इस वाक्य में 'ने', 'को' और 'से' तीन विभक्तियाँ हैं और इन्हीं से वाक्य के कारकों का निर्धारण होता है। कहीं-कहीं ये विभक्ति चिह्न छिपे भी रहते हैं; यथा—

'मोहन दूध पीता है', इस वाक्य में मोहन के साथ 'ने' और दूध के साथ 'को' विभक्ति छिपी हुई है।

विभक्ति कारक के आठ भेद होते हैं, जो निम्न प्रकार हैं—

विभक्ति	कारक	चिह्न
(१) प्रथमा	कर्त्ता	ने
(२) द्वितीया	कर्म	को
(३) तृतीया	करण	से, के साथ, के द्वारा
(४) चतुर्थी	सम्प्रदान	के लिए
(५) पंचमी	अपादान	से (अलग होने के अर्थ में)
(६) षष्ठी	सम्बन्ध	का, की, के, ना, नी, ने, रा, री, रे
(७) सप्तमी	अधिकरण	में, पै, पर,
(८) सम्बोधन	सम्बोधन	हे ! अरे ! ओ ! अहो !

(१) **कर्त्ताकारक**—वाक्य में कार्य करने वाले को कर्त्ताकारक कहा जाता है। इसका चिह्न 'ने' होता है परन्तु कभी-कभी यह चिह्न छिपा रहता है; यथा—श्याम पढ़ता है। इस वाक्य में पढ़ना कार्य को करने वाला श्याम है, अतः श्याम कर्त्ताकारक हुआ। इसमें 'ने' चिह्न छिपा हुआ, परन्तु 'गोपाल ने मोहन को पीटा'—इस वाक्य में कर्त्ता 'गोपाल' है और विभक्ति-चिह्न 'ने' स्पष्ट है।

(२) **कर्मकारक**—जिस वस्तु पर क्रिया के व्यापार का फल पड़े उसे, हम कर्मकारक कहते हैं; यथा—तुमने कुत्ते को मारा—इस वाक्य में मारना क्रिया का फल कुत्ते पर पड़ता है, अतः कुत्ता कर्मकारक हुआ। इसमें भी कभी-कभी कारक चिह्न छिपा रहता है; यथा—तुमने पुस्तक पढ़ी। इस वाक्य में कर्मकारक पुस्तक है, परन्तु उसमें 'को' विभक्ति चिह्न छिपा हुआ है।

(३) **करणकारक**—कर्त्ता जिसकी सहायता से कोई व्यापार पूर्ण करता है हम 'करणकारक' कहते हैं, यथा—राम ने रावण को बाण से मारा, इस वाक्य में मारने का कार्य बाण की सहायता से पूर्ण होता है, अतः बाण—करणकारक है। इसका चिह्न 'से' होता है।

(४) **सम्प्रदानकारक**—कर्त्ता जिसके लिए कोई कार्य करता है; उसे हम सम्प्रदान कारक कहते हैं; यथा—गोपाल राम के लिए लड्डू लाता है।' इस वाक्य में गोपाल कर्त्ता राम के लिए लड्डू लाने का कार्य करता है, अतः 'राम' सम्प्रदानकारक हुआ। इसका चिह्न 'के लिए' होता है।

(५) **अपादानकारक**—जिससे किसी वस्तु का अलग होना जाना जाता है उसे हम अपादानकारक कहते हैं; यथा—यह बालक छत से गिरता है। इस वाक्य में बालक छत से पृथक् होना जाना जाता है, अतः 'छत' में अपादानकारक कहलायेगा।

नोट—'करण' और 'अपादान' कारक दोनों का ही चिह्न 'से' होता है परन्तु करण का 'से' साथ के अर्थ में आता है, जबकि अपादान का 'से' अलग होने के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

(६) **सम्बन्धकारक**—जिसके द्वारा संज्ञा का सम्बन्ध या अधिकार स्थापित किया जाता है, उसे हम 'सम्बन्ध कारक' कहते हैं; यथा—यह गोपाल का मकान है। इस वाक्य मे गोपाल का सम्बन्ध या अधिकार मकान से स्थापित होता है अतः 'गोपाल' में सम्बन्धकारक हुआ। इसका चिह्न का, की, के, रा, री, रे होता है।

(७) **अधिकरणकारक**—संज्ञा के जिस रूप में क्रिया के आधार का ज्ञान हो, उसे हम 'अधिकरणकारक' कहते हैं; यथा—तोता आम की डाली पर बैठा है—इस वाक्य में बैठना क्रिया का आधार 'डाली' है अतः डाली' में अधिकरणकारक हुआ। इसका चिह्न—मे, पै, पर होता है।

(८) **सम्बोधनकारक**—जिसके द्वारा किसी को बुलाया या सचेत किया जाता है, वहाँ पर सम्बोधनकारक होता है; यथा—हे राम! उठो। इस वाक्य मे राम को उठने के लिए सचेत किया गया है, अतः यहाँ सम्बोधन कारक हुआ—

प्रश्न २३—सर्वनाम किसे कहते हैं? इसकी क्या उपयोगिता है? इसके भेदोपभेदों का संक्षिप्त विवेचन करें।

उत्तर—जो शब्द संज्ञा के स्थान पर प्रयोग मे लाये जाते हैं, उन्हें हम सर्वनाम कहते हैं। एक ही शब्द वाक्य में अनेक बार प्रयुक्त होता है तो उससे वाक्य का सौन्दर्य फीका पड़ जाता है। अतः वाक्य में सौन्दर्य लाने के लिए ही सर्वनामों का प्रयोग किया जाता है; यथा—राम जब आज विद्यालय नही गया तो राम के पिताजी ने राम को मारा। इस वाक्य में 'राम' शब्द

तीन बार प्रयुक्त हुआ है अतः वाक्य बड़ा भद्दा-सा लगने लगा है परन्तु सर्वनाम के प्रयोग द्वारा इस वाक्य को सुन्दर बनाया जा सकता है; यथा—'राम' जब आज विद्यालय नहीं गया तो उसके पिताजी ने उसे मारा। संक्षेप में वाक्य को सुन्दर बनाना ही सर्वनाम का मुख्य कार्य है।

सर्वनाम छह प्रकार के होते हैं—(१) पुरुषवाचक, (२) निश्चयवाचक, (३) अनिश्चयवाचक, (४) सम्बन्धवाचक, (५) प्रश्नवाचक और (६) निज-वाचक।

(१) **पुरुषवाचक सर्वनाम**—जो शब्द वक्ता, श्रोता या जिनके विषय में कोई बात कही गई है, उनके स्थान पर प्रयुक्त होते हैं, उन्हें हम 'पुरुषवाचक सर्वनाम' कहते हैं; यथा—मैं, हम, तुम, तू, वह, वे आदि।

पुरुषवाचक सर्वनाम के तीन उपभेद माने जाते हैं—(१) उत्तम पुरुष, (२) मध्यम पुरुष और (३) अन्य पुरुष।

उत्तम पुरुष—वह सर्वनाम है जिसका प्रयोग वक्ता, या बातचीत करने वाले व्यक्ति के लिए प्रयोग होता है; यथा—मैं, मेरा, मेरे, हम हमारा, हमारे आदि।

मध्यम पुरुष—वह सर्वनाम है जिसका प्रयोग बात सुनने वाले या श्रोता व्यक्ति के लिए प्रयोग होता है; यथा—तू, तेरा, तुम, तुम्हारा आदि।

अन्य पुरुष—यह सर्वनाम है जिसका प्रयोग उसके लिए होता है, जिसके सम्बन्ध में हम बातें करते हैं; यथा—वह, वे, यह आदि।

(२) **निश्चयवाचक सर्वनाम**—जिस सर्वनाम के द्वारा किसी वस्तु या पदार्थ का निश्चित ज्ञान होवे, उसे हम निश्चयवाचक सर्वनाम कहते हैं; यथा—यह, वह, ये, वे आदि निश्चयवाचक सर्वनाम है।

(३) **अनिश्चयवाचक सर्वनाम**—जिस सर्वनाम के द्वारा किसी वस्तु या पदार्थ का निश्चित ज्ञान न होवे उसे हम अनिश्चयवाचक सर्वनाम कहते हैं यथा—कोई, कुछ आदि।

(४) **सम्बन्धवाचक सर्वनाम**—जिसके द्वारा एक शब्द अथवा वाक्य का सम्बन्ध दूसरे शब्द या वाक्य से जोड़ा जावे उसे हम सम्बन्ध वाचक सर्वनाम कहते है; यथा—'जो बोओगे सो काटोगे' इस वाक्य में 'जो' और 'सो' दोनों वाक्यों में सम्बन्ध-स्थापित करने वाले हैं। अतः यहाँ सम्बन्धवाचक सर्वनाम हुआ।

(५) **प्रश्नवाचक सर्वनाम**—जिस सर्वनाम के द्वारा किसी प्रश्न का ज्ञान

होता हो, उसे हम प्रश्नवाचक सर्वनाम कहते हैं; यथा—तुम कहाँ गये थे ? वह कौन है ? आदि में 'कहाँ' और 'कौन' प्रश्नवाचक सर्वनाम हैं।

(६) **निजवाचक सर्वनाम**—जिस सर्वनाम का प्रयोग निज के लिए अर्थात् कर्त्ता के लिए होता है उसे निजवाचक सर्वनाम कहते हैं; यथा—वह स्वयं ही गाने लगा। इस वाक्य में 'स्वयं' निजवाचक सर्वनाम है और उसका प्रयोग 'वह' के लिए हुआ है।

प्रश्न २४—विशेषण की परिभाषा देते हुए उसके भेद एवं लक्षण उदाहरण सहित लिखिए।

उत्तर—जो शब्द संज्ञा या सर्वनाम की विशेषता बतलाते हैं, उन्हें हम विशेषण कहते हैं; यथा—काला पैन, अच्छी पुस्तक। यहाँ पर 'काला' और 'अच्छी' क्रमशः 'पैन' और 'पुस्तक' संज्ञा की विशेषता प्रकट कर रहे हैं। अतः ये दोनों विशेषण हुए।

जिसकी विशेषता प्रकट की जाती है उन्हें हम विषय कहते हैं; यथा—ऊपर के उदाहरणों में 'पैन' और 'पुस्तक' विशेष कहलायेंगे।

विशेषण छह प्रकार के होते हैं—(१) गुणवाचक, (२) परिमाणवाचक, (३) संख्यावाचक, (४) संकेतवाचक, (५) विभागवाचक और (६) व्यक्तिवाचक।

(१) **गुणवाचक विशेषण**—जिन शब्दों में संज्ञा या सर्वनाम के गुणों का बोध हो, उन्हें हम 'गुणवाचक' विशेषण कहते हैं; यथा—यह तसवीर सुन्दर है। इस वाक्य में 'सुन्दर' तसवीर संज्ञा का गुण बतला रहा है अतः यहाँ गुणवाचक विशेषण हुआ।

गुणों के अन्तर्गत निम्नलिखित बातें आती हैं :

(१) **रंग**—पीला, लाल, हरा, नीला आदि।

(२) **दशा**—मोटा, पतला, सूखा, तरुण, बूढ़ा आदि।

(३) **स्थान**—बाहरी, भीतरी आदि।

(४) **देश**—बिहारी, पंजाबी, बंगाली, रूसी, पाकिस्तानी, चीनी आदि

(५) **काल**—नवीन, प्राचीन, आगामी, गत, वार्षिक, मासिक आदि।

(६) **गुण**—अच्छा, बुरा, सुन्दर, क्रूर आदि।

(७) **दिशा**—दायाँ, बाँया, पूर्वी, पश्चिमी आदि।

(२) **परिमाणवाचक**—जो शब्द हमें संज्ञा या सर्वनाम की नाप, तौल एवं परिमाण का ज्ञान कराते हैं उन्हें हम परिमाणवाचक विशेषण कहते हैं;

यथा—तुम्हारे पास कितने पेड़े हैं, थोड़ा दूध पिओ, इन वाक्यों में 'कितने' और 'थोड़ा' शब्द क्रमशः पेड़े और दूध संज्ञाओं के परिमाण का ज्ञान कराते हैं अतः यहाँ 'परिमाणवाचक विशेषण' हुआ।

थोड़ा, बहुत, कुछ, कितने अधिक, सेर-भर आदि शब्द परिमाणवाचक विशेषण हैं।

(३) **संख्यावाचक विशेषण**—जो शब्द संज्ञा या सर्वनाम की संख्या का बोध कराते हैं, उन्हें हम 'संख्यावाचक' विशेषण कहते हैं। दस आदमी, चार पुस्तक आदि। इन वाक्यों में 'दस' और 'चार' क्रमशः 'आदमी' और 'पुस्तक' संज्ञाओं की सख्या का बोध करा रहे हैं अतः यहाँ संख्यावाचक विशेषण हुआ।

विशेष—'परिमाणवाचक' और 'संख्यावाचक' विशेषण में अन्तर—कुछ, कम, थोड़ा आदि विशेषण 'परिमाणवाचक' और 'संख्यावाचक' दोनों ही हैं। परन्तु जहाँ इन शब्दों से परिमाण (तौल, नाप) का बोध हो वहाँ ये परिमाण-वाचक; यथा—'थोड़ा दूध' में 'थोड़ा' दूध की तौल का बोध कराता है, संख्या का नहीं और जहाँ ये शब्द संख्या का बोध करावें वहाँ से संख्यावाचक विशेषण कहलावेंगे; यथा—'थोड़े मनुष्य' इस वाक्य में 'थोड़े' मनुष्यों की संख्या का ज्ञान कराते हैं अतः इसमें 'संख्यावाचक' विशेषण होगा।

(४) **संकेतवाचक विशेषण**—जो शब्द संज्ञा की ओर संकेत करें उन्हें हम 'संकेतवाचक' विशेषण कहते हैं; यथा—आप इस चलचित्र को अवश्य देखें—इस वाक्य में 'इस' शब्द 'चलचित्र' संज्ञा की ओर संकेत करता है, अतः यहाँ संकेतवाचक विशेषण हुआ।

संकेतवाचक विशेषण के अन्य चिह्न हैं—यह, वह, इस, उस आदि।

(५) **विभागवाचक विशेषण**—जो शब्द पृथकता का ज्ञान करावें, उन्हें हम 'विभागवाचक' विशेषण कहते हैं; यथा—प्रत्येक छात्र को पारितोषिक दो—इस वाक्य मे 'प्रत्येक' शब्द से अलग-अलग छात्रों का ज्ञान होता है अतः यहाँ विभाग सूचक विशेषण हुआ।

विभाग सूचक विशेषण के अन्य उदाहरण इस प्रकार हैं—प्रति, प्रत्येक, हरएक आदि।

(६) **व्यक्तिवाचक विशेषण**—जिन विशेषणों का निर्माण व्यक्तिवाचक संज्ञाओं से होता है, उन्हें हम 'व्यक्तिवाचक विशेषण' कहते हैं, यथा—

इलाहाबादी अमरूद, काश्मीरी सेव, पाकिस्तानी एजेण्ट आदि में 'इलाहाबादी' 'काश्मीरी', 'पाकिस्तानी' आदि शब्द क्रमशः इलाहाबाद, काश्मीर और पाकिस्तानी व्यक्तिवाचक संज्ञाओं से बने हैं और वे क्रमशः अमरूद, सेव, और एजेण्ट संज्ञाओं की विशेषता बतलाते हैं अतः यहाँ व्यक्तिवाचक विशेषण हुए।

प्रश्न २५—'क्रिया' किसे कहते हैं ? उसके भेदोपभेद उदाहरण सहित दीजिए।

उत्तर—जिन शब्दों से किसी कार्य का करना या होना पाया जावे, उन्हें हम क्रिया कहते हैं। क्रिया के अभाव में कोई भी कार्य पूर्ण नहीं होता है; यथा—'मोहन पुस्तक खरीदता है' 'मैं मैदान में खेलता हूँ' आदि वाक्यों में 'खरीदता है', 'खेलता हूँ' आदि से खरीदने, खेलने आदि कामों के पूर्ण होने का बोध होता है अतः 'खरीदना', 'खेलना' आदि शब्द क्रिया हैं।

क्रियाओं की उत्पत्ति जिस मूल शब्द से होती है उसे हम 'धातु' कहते हैं; यथा—ऊपर के उदाहरणों में 'खरीदता है,' 'खेलता हूँ' क्रियाओं की उत्पत्ति क्रमशः 'खरीद' और 'खेल' से हुई है अतः ये दोनों क्रियाओं की 'धातु' कहलावेंगी।

क्रियाओं के दो भेद होते हैं :—(१) सकर्मक (२) अकर्मक।

(१) **सकर्मक क्रिया**—जिस क्रिया का फल कर्त्ता को छोड़कर कर्म पर पड़ता है उसे हम 'सकर्मक' क्रिया कहते हैं; यथा—गोपाल आम खरीदता है—इस वाक्य मे खरीदना क्रिया का फल 'आम' कर्म पर पड़ रहा है अतः खरीदना सकर्मक क्रिया कहलावेगा।

(२) **अकर्मक क्रिया**—जिस क्रिया का फल कर्त्ता पर ही पड़ता है उसे हम 'सकर्मक क्रिया' कहते हैं; यथा—राम पढ़ता है—इस वाक्य मे 'पढ़ना' क्रिया का फल 'राम' कर्त्ता पर ही पड़ रहा है; अतः 'पढ़ना' अकर्मक क्रिया होगी।

विशेष—(१) कभी-कभी सकर्मक क्रियाओं के 'कर्म' एक से अधिक होते हैं; यथा—सोहन गोपाल को पुस्तक पढ़ाता है। इस वाक्य में दो कर्म हैं—गोपाल और पुस्तक। परन्तु यहाँ मुख्य कर्म पुस्तक पढ़ाना है अतः यह 'मुख्य कर्म' कहलाएगा और 'गोपाल' गौण कर्म है; अतः यह 'गौण कर्म' कहलायेगा।

(२) कुछ क्रियाएँ ऐसी होती हैं, जो अकर्मक एवं सकर्मक—दोनों ही

होती हैं, उनका अन्तर केवल प्रयोग द्वारा ही पता चलता है; यथा—घिसना, लगाना, मरना, खुजलाना, ललचाना आदि क्रियाएँ।

प्रश्न २६—प्रेरणार्थक क्रिया किसे कहते हैं ?

उत्तर—जिस क्रिया से यह ज्ञात होवे कि कर्त्ता किसी काम को स्वयं न करके उसे किसी अन्य व्यक्ति से करावे अर्थात् दूसरों को वह कार्य करने की प्रेरणा देवे तो ऐसी क्रियाएँ प्रेरणार्थक क्रियाएँ कहलाती हैं, यथा—कृष्ण राम से पत्र पढ़वाता है—इस वाक्य में पढ़ने वाला तो वास्तव में राम है परन्तु राम कृष्ण की प्रेरणा से पत्र पढ़ता है अतः 'पढ़वाता है' प्रेरणार्थक क्रिया है। प्रेरणार्थक क्रियाएँ सदैव सकर्मक होती हैं। प्रेरणार्थक क्रिया के अन्य उदाहरण —गिरवाना, लिखवाना, लुटवाना, दिलवाना, बिकवाना, छुड़वाना, तुड़वाना बनवाना आदि।

प्रश्न २७—'वाच्य' किसे कहते हैं ? वह कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर—क्रिया के जिस रूप से यह पता चले कि वाक्य का उद्देश्य क्रिया का कर्त्ता है या कर्म है या केवल भाव के सम्बन्ध मे ही यह बात कही गयी है उसे ही हम 'वाच्य' कहते हैं। दूसरे शब्दों में क्रिया के कथन के प्रकार को ही 'वाच्य' कहा जाता है।

'वाच्य' तीन प्रकार का होता है—(१) कर्तृवाच्य, (२) कर्मवाच्य और (३) भाववाच्य।

(१) **कर्तृवाच्य**—जब वाच्य में 'कर्त्ता' की प्रधानता होती है अर्थात् जब क्रिया का सीधा सम्बन्ध कर्त्ता से होता है तो वह 'कर्तृवाच्य' होता है; यथा—मोहन पुस्तक पढ़ता है—इस वाक्य में 'पढना' क्रिया का सम्बन्ध मोहन कर्त्ता से है अतः यह 'कर्तृवाच्य' हुआ।

विशेष—कर्तृवाच्य में क्रिया के 'लिंग' एवं 'वचन' कर्त्ता के अनुसार होते हैं।

(२) **कर्मवाच्य**—जब वाक्य में कर्म की प्रधानता होती है तथा क्रिया के 'लिंग' एवं 'वचन' कर्म के अनुसार ही होते है तब 'कर्मवाच्य' होता है; यथा—सोहन से पुस्तक लिखी जाती है। इस वाक्य में 'पुस्तक' कर्म की प्रधानता है। लिंग एव वचन कर्म के ही अनुसार प्रयुक्त हुए हैं अतः यहाँ 'कर्मवाच्य' है।

विशेष—'कर्मवाच्य' के कर्त्ता 'कारक' के रूप में और कर्म 'कर्त्ता' के रूप

में प्रयुक्त होते हैं; साथ ही कर्त्ता के आगे 'कारण' का चिह्न 'से' या के 'द्वारा' लग जाता है और कर्म के आगे कोई चिह्न नहीं रहता है।

(३) भाववाच्य—जिस वाक्य में क्रिया का सम्बन्ध न तो कर्त्ता से होता है और न कर्म से परन्तु उसका मुख्य सम्बन्ध 'भाव' से ही हुआ करता है। अर्थात् जब वाक्य में 'भाव' ही प्रमुख रहता है, उसे हम 'भाववाच्य' कहते हैं; यथा—गोपाल से चला नहीं जाता। इस वाक्य में न तो कर्त्ता की प्रधानता है और न कर्म की; केवल 'चला ही नहीं जाता' इस भाव की प्रधानता है। अतः यही 'भाववाच्य' हुआ।

विशेष—'भाववाच्य' में क्रिया अकर्मक होती है। इसमें निषेधार्थ का आशय रहता है। क्रिया का प्रयोग पुल्लिंग एकवचन और प्रथम पुरुष के अनुसार किया जाता है।

प्रश्न २८—'काल' किसे कहते हैं ? ये कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर—क्रिया के जिस रूप से क्रिया का समय पता लगे, उसे हम 'काल' कहते हैं।

काल तीन प्रकार के होते हैं—(१) भूतकाल, (२) वर्तमान काल और (३) भविष्यत् काल।

(१) भूतकाल—वाक्य में जिस क्रिया के द्वारा बीते हुए काल का ज्ञान होता है, उसे हम 'भूतकाल' कहते हैं; यथा—'सोहन ने पुस्तक पढ़ी' इस वाक्य मे पढ़ी क्रिया से बीते हुए समय का ज्ञान होता है। अतः यह भूतकाल का उदाहरण माना जायेगा।

(२) वर्तमान काल—वाक्य में जिस क्रिया के द्वारा वर्तमान समय में काम का होना या होते रहना ज्ञात होता है उसे हम 'वर्तमान काल' कहते हैं; यथा—सोहन पुस्तक पढ़ता है या पढ़ रहा है।

(३) भविष्यत् काल—वाक्य में जिस क्रिया के द्वारा आगामी अर्थात् भविष्य मे आने वाले समय का काम का होना सूचित होता हो, उसे हम भविष्यत् काल कहते हैं; यथा—सोहन पुस्तक पढ़ेगा।

भूतकाल के पुनः छह उपभेद किये जा सकते हैं—(१) सामान्य भूत, (२) आसन्न भूत, (३) पूर्ण भूत, (४) अपूर्ण भूत, (५) संदिग्ध भूत और (६) हेतुहेतुमद्भूत।

(१) सामान्य भूत—क्रिया के जिस रूप में बीते हुए समय का तो बोध हो परन्तु समय का निश्चय न हो सके; यथा—सोहन ने पुस्तक पढ़ी। इस

वाक्य में बीते हुए समय का ज्ञान होता है परन्तु समय का निश्चित ज्ञान नहीं होता है कि कार्य अभी समाप्त हुआ या बहुत पहले।

(२) **आसन्न भूत**—क्रिया के जिस-रूप से कार्य का निकट समय में ही पूर्ण होना ज्ञात हो, उसे हम 'आसन्न भूतकाल' कहते हैं; यथा—सोहन पुस्तक पढ़ चुका है।

(३) **पूर्ण भूत**—क्रिया के जिस रूप से कार्य का बहुत पहले समाप्त होना सूचित हो, उसे हम 'पूर्ण भूत काल' कहते हैं यथा—सोहन ने पुस्तक पढ़ी थी।

(४) **अपूर्ण भूत**—क्रिया के जिस रूप से कार्य का बीते समय में तो होना पाया जावे परन्तु साथ ही उसके समाप्त होने का ज्ञान न हो; यथा—सोहन पुस्तक पढ़ रहा था।

(५) **संदिग्ध भूत**—क्रिया के जिस रूप से भूतकाल का ज्ञान हो परन्तु कार्य के होने में सन्देह बना हो, उसे हम 'संदिग्ध भूतकाल' कहते हैं; यथा—सोहन ने पुस्तक पढ़ी होगी।

(६) **हेतहेतुमद् भूत**—क्रिया के जिस रूप से यह ज्ञात होवे कि कार्य का होना भूतकाल में सम्भव था परन्तु हेतु के अभाव में वह कार्य रुक गया; यथा—यदि सोहन के पिता बाजार से पुस्तक लाते तो सोहन पुस्तक पढ़ता। इस वाक्य में सोहन का पुस्तक पढ़ना सम्भव था परन्तु उसके पिता के बाजार से पुस्तक न लाने के कारण वह होने वाला कार्य भी रुक गया। अतः यहाँ 'हेतुहेतुमद् भूत' हुआ।

वर्तमान काल के तीन भेद होते हैं—(१) सामान्य वर्तमान, (२) संदिग्ध या सम्भाव्य वर्तमान और (३) अपूर्ण वर्तमान।

(१) **सामान्य वर्तमान**—क्रिया के जिस रूप से कार्य का वर्तमान समय में होना पाया जावे, उसे हम 'सामान्य वर्तमान' कहते हैं; यथा—सोहन पुस्तक पढ़ता है।

(२) **संदिग्ध या सम्भाव्य वर्तमान**—क्रिया के जिस रूप से कार्य के वर्तमान काल में होने की सम्भावना या सन्देह प्रकट किया जावे, उसे हम 'संदिग्ध या सम्भाव्य वर्तमान' कहते हैं; यथा—सोहन पुस्तक पढ़ता होगा।

(३) **अपूर्ण वर्तमान**—क्रिया के जिस रूप से कार्य का चालू होना पाया जाता है, उसे हम 'अपूर्ण वर्तमान' कहते हैं; यथा—सोहन पुस्तक पढ़ रहा है।

भविष्यत् काल के तीन भेद होते हैं—(१) सामान्य भविष्यत् (२) संभाव्य भविष्यत् और (३) हेतुहेतुमद् भविष्यत् ।

(१) **सामान्य भविष्यत्**—क्रिया के जिस रूप में किसी कार्य का भविष्य में होना कहा जाये, यथा—मोहन कल यहाँ आयेगा ।

(२) **सम्भाव्य भविष्यत्**—क्रिया के जिस रूप में किसी कार्य के आगामी समय या भविष्य में होने की सम्भावना पायी जावे परन्तु यह निश्चित न हो सके कि कार्य होगा अथवा नहीं वहाँ पर सम्भाव्य भविष्यत् माना जाता है यथा—सम्भव है मोहन कल यहाँ आवे ।

(३) **हेतुहेतुमद् भविष्यत्**—क्रिया के जिस रूप से किसी कार्य के आगामी समय या भविष्य काल में होना दूसरे काम पर निर्भर करता हो; यथा—परिश्रम करोगे तो निश्चय ही सफल होगे आदि ।

प्रश्न २६—क्रिया-विशेषण किसे कहते हैं ? उदाहरण-सहित भेदों का वर्णन करो ।

उत्तर—जिन शब्दों से क्रिया के अर्थ में विशेषता आ जाती है, उन्हें क्रिया-विशेषण कहते हैं; यथा—कम खाओ, जल्दी आओ—में 'कम' और 'जल्दी' दोनों ही क्रिया-विशेषण हैं ।

क्रिया-विशेषण पाँच प्रकार के होते हैं—(१) कालवाचक, (२) स्थानवाचक, (३) रीतिवाचक, (४) परिमाणवाचक, और (५) प्रश्नवाचक ।

(१) **कालवाचक क्रिया-विशेषण**—जिन शब्दों से क्रिया के घटित होने की अवधि का निश्चय हो; यथा—कल यहाँ नेहरूजी आये थे—इस वाक्य में 'कल' कालवाचक क्रिया-विशेषण है । इसी प्रकार कालवाचक क्रिया-विशेषणों के अन्य उदाहरण हैं—अब, जब, तब, कब, आज, कल, पहले, पीछे, सदा, अभी, कभी, शीघ्र, देर में आदि ।

(२) **स्थानवाचक क्रिया-विशेषण**—जिन शब्दों के द्वारा क्रिया होने का स्थान ज्ञात हो वहाँ 'स्थानवाचक क्रिया-विशेषण' होता है; यथा—तुम कहाँ रहते हो—में 'कहाँ' स्थानवाचक क्रिया-विशेषण है ।

अन्य उदाहरण—यहाँ, वहाँ, जहाँ, तहाँ, कहाँ, इधर, उधर, किधर, जिधर, सर्वत्र, समीप, दूर, आगे, दायें, बायें आदि ।

(३) **रीतिवाचक क्रिया-विशेषण**—जिन शब्दों से क्रिया होने की रीति या ढंग का ज्ञान हो, वहाँ रीतिवाचक क्रिया-विशेषण होता है । यथा—वह, सहसा आ गया—में सहसा रीतिवाचक क्रिया-विशेषण है ।

रीतिवाचक विशेषणों की संख्या बहुत होती है, अतः उनके सात भेद माने जाते हैं; यथा—निश्चयवाचक, अनिश्चयवाचक; प्रकारवाचक, स्वीकारवाचक, कारणवाचक, निषेधवाचक और अवधारणवाचक।

अन्य उदाहरण हैं—अच्छा, बुरा, यकायक, सचमच, झटपट, इसलिए, अतएव आदि।

(४) **परिमाणवाचक क्रिया-विशेषण**—जिन शब्दों से क्रिया के परिमाण का ज्ञान होता है, वहाँ परिमाणवाचक क्रिया-विशेषण माना जाता है; यथा—ज्यादा लिखो—में 'ज्यादा' परिमाणवाचक क्रिया-विशेषण है।

अन्य उदाहरण हैं—थोड़ा, बहुत, कम, बहुधा, तनिक, कितना, जितना, निरा, केवल आदि।

(५) **प्रश्नवाचक क्रिया-विशेषण**—जिन शब्दों के द्वारा प्रश्न करने के लिए क्रिया-विशेषणों का प्रयोग होवे वहाँ प्रश्नवाचक क्रिया-विशेषण माना जाता है; यथा—तुम कहाँ रहते हो ? प्रश्नवाचक होने के कारण यह प्रश्नवाचक क्रिया माना जाता है।

प्रश्न ३०—पद-परिचय या शब्द-बोध किसे कहते हैं ? विभिन्न शब्दों के पद-परिचय करते समय किन-किन बातों का ध्यान रखा जाता है ?

उत्तर—वाक्य मे आये हुए शब्दों के रूप को बताना अर्थात् वे संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया या क्रिया-विशेषण में से क्या है, यह बताना ही पद परिचय या शब्द-बोध कहलाता है।

विभिन्न शब्दों के पद-परिचय में निम्न बातों का ध्यान रखा जाता है—

(१) **संज्ञा के पद-परिचय में**—सर्वप्रथम संज्ञा का कौन सा भेद है, तत्पश्चात् लिंग—पुल्लिग या स्त्रीलिंग, वचन—एकवचन या बहुवचन, कारक—आठों कारकों में से कौन-सा कारक तथा उसका क्रिया से सम्बन्ध।

उदाहरणार्थ—गोपाल बाजार से पुस्तक लाता है।

गोपाल—व्यक्तिवाचक संज्ञा, पुल्लिग, एकवचन, कर्त्ताकारक 'लाता' है क्रिया का कर्त्ता।

बाजार—जातिवाचक सज्ञा, पुल्लिग, एकवचन, अपादानकारक, 'लाता है' क्रिया का अपादान।

पुस्तक—जातिवाचक संज्ञा, स्त्रीलिंग, एकवचन, कर्मकारक, लाता है क्रिया का कर्म।

(२) सर्वनाम के पद-परिचय में—निम्न बातों को ध्यान में रखा जाता है—सर्वनाम के भेद; लिंग; वचन, कारक एवं उनका सम्बन्ध।

उदाहरणार्थ—वह तुम्हारा क्या कर लेगा ?

वह—पुरुषवाचक सर्वनाम, अन्य पुरुष, पुल्लिंग, एकवचन, कर्ताकारक 'कर लेगा'—क्रिया का कर्त्ता।

तुम्हारा—पुरुषवाचक सर्वनाम, मध्यम पुरुष पुल्लिंग, या स्त्रीलिंग, एक वचन, सम्बन्ध कारक 'क्या' से सम्बन्धित।

क्या—प्रश्नवाचक सर्वनाम, पुल्लिंग, एकवचन, कर्म कारक 'कर लेगा' क्रिया का कर्म।

(३) विशेषण के पद-परिचय में—निम्न बातों का ध्यान रखा जाता है—विशेषण के भेद, लिंग, वचन, कारक और विशेष्य।

उदाहरणार्थ—इस प्रदर्शनी में प्रत्येक स्त्री ने एक बंगलौरी साड़ी मोल ली।

इस—संकेतवाचक विशेषण, स्त्रीलिंग, एकवचन, 'प्रदर्शनी' विशेष्य का विशेषण।

प्रत्येक—विभाग बोधक विशेषण, स्त्रीलिंग, एकवचन, 'स्त्री' विशेष्य का विशेषण।

एक—निश्चित संख्यावाचक विशेषण, स्त्रीलिंग, एकवचन, 'साड़ी' विशेष्य का विशेषण।

बंगलौरी—व्यक्तिवाचक विशेषण, स्त्रीलिंग, एकवचन, 'साड़ी' विशेष्य का विशेषण।

(४) क्रिया के पद-परिचय में—निम्न बातों का ध्यान रखना चाहिए—क्रिया का भेद, वाच्य, काल, पुरुष, लिंग, वचन और सम्बन्ध।

उदाहरणार्थ—राम मोहन से पत्र पढ़वा रहा है।

पढ़वा रहा है—प्रेरणार्थक क्रिया, समर्थक, कर्तृवाच्य, अपूर्ण वर्तमान काल, पुल्लिंग, एकवचन, अन्य पुरुष इनका कर्त्ता 'राम' तथा कर्म 'पात्र' है।

(५) क्रिया-विशेषण के पद-परिचय में—निम्न बातों का ध्यान रखा जाता है—

उदाहरणार्थ—गोपाल आज मार्ग पर जल्दी-जल्दी चल रहा था।

आज—कालवाचक क्रिया-विशेषण, 'चल रहा था' क्रिया का विशेषण।
जल्दी-जल्दी—रीतिवाचक विशेषण, 'चल रहा था' क्रिया का विशेषण।

प्रश्न ३१—कृत तथा तद्धित प्रत्ययों में क्या अन्तर है ?

उत्तर—जो प्रत्यय धातु या क्रिया शब्दों से जुड़कर बनते हैं, उन्हें हम 'कृत प्रत्यय' कहते हैं; यथा—'पढ़ना' धातु में 'वाला' प्रत्यय जोड़ देने से जो रूप 'पढ़ने वाला' बना वह कृत प्रत्यय कहलायेगा। परन्तु जो प्रत्यय संज्ञा, सर्वनाम और विशेषण आदि शब्दों से जुड़कर बनते हैं, हम 'तद्धित प्रत्यय' कहते हैं; यथा—'सुन्दर' शब्द विशेषण है इसमें तब 'ता' प्रत्यय लग गया तो यह 'सुन्दरता' शब्द बना जो 'तद्धित प्रत्यय' का रूप है।

प्रश्न ३२—'उपसर्ग' तथा 'प्रत्ययों' में क्या अन्तर है ?

उत्तर—'उपसर्ग' एवं 'प्रत्यय' दोनों ही शब्दांश हैं जो एक शब्द से मिलने पर नये शब्द का निर्माण किया करते हैं। परन्तु 'उपसर्ग' शब्द से पहले जुड़ता है; इसे अंग्रेजी में Prefix कहते है और 'प्रत्यय' शब्द के अन्त में जुड़ता है इसे अंग्रेजी में Suffix कहते हैं; यथा—'आरम्भ' शब्द के शुरू में 'प्र' जुड़ने से 'प्रारम्भ' शब्द का निर्माण हुआ अतः 'प्र' उपसर्ग हुआ। इसी प्रकार 'कार' में 'वि' जुड़ने से 'विकार', 'हार' में 'प्र' जुड़ने से 'प्रहार' आदि सभी उपसर्ग के उदाहरण हैं।

परन्तु 'सुन्दर' शब्द के अन्त में 'ता' जोड़ने से 'सुन्दरता' शब्द का निर्माण हुआ अतः 'ता' 'प्रत्यय' माना जावेगा। इसी प्रकार 'बालक' में 'पन' जोड़कर 'बालकपन' बना यहाँ भी 'पन' प्रत्यय है।

प्रश्न ३३—सन्धि की परिभाषा भेद सहित लिखो।

उत्तर—दो वर्णों के मेल से होने वाले विकार को सन्धि कहते हैं। यथा—विद्यार्थी में—विद्या+अर्थी (आ+अ=आ हो गया), रमेश में =रमा+ईश (आ+इ=ए हो गया)।

सन्धि तीन होती हैं—(१) स्वर सन्धि, (२) व्यंजन सन्धि, (३) विसर्ग सन्धि।

स्वर सन्धि

स्वर सन्धि—दो स्वरों के परस्पर के मेल से होने वाले विकार को स्वर सन्धि कहते हैं; यथा—हिमालय में :

हिम+आलय, अ+आ=आ हो गया।

स्वर सन्धि के उपभेद—(१) दीर्घ स्वर सन्धि, (२) गुण स्वर सन्धि, (३) वृद्धि स्वर सन्धि, (४) यण स्वर सन्धि, (५) अयादि स्वर सन्धि।

(१) **दीर्घ स्वर सन्धि**—जब दो समान ह्रस्व या दीर्घ स्वर अर्थात् ह्रस्व या दीर्घ अ, इ, उ, ऋ नामक स्वर जब परस्पर मिलते हैं तो उनके मेल से वह स्वर दीर्घ हो जाता है। यही दीर्घ स्वर सन्धि कहलाती है। यथा—

दैत्य	+	अरि	=	दैत्यारि	(अ+अ=आ)
विद्या	+	आलय	=	विद्यालय	(आ+आ=आ)
हिम	+	आलय	=	हिमालय	(अ+आ=आ)
विद्या	+	अर्थी	=	विद्यार्थी	(आ+अ=आ)
कवि	+	इन्द्र	=	कवीन्द्र	(इ+इ=ई)
नदी	+	ईश	=	नदीश	(ई+ई=ई)
मही	+	इन्द्र	=	महीन्द्र	(ई+इ=ई)
कपि	+	ईश	=	कपीश	(इ+ई=ई)
भानु	+	उदय	=	भानूदय	(उ+उ=ऊ)
पितृ	+	ऋणम्	=	पितॄणम्	(ऋ+ऋ=ॠ)

(२) **गुण स्वर सन्धि**—जब अ अथवा आ के पश्चात् ह्रस्व या दीर्घ इ, उ, ऋ, ऌ आवे तो क्रमशः उनके मेल से अ+इ=ए, अ+उ=ओ अ+ऋ=अर् और अ+ऌ=अल् हो जावेंगे ; यथा—

देव+इन्द्र=देवेन्द्र	(अ+इ=ए)
महा+ईश=महेश	(आ+ई=ए)
पर+उपकार=परोपकार	(अ+उ=ओ)
चन्द्र+उदय=चन्द्रोदय	(अ+ऊ=ओ)
सप्त+ऋषि=सप्तर्षि	(अ+ऋ=अर्)
महा+ऋषि=महर्षि	(आ+ऋ=अर्)

(३) **वृद्धि स्वर सन्धि**—जब 'अ' अथवा 'आ' पश्चात् ए, ऐ, ओ, औ में से कोई स्वर आवे तो दोनों के मेल से क्रमशः अ+ए=ऐ. अ+ऐ=ऐ अ+ओ=औ, अ+औ=औ हो जाते हैं; यथा—

एक+एक=एकैक	(अ+ए=ऐ)
सदा+एव=सदैव	(आ+ए=ऐ)
वन+औषधि=वनौषधि	(अ+औ=औ)

(४) **यण स्वर सन्धि**—जब ह्रस्व या दीर्घ अ, इ, उ, ऋ और ऌ के

पश्चात् कोई असमान स्वर (अर्थात् अ के पश्चात् अ, इसके पश्चात् इ न आवे) आवे तो इ, उ, ऋ, ऌ, क्रमशः य्, व्, र्, और ल् में परिणत हो जाते हैं, यथा—

इति + आदि	= इत्यादि	(इ + आ = य)
यदि + अपि	= यद्यपि	(इ + अ = य)
प्रति + उपकार	= प्रत्युपकार	(इ + उ = यु)
सु + आगत	= स्वागत	(उ + आ = व)
पितृ + आदेश	= पित्रादेश	(ऋ + आ = र)
ऌ + आकृति	= लाकृति	(ऌ + आ = अ)

(५) **अयादि स्वर सन्धि**—जब ए, ऐ, ओ और औ के पश्चात् असमान स्वर आवे तो उनके स्थान पर क्रमशः ए + अ = अय्, ऐ + अ = आयु, ओ + अ = अव्, औ + अ = आव, हो जाते हैं; यथा—

ने + अन = नयन	(ए + अ = अय)
नै + अक = नायक	(ने + अ = आय)
भो + अन = भवन	(औ + अ = आव)
पौ + अक = पावक	(औ + अ = आव)

व्यंजन सन्धि

व्यंजन सन्धि—व्यंजन के पश्चात् व्यंजन के परस्पर मेल से जो विकार या परिवर्तन होता है, उसे ही हम व्यंजन सन्धि कहते हैं; यथा—

सत् + जन = सज्जन।

व्यंजन सन्धि के कुछ नियम—(१) जब प्रथम पद मे किसी वर्ग का प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ वर्ण आता है और उसके आगे के पद में कोई स्वर, अन्तःस्थ वर्ण (य, र, ल, व) या उसी वर्ग का तृतीय वर्ण आवे तो प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ वर्ण के स्थान पर उसी वर्ग का तृतीय वर्ण हो जाया करता है। यथा—

दिक् + अम्बर = दिगम्बर
दिक् + गज = दिग्गज

(२) जब प्रथम वर्ण के पश्चात् अनुनासिक वर्ण आवे तो प्रथम वर्ण उसी के अनुनासिक वर्ण में बदल जाया करता है; यथा—

वाक् + मय = वाङ्मय
षट् + मास = षण्मास

(३) प्रथम पद के त् या द् के आगे जब च या छ हो दोनों के मेल च, ज या झ हो तो दोनों के मेल से ज, ट या ठ हो तो दोनों के मेल से ड या ढ हो तो दोनों के मेल से ड; और ल हो तो दोनों के मेल से ल जाता है; यथा—

उत् +चारण=उच्चारण
विपद् +जला =विपज्जाल
उत् +लास =उल्लास

(४) प्रथम पद के त् या द् के पश्चात् 'श' होवे तो त् या द् के स्थान पर 'च' और 'श' के स्थान पर 'छ' हो जावेगा ; यथा—

सद्+शास्त्र=सच्छास्त्र

इसी प्रकार प्रथम पद के त् या द् के पश्चात् यदि 'ह' होवे तो त्, द् के स्थान पर द् और 'ह' के स्थान पर ध हो जाता है। यथा—

उत्+हार=उद्धार

(५) यदि पूर्व पद में कोई स्वर होवे और आगे के पद के प्रारम्भ में भी आवे तो दोनों के बीच में 'च्' और जुड़ जाया करता है; यथा—

परि+छेद=परिच्छेद
आ +छादन=आच्छादन

(६) यदि अनुस्वार के पश्चात् आगे के पद में कोई स्वर आता है तो अनुस्वार के स्थान पर 'म्' हो जाता है; यथा—

स+उन्नति=समुन्नति

(७) अनुस्वार के पश्चात् क से लेकर म तक यदि कोई वर्ण आगे के पद में है तो अनुस्वार के स्थान पर आगे वाले वर्ण का पंचम वर्ण हो जाता है; यथा—

सं+तोष=संतोष
किं+चित्=किंचित्

(८) परन्तु अनुस्वार के आगे वाले पद में अन्तःस्थ (य, र, ल, व) या ऊष्म (श, ष, स, ह) वर्ण हो तो अनुस्वार बना रहता है उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता है; यथा—

सं+वाद=संवाद
सं+हार=संहार

(६) यदि पहले पद में अ, आ को छोड़कर अन्य कोई स्वर है और उसके बाद वाले पद में स आता है तो 'स' के स्थान पर 'ष' हो जावेगा; यथा—

अभि+सेक—अभिषेक

विसर्ग सन्धि

विसर्ग सन्धि—प्रथम पद में विसर्ग हो और आगे वाले पद में कोई व्यंजन या स्वर होवे तो उन दोनों के मेल से होने वाला विकार विसर्ग सन्धि कहलाता है; यथा—

मनः+हर=मनोहर

कुछ नियम—(१) यदि प्रथम पद में विसर्ग से पूर्व इ या उ स्वर होवे और बाद वाले पद में क, ख या प, फ वर्ण होवे तो विसर्ग के स्थान पर 'ष्' हो जाता है; यथा—

निः+फल=निष्फल

दुः+पाप=दुष्पाप

दुः+काल=दुष्काल

(२) यदि प्रथम पद में विसर्ग से पूर्व 'अ' होवे तथा बाद वाले पद में वर्ग के तृतीय, चतुर्थ पंचम वर्ग या अन्तःस्थ व्यंजन (य, र, ल, व) होवे तो विसर्ग के स्थान पर 'ओ' हो जाता है; यथा—

मनः+रंजन=मनोरंजन

मनः+हर=मनोहर

तेजः+मय=तेजोमय

(३) यदि प्रथम पद में विसर्ग हो और बाद वाले पद में च, छ, त, थ, या ट, ठ होवे तो उनके स्थान पर क्रमशः श, स, या ष हो जाता है; यथा—

निः+छल=निश्छल

मनः+ताप=मनस्ताप

धनुः+टकार=धनुष्टंकार

(४) यदि प्रथम पद में विसर्ग से पूर्व अ, आ को छोड़कर अन्य कोई स्वर आवे और बाद वाले पद में वर्ग के तृतीय, चतुर्थ और पंचम वर्ण या अन्तःस्थ वर्ण (य, र, ल व) अथवा कोई स्वर आवे तो विसर्ग के स्थान पर 'र' हो जाया करता है; यथा—

निः+धन=निर्धन

निः+भय=निर्भय
निः+मोही=निर्मोही

(५) यदि प्रथम पद में विसर्ग से पूर्व अ, आ को छोड़कर अन्य कोई स्वर आवे और बाद वाले पद के प्रारम्भ में 'र' आवे तो ऐसी स्थिति में विसर्ग का लोप हो जाया करता है, और विसर्ग के पूर्व का ह्रस्व दीर्घ हो जाया करता है; यथा—

निः+रोग=नीरोग
निः+रस=नीरस

(६) यदि प्रथम पद में विसर्ग से पूर्व 'अ' होवे और बाद वाले पद के प्रारम्भ में क, ख, प, फ में से कोई एक व्यंजन होवे तो ऐसी दशा मे विसर्ग ज्यों का त्यों बना रहता है, उसमें कोई परिवर्तन नही होता है; यथा—

अधः+पतन=अधःपतन
पयः+पान=पयःपान

(७) यदि प्रथम पद में विसर्ग से पूर्व 'अ' होवे और बाद वाले पद में 'अ' के अलावा अन्य कोई स्वर होवे तो ऐसी दशा में विसर्ग का लोप हो जाया करता है; यथा—

अतः+एव=अतएव।

प्रश्न ३४—समास किसे कहते हैं ? सोदाहरण भेदों का परिचय दो।

उत्तर—दो या दो से अधिक शब्दों के मिलने से जो नवीन शब्द निर्मित होता है, उसे हम 'समास' कहते हैं। यही मिला हुआ शब्द, सामासिक पद कहलाता है। इस सामासिक पद के अलग-अलग टुकड़े करने को 'विग्रह' कहा जाता है। सामासिक शब्द बनने पर उसमे से विभक्तियों का लोप हो जाया करता है; यथा—'पिता-पुत्र' यह एक सामासिक पद है। यह पिता और पुत्र दो शब्दों के मेल से बना है और जोड़ने वाले 'और' शब्द का इसमें से लोप हो गया है। 'पिता और पुत्र' यह इसका सामासिक पद विग्रह हुआ।

समास के छह भेद होते हैं—अव्ययीभाव, तत्पुरुष, कर्मधारय, द्विगु, बहुव्रीहि और द्वन्द्व।

(१) अव्ययीभाव—इस समास में प्रथम पद या शब्द प्रधान होता है और वह प्रायः अव्यय होता है। साथ ही सामासिक शब्द क्रिया-विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता है; यथा—'प्रतिदिन' इस सामासिक पद में पहला पद अर्थात्

'प्रति' अव्यय है और दूसरा पद 'दिन' संज्ञा है। सम्पूर्ण सामासिक पद 'प्रति-दिन' क्रिया-विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है।

इसी प्रकार यथाशक्ति, यथानियम, आजन्म, यथोचित, एकाएक आदि।

(२) **तत्पुरुष**—जिस समास में द्वितीय पद प्रधान होता, तथा प्रथम पद कर्त्ता एवं सम्बोधन कारक को छोड़कर अन्य किसी कारक का हो, साथ ही जिसमें विभक्तियों का लोप रहे, उसे हम 'तत्पुरुष समास' कहते है; यथा 'हिमालय' सामासिक पद का विग्रह होगा—'हिम का आलय'—यहाँ दूसरा पद (आलय) प्रधान है, और प्रथम पद 'हिम' सम्बन्धकारक का है, परन्तु सम्बन्धकारक का चिह्न 'का' लुप्त है। अतः यहाँ 'तत्पुरुष समास' हुआ। इसके सात भेद होते हैं—

(क) **कर्म तत्पुरुष**—इसमे प्रथम पद 'कर्मकारक' होता है; यथा—स्वर्गगामी—स्वर्ग को गमन करने वाला। यहाँ कर्मकारक की 'को' विभक्ति का लोप है।

(ख) **करण तत्पुरुष**—इसमें प्रथम पद 'करणकारक' होता है; यथा—रेखांकित 'रेखाओं से अंकित' में 'से' करण विभक्ति का लोप है।

(ग) **सम्प्रदान तत्पुरुष**— इसमे प्रथम पद 'सम्प्रदान कारक' का होता है; यथा—हवन-सामग्री (हवन के लिए सामग्री), यहाँ सम्प्रदान कारक की 'के लिए' विभक्ति का लोप है।

(घ) **अपादान तत्पुरुष**—इसमें प्रथम पद 'अपादान कारक' का होता है; यथा—पथ-भ्रष्ट, धर्म-भीरु, दोनों ही पदों के 'अपादानकारक' की 'से' विभक्ति का लोप है।

(ङ) **सम्बन्ध तत्पुरुष**—इसमें प्रथम पद सम्बन्धकारक का होता है, यथा—देवालय (देवता का आलय)। यहाँ सम्बन्धकारक की 'का' विभक्ति का लोप है।

(च) **अधिकरण तत्पुरुष**—इसमें प्रथम पद 'अधिकरण कारक' का होता है; यथा—वनवास (वन में वास) यहाँ अधिकरण कारक की 'में' विभक्ति का लोप है।

(छ) **निषेधवाचक या नञ् तत्पुरुष**—इसमें पद के प्रारम्भ में ही निषेधात्मक 'न' या 'अन्' शब्दों का प्रयोग रहता है, यथा—अब्राह्मण अर्थात् जो ब्राह्मण न हो, यहाँ पर निषेधात्मक 'अ' का पद के प्रारम्भ में प्रयोग हुआ है।—

(३) कर्मधारय—इसमें एक पद 'विशेषण' होता है और दूसरा पद 'विशेष्य' यह क्रम कभी सीधा रहता है और कभी उल्टा, अर्थात् कभी-कभी तो प्रथम पद 'विशेषण' और द्वितीय पद 'विशेष्य' होता है तो कभी-कभी प्रथम पद 'विशेष्य' और द्वितीय पद 'विशेषण' बन जाता है।

इस समास के विग्रह करने में विशेषण और विशेष्य के मध्य 'है जो' शब्द प्रयोग में लाया जाता है; यथा—'नीलकमल' में नीला है जो कमल वह विग्रह हुआ, अतः यहाँ कर्मधारय समास है। अन्य उदाहरण—पटाम्बर, पीताम्बर, चन्द्रमुख आदि।

(४) द्विगु समास—इसमें प्रथम पद संख्यावाचक होता है और द्वितीय प्रधान। साथ ही सम्पूर्ण समास समूह वाचक होता है। विग्रह करते समय 'समूह' शब्द का प्रयोग होता है; यथा—त्रिलोकी—तीन लोकों का समाहार, त्रिभुवन—तीनों भवनों का समूह।

अन्य उदाहरण—सप्तसिन्धु, नवरत्न, चतुष्पथ, चतुर्भुज।

(५) बहुब्रीहि समास—इसमें दोनों पदों में से कोई भी प्रधान नहीं होता है। विग्रह करने पर अपनी तरफ से कुछ जोड़ने के पश्चात् ही अन्वय पूर्ण होता है, यथा—'दसमुख' (दस हैं मुख जिसके अर्थात् रावण); 'चतुर्भुज' (चार हैं भुजा जिसके अर्थात् विष्णुजी)।

अन्य उदाहरण—लंबोदर, पंचानन, सहस्रबाहु, दिगम्बर, पीताम्बर आदि।

(६) द्वन्द्व समास—इसमें दोनों पद प्रधान होते हैं और दोनों पदों को मिलाने वाले 'और' शब्द का लोप होता है, यथा—रात-दिन (रात और दिन); भाई-बहन (भाई और बहिन)।

अन्य उदाहरण—पिता-पुत्र, पति-पत्नी, राजा-रानी, राम-लक्ष्मण, सीता-राम, दाल-चावल, सुख-दुख आदि।

प्रश्न ३५—वाक्य किसे कहते हैं? उसके कितने प्रकार होते हैं? उदाहरण सहित स्पष्ट करें।

उत्तर—'ध्वनियों' या शब्दों के उस समूह को जिससे कोई बात हमारी समझ में आ जाय, 'वाक्य' कहते हैं। दूसरे शब्दों में जिस शब्द समूह से कोई भाव स्पष्ट रूप से ज्ञात होता हो, उसे हम 'वाक्य' कहते हैं; यथा—राम बाजार जाता है—इस शब्द-समूह से हमें एक स्पष्ट भाव का पता चलता है, अतः यह वाक्य कहलाता है।

वाक्य के दो अंग होते हैं—'उद्देश्य तथा 'विधेय'।

उद्देश्य—जिसके बारे में कुछ कहा जाता है, उसे उद्देश्य कहते हैं।

विधेय—जो कुछ कहा जाता है, वह विधेय कहलाता है।

यथा—राम बाजार जाता है—इस वाक्य में 'राम' उद्देश्य है, 'बाजार जाता है', विधेय है।

'रचना की दृष्टि' एवं 'भाव की दृष्टि' से वाक्यों का विभाजन किया जाता है।

रचना की दृष्टि से वाक्य तीन प्रकार के होते हैं—

(१) सरल या साधारण वाक्य।

(२) मिश्रित या मिश्र वाक्य।

(३) संयुक्त या संपृष्ट वाक्य।

(१) **सरल वाक्य**—जिस वाक्य में केवल एक कर्त्ता और केवल एक ही क्रिया होती है, उसे हम सरल वाक्य कहते हैं; यथा—राम बाजार जाता है।

(२) **मिश्रित या मिश्र वाक्य**—जिस वाक्य के अन्तर्गत प्रधान वाक्य एक ही और उसमें एक या एक से अधिक आश्रित उपवाक्य होते हैं, उसे हम मिश्रित या मिश्र वाक्य कहते हैं; यथा—'मुझे पता चला है कि गोपाल की नौकरी छूट गई है' इस वाक्य में प्रधान वाक्य—'मुझे पता चला है' और 'गोपाल की नौकरी छूट गई है' यह आश्रित उपवाक्य है; अतः यह सम्पूर्ण वाक्य मिश्रित या मिश्र वाक्य कहलायेगा।

(३) **संयुक्त वाक्य**—जिस वाक्य के अन्तर्गत दो या दो से अधिक मिश्रित उपवाक्य होते हैं, उसे हम 'संयुक्त वाक्य' कहते हैं। इसमें दोनों उपवाक्य अपना अलग-अलग अर्थ रखते है, कोई किसी के अधीन नहीं होता है, परन्तु दोनों वाक्य किसी एक संयोजक चिह्न से जुड़े रहते हैं; यथा—'श्याम यहाँ आया और मैं गया।' इस वाक्य में श्याम यहाँ आया, 'मैं गया' दोनों ही दो स्वतन्त्र वाक्य हैं 'और' संयोजक चिह्न से दोनों जुड़े हुए हैं। अतः यह संयुक्त वाक्य हुआ।

भाव की दृष्टि से वाक्यों का वर्गीकरण

(१) **सामान्य वाक्य**—जिस वाक्य के अन्तर्गत कोई सरल बात कही जावे, उसे हम 'सामान्य वाक्य' कहते हैं; यथा—'सोहन पुस्तक पढ़ता है।'

(२) **प्रश्न वाचक वाक्य**—जिस वाक्य के अन्तर्गत कोई प्रश्न किया गया हो; यथा—क्या सोहन पुस्तक पढ़ता है? इस वाक्य के अन्त में प्रश्नवाचक चिह्न (?) लगा रहता है।

(३) निषेधात्मक वाक्य—जिस वाक्य के अन्तर्गत किसी कार्य का निषेध या 'मना' होवे; यथा—'पुस्तक मत पढ़ो।'

(४) आज्ञार्थक वाक्य—जिस वाक्य के अन्तर्गत आज्ञा या आदेश दिया जाए; यथा—'तुम पुस्तक पढ़ो।'

(५) इच्छा या आशीर्वाद सूचक वाक्य—जिस वाक्य के अन्तर्गत कोई इच्छा या आशीर्वाद व्यक्त किया जाए, यथा—'भगवान् करे तुम्हारी नौकरी लग जाये।'

(६) सन्देह सूचक वाक्य—जिस वाक्य के अन्तर्गत किसी कार्य के होने में जब सन्देह या शक प्रकट किया जाता है तो वह वाक्य 'सन्देहसूचक' कहलाता है; यथा—'तुमने कोई पाप किया होगा, तभी तो तुम्हें यह दुःख भोगना पड़ रहा है।'

(७) विस्मय वाक्य—जिस वाक्य के अन्तर्गत विस्मय (आश्चर्य) आदि व्यक्त किया जावे; यथा—है! क्या प्रधानमन्त्री लालबहादुर शास्त्री स्वर्ग सिधार गये!

(८) संकेत या शर्तसूचक वाक्य—जिस वाक्य के अन्तर्गत कोई संकेत या शर्त सूचित होती हो; यथा—यदि राम परिश्रम करता तो निश्चय ही अच्छी श्रेणी में उत्तीर्ण होता।

प्रश्न ३६—विरामादि चिह्नों का ज्ञान क्यों जरूरी है? उसका उदाहरण सहित परिचय दीजिए।

उत्तर—'विराम' का शाब्दिक अर्थ है—रुकावट, विश्राम या ठहराव। शब्द, वाक्यांश या वाक्य बोलते समय हम एक ही गति में नहीं बोलते हैं, अपितु कभी धीरे से तो कभी जोर से और कभी रुक-रुक कर बोलते हैं। लिखते समय हम इसी प्रकार के कुछ चिह्न प्रयोग में लाते हैं, जिन्हें विराम-चिह्न कहा जाता है।

'विराम-चिह्नों' के प्रयोग से लेखक या कवि के विचारों को समझने में बड़ी मदद मिलती है। इन्हीं चिह्नों की मदद से लम्बे-लम्बे वाक्य भी सरलता से बोधगम्य हो जाते हैं।

विराम चिह्नों के प्रयोग भेद से कभी अर्थ का अनर्थ भी हो जाया करता है अतः इसका प्रयोग करते समय सावधानी से काम करना चाहिए। इसी बात को एक उदाहरण द्वारा हम सरलता से व्यक्त करना चाहेंगे—

(१) पराधीन जो जन, नहीं स्वर्ग नरक ता हेतु।
(२) पराधीन जो जन नहीं, स्वर्ग नरक ता हेतु॥

प्रथम उदाहरण में 'जन' शब्द के पश्चात् विराम लगा है, अतः इसका अर्थ है कि जो व्यक्ति पराधीन या गुलाम है उसके लिए स्वर्ग नाम की कोई जगह नहीं है अपितु सर्वत्र नरक ही है। दूसरे उदाहरण में शब्दावली वही है, परन्तु चिह्नों के स्थान परिवर्तन से अर्थ दूसरा ही हो जाता है। इसका अर्थ है कि जो व्यक्ति जीवन में परतन्त्र नहीं है, उस व्यक्ति के लिए तो नरक भी स्वर्ग बन जाता है।

अतः हमें विराम चिह्नों का प्रयोग करते समय अत्यन्त सावधानी से काम लेना चाहिए।

मुख्य विराम चिह्न

मुख्य विराम चिह्न निम्नलिखित हैं—

(१) अल्प विराम (,), (२) अर्द्ध विराम (;), (३) पूर्ण विराम (।), (४) अपूर्ण या न्यून विराम (:), (५) प्रश्न वाचक (?), (६) विस्मयादि सूचक चिह्न (!), (७) योजक अथवा विभाजक चिह्न (–), (८) निर्देशक चिह्न (—), (९) कोष्टक (), (१०) उद्धरण या अवतरण चिह्न (" "), (११) लोप निर्देशक चिह्न (× × ×....), (१२) विवरण चिह्न (:—), (१३) पुनरुक्ति सूचक चिह्न (,,), (१४) तुल्यता सूचक चिह्न (=), (१५) लाघव या सूक्ष्म रूप सूचक चिह्न, (०). (१६) हंस पद (ʌ), (१७) समाप्ति सूचक (-०-)।

(१) अल्प विराम (,)—जब किसी वाक्य में दो से अधिक शब्दों, वाक्यांश, उपवाक्य आदि का समान रूप से प्रयोग होता है तो थोड़ी देर ठहरने के लिए उनके मध्य अल्प विराम का उपयोग होता है; यथा—

(अ) सीता, राम और श्याम बाजार गए।

(आ) सत्य बोलो, धर्म का आचरण करो, स्वाध्याय में प्रमाद मत लाओ।

(इ) बालको, इधर देखो।

(ई) यशोदा-पुत्र, कृष्ण मथुरा में विराजमान हैं।

(२) अर्द्ध विराम (;)—अर्द्ध विराम का प्रयोग अल्प विराम से कुछ अधिक देर तक रुकने के लिए होता है; यथा—

सतीश वर्ष भर पढ़ा; परन्तु परीक्षा में सफल न हो सका।

(३) पूर्ण विराम (।)—वाक्य की पूर्णता के समय इसका प्रयोग किया जाता है; यथा—सदा सत्य बोलो।

(४) अपूर्ण या न्यून विराम (:)—जब किसी वाक्य में भाव से पूरी तरह ज्ञात हो जाने पर भी उसे और अधिक स्पष्ट करने के लिए प्रथम वाक्य के पश्चात् इस चिह्न का प्रयोग किया जाता है; यथा—

सत्य ही परमेश्वर है : जो सत्य बोलता है, ईश्वर उसकी मदद करता है।

(५) प्रश्न सूचक चिह्न (?)—इस चिह्न का प्रयोग प्रश्नवाचक वाक्यों के अन्त में किया जाता है; यथा—राम कहाँ रहता है ?

(६) विस्मयादि सूचक चिह्न (!)—यह चिह्न विस्मयसूचक शब्द, या वाक्य के पश्चात् लगाया जाता है, यथा—

हे राम ! तुम कहाँ गए ? तथा ओहो ! आज तो अचम्भा है।

(७) योजक अथवा विभाजक चिह्न (–)—दो या दो से अधिक शब्दों के मध्य सम्बन्ध बताने के लिए इस चिह्न का प्रयोग होता है। समासान्त पदों में इस चिह्न का प्रयोग प्रायः होता है; यथा—

सुख-दुख, जल-रहित, धीरे-धीरे आदि।

(८) निर्देशक चिह्न (→)—कथनोपकथन, वार्त्तालाप, उद्धरण आदि में नामों के पश्चात् इसका प्रयोग किया जाता है; यथा—

राम→आज मैं इसे नहीं छोड़ूँगा।

सोहन→क्यों भाई ऐसी क्या बात हो गई है।

(९) कोष्ठक ()—किसी का विभाजन करते समय कोष्ठकों में रखकर संख्या डालते चलते हैं। यथा—संज्ञा तीन प्रकार की होती है—

(१) व्यक्तिवाचक, (२) जातिवाचक, (३) भाववाचक।

(१०) उद्धरण या अवतरण चिह्न (" ")—किसी विद्वान् या अन्य व्यक्ति के कहे हुए शब्दों को उसी के शब्दों में रखते समय इन चिह्नों का प्रयोग करते हैं। अवतरण चिह्न के पश्चात् विराम अवश्य लगाना चाहिए; यथा—

तुलसी के शब्दों में—"परहित सरिस धर्म नहिं भाई"।

(११) **लोप सूचक चिह्न** (×××....)—कोई लेखक जब किसी अन्य विद्वान् के कथन के कुछ अंश को ले लेता है और शेष कथन को छोड़ देता है तो इस चिह्न का प्रयोग किया जाता है।

(१२) **विवरण चिह्न** (:—)—किसी बात को स्पष्ट करने के लिए इसका प्रयोग होता है; यथा—

संज्ञा तीन प्रकार की होती है :—जातिवाचक, व्यक्तिवाचक और भाववाचक।

(१३) **पुनरुक्तिसूचक चिह्न** (,,)—जब प्रथम पंक्ति में कही गई बात शब्द संख्या या वर्ण आदि को अन्य पंक्तियों में दुहराया जाता है तो सुविधा की दृष्टि से इस चिह्न का प्रयोग कर लेते हैं; यथा—

∵ १०० रु० पर एक साल का ब्याज=५ रु०

∴ १ ,, ,, ,, =$\frac{५}{१००}$ रु०

(१४) **तुल्यता सूचक चिह्न** (=)—दो वस्तुओं या बातों में समता दिखाने के इस चिह्न का प्रयोग किया जाता है; यथा—

२×२=४

हिम+आलय=हिमालय।

(१५) **लाघव या सूक्ष्म रूप सूचक चिह्न** (०)—जब वाक्य में हम किसी प्रसिद्ध नाम, वस्तु, संख्या आदि को पूरा न लिखकर इस चिह्न द्वारा सूक्ष्म रूप में लिख दिया करते हैं; यथा—

ई० पू० (ईसा पूर्व), ना०प्र०स० (नागरी प्रचारिणी सभा), पं० (पंडित)

(१६) **हंस पद** (ʌ)—कोई वाक्य लिखते समय उसमें भूल से जब कोई शब्द रह जाता है तो हम इस चिह्न का प्रयोग करके उस भूल या छूटे हुए शब्द को ऊपर लिख देते है; यथा—

पाँच वर्ष

सोहन ʌ से यहाँ पढ़ रहा है।

(१७) **समाप्ति सूचक चिह्न** (—०—) किसी प्रश्न, अध्याय, लेख, पुस्तक आदि की समाप्ति के पश्चात् इस चिह्न का प्रयोग होता है।

प्रश्न ३७—निम्नलिखित लोकोक्तियों का अर्थ बताते हुए उनका वाक्यों में प्रयोग कीजिए।

उत्तर—(१) **अन्धा बाँटे रेवड़ी फिर-फिर अपने को देय**—पद पाने पर अपने ही व्यक्तियों को लाभ पहुँचाना।

प्रयोग—सतीशचन्द्र ने मन्त्रिपद प्राप्त करते ही अपने ही लोगों को लायसेंस, परमिट आदि देकर 'अन्धा बाँटे रेवड़ी फिर-फिर अपने को देय' वाली बात सिद्ध कर दी है।

(२) **का वर्षा जब कृषी सुखाने**—कार्य नष्ट हो जाने पर मदद करने से क्या लाभ है?

(३) काला अक्षर भैंस बराबर—निरा मूर्ख ।

(४) दिया तले अँधेरा—न्याय या ईमानदारी की दुहाई देने वाले के घर में ही अन्याय या बेईमानी का पाया जाना ।

(५) बन्दर क्या जाने अदरक का स्वाद—अज्ञानी व्यक्ति द्वारा अच्छी वस्तुओं का अनादर या तिरस्कार ।

(६) नाच न जाने आँगन टेढ़ा—मूर्ख व्यक्ति का अपनी अज्ञानता को न समझकर वस्तुओं में दोष रखना ।

(७) जाके पाँव न फटे बिवाई सो क्या जाने पीर पराई—जिस मनुष्य ने अपने जीवन में कभी कोई अभाव या कष्ट नहीं झेला है वह दूसरों के अभाव एवं कष्टों को नहीं जान सकता ।

(८) अधजल गगरी छलकत जाय—क्षुद्र मनुष्य का साधन सम्पन्न हो जाने पर ऐंठ कर चलना

(९) साँप न मरे न लाठी टूटे—सरलता से कोई कार्य हो जाना ।

(१० मुल्ला की दौड़ मस्जिद तक—सीमित साधनों का प्रयोग ।

(११) न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी—जब मूल कारण ही न होगा तो कोई कार्य भी न हो सकेगा ।

(१२) जिसकी लाठी उसकी भैंस—ताकत के आगे सब झुकते हैं ।

(१३) जो गरजते हैं बरसते नहीं—जो व्यक्ति सदा बातें बनाता है, वह काम करके नहीं दिखाता ।

(१४) बुधारू गाय की लात भी सही जाती है—जिस व्यक्ति से हमें लाभ मिलता है, उसकी हमें अप्रिय बातें भी सहन करनी पड़ती हैं ।

(१५) कंगाली में आटा गीला—मुसीबत में और मुसीबत आ जाना ।

(१६) आगे नाथ न पीछे पगहा—जिसका कोई खबर लेने वाला न हो ।

(१७) आम के आम गुठलियों के दाम—किसी वस्तु से दुहरा लाभ प्राप्त होना ।

(१८) मुँह में राम बगल में छुरी—ऊपर से मीठी बातें करना परन्तु दिल में पाप छिपाये रखना ।

(१९) नौ नकद न तेरह उधार—उधार दिये माल से मिलने वाले अधिक लाभ की अपेक्षा नकद बिक्री से प्राप्त कम लाभ अच्छा है ।

(२०) धोबी का कुत्ता न घर का न घाट का—कहीं का न रहना ।

(२१) **दूध का जला छाछ को फूंक-फूंक कर पीता है**—एक बार जीवन में धोखा खा जाने वाला व्यक्ति आगामी जीवन में सँभल-सँभल कर चलता है।

(२२) **मन चंगा तो कठौती में गंगा**—जिसकी भावना अच्छी होती है उसे सर्वत्र अच्छाई ही दीखती है।

(२३) **रस्सी जल गई मगर ऐंठ न गई**—बुरी तरह से तबाह हो जाने पर भी गर्व न छोड़ना।

(२४) **सिर मुड़ाते ही ओले पड़ना**—काम शुरू करते ही मुसीबतें खड़ी हो जाना।

(२५) **सावन सूखा न भादों हरा**—सदा एकसा ही रहना।

प्रश्न ३८—निम्नलिखित मुहावरों का अर्थ बताइए।

उत्तर—(१) अँगूठा दिखाना—पूरी तरह से मना कर देना।

(२) **अक्ल के पीछे लट्ठ लिये फिरना**—बेवकूफी के कार्य करना।

(३) **अपने मुँह मिया मिट्ठू बनना**—अपनी तारीफ खुद करना।

(४) **आँखें दिखाना**—क्रोध करना।

(५) **आँखों का तारा**—बहुत अधिक प्यारा होना।

(६) **आग बबूला होना**—जोर का गुस्सा करना।

(७) **आसमान से बातें करना**—बहुत गर्व करना या बहुत तेजी से भागना।

(८) **ईद का चाँद होना**—बहुत समय बाद भेंट होना।

(९) **उल्टी गंगा बहाना**—होते हुए कार्य के विपरीत आचरण करना।

(१०) **उल्लू सीधा करना**—अपना स्वार्थ सिद्ध करना।

(११) **कलेजे पर पत्थर रखना**—असह्य दुख का झेलना।

(१२) **कान काटना**—हरा देना।

(१३) **कान भरना**—किसी की बुराई करना।

(१४) **कार्य तमाम करना**—जान से मार डालना।

(१५) **खून खौलना**—अत्यधिक जोश आना।

(१६) **गढ़े मुर्दे उखाड़ना**—बीती हुई बातों को पुनः ताजा करना।

(१७) **घाव पर नमक छिड़कना**—दुःखी व्यक्ति को और अधिक दुःख पहुँचाना।

(१८) **घी के दिये जलाना**—बहुत प्रसन्न होना।

(१९) चिकना घड़ा होना—बहुत ही बेशर्म होना।

(२०) छक्के छूटना—हिम्मत टूट जाना।

(२१) छक्के छुड़ाना—लोगों को आतंकित कर देना।

(२२) छठी का दूध याद आना—जन्मोत्सव का सब खाया-पिया बराबर हो जाना।

(२३) जान हथेली पर रखना—जीवन खतरे में डालना।

(२४) जी चुराना—किसी काम को करने से दूर भागना।

(२५) तिल का ताड़ बनाना—किसी बात को बहुत बढ़ा-चढ़ा कर कहना।

(२६) दाँतों तले उँगली दबाना—बहुत आश्चर्य करना।

(२७) दाँत खट्टे करना—बुरी तरह हरा देना।

(२८) बाल में काला होना—सन्देह होना।

(२९) नमक मिर्च लगाना—छोटी-सी बात को बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत करना।

(३०) नाकों चने चबाना—बेहद परेशान करना।

(३१) नौ दो ग्यारह होना—भाग जाना।

(३२) फूंक-फूंक कर कदम रखना—सँभल कर आगे बढ़ाना।

(३३) बगलें झाँकना—शर्म से झुक जाना।

(३४) भीगी बिल्ली बनना—डरपोक होना।

(३५) मन के लड्डू फोड़ना—मन मे किसी सुखद कल्पना से आनन्दित होना।

(३६) मुँह की खाना—बुरी हार देना।

(३७) मुँह में पानी भरना—मन मे लालच आना।

(३८) रंग में भंग करना—सुख के अवसर पर दु.ख का टूट पड़ना।

(३९) श्रीगणेश करना—कोई कार्य आरम्भ करना।

(४०) हक्का-बक्का होना—आश्चर्यचकित हो जाना, निर्वाक् हो जाना।

(४१) हाथ धोकर पीछे पड़ना—बुरी तरह से किसी को परेशान करना।

(४२) हाथ-पाँव फूलना—परेशान होकर कोई काम न कर पा सकना।

(४३) भागीरथी प्रयत्न करना—कठिन परिश्रम करना।

(४४) द्रोपदी का चीर होना—किसी कार्य का अन्त ही न होना।

(४५) अंगद का पैर होना—किसी के टाले भी न टलना।

प्रश्न ३९—निम्नलिखित शब्दों में से किन्हीं पाँच-पाँच पर्यायवाची शब्द लिखो।

उत्तर—पर्यायवाची का अर्थ होता है—एक से ही अर्थ वाले शब्द।

(१) **अग्नि**—आग, वन्हि, अनल, पावक हुताशन।
(२) **अमृत**—पीयूष, सोम, अमी, सुधा, अमिय।
(३) **अश्व**—हय, घोटक, घोड़ा, तुरंग, सैन्धव।
(४) **असुर**—दानव, दैत्य, निशिचर राक्षस।
(५) **आकाश**—व्योम, गगन, नभ, अम्बर, अन्तरिक्ष।
(६) **इन्द्र**—सुरपति, शचीपति, शक्र, महेन्द्र, देवेन्द्र।
(७) **कामदेव**—मन्मथ, मदन, अनंद, मनसिज, काम।
(८) **गंगा**—सुरसरि, भागीरथी, देवनदी, त्रिपथगा, जान्हवी।
(९) **चन्द्र**—हिमांशु, सुधांश, राकापति, सुधाकर, शशी।
(१०) **यमुना**—अर्कजा, तरणिजा, कालिंदी, कृष्णा रविसुता।
(११) **पानी**—नीर, अम्बु, वारि, पय।
(१२) **कमल**—नीरज, अम्बुज, वारिज, जलज, सरोज।
(१३) **मेघ**—नीरद, अम्बुद, वारिद, जलद, पयोद।
(१४) **समुद्र**—नीरधि, अम्बुधि, वारिधि, जलधि, पयोधि।

नोट—पानी के पर्यायवाची शब्दों में 'ज' जोड़ देने से कमल का अर्थ निकल आता है। इसी प्रकार 'द' जोड़ देने से बादल या मेघ का अर्थ तथा 'धि' जोड़ देने से समुद्र का अर्थ निकल आता है।

(१५) **तालाब**—सर, सरोवर, जलाशय, तड़ाग; सरसी।
(१६) **दिन**—दिवस, वासर, दिवा, अहः, अहन।
(१७) **देवता**—सुर, देव, अमर, आदित्य विबुध।
(१८) **नदी**—सरिता, नद, तटिनी, निर्झरिणी, तरंगिणी।
(१९) **पर्वत**—भूधर, गिरि, भूमिधर, महीधर, नग।
(२०) **पवन**—वायु, मरुत, समीर, वात, अनिल।
(२१) **पृथ्वी**—भू, भूमि, मही, धरा, पृथ्वी।
(२२) **फूल**—सुमन, कुसुम, प्रसून, पुष्प, लतान्त।
(२३) **राजा**—भूपति, महीपति, भूप, महीप, नरेन्द्र।
(२४) **रात**—निशा, रैन, रजनी, कादम्बरी, रात्रि।
(२५) **लक्ष्मी**—कमल, समुद्रजा, श्री, पद्मा, हरिप्रिया।

(२६) सूर्य—रवि, दिनकर, दिवाकर, आर्क, भानु ।
(२७) सोना—स्वर्ण, कंचन, हिरण्य, हाटक ।
(२८) हाथी—गज वारण, सिन्धुर, कुरजर, नाग, हस्ती ।
(२९) बाण—शर, विशिख, शिलीमुख, नाराच, आयुध ।
(३०) विष्णु—अच्युत, जनार्दन, विश्वम्भर, हृषीकेश, चतुर्भुज ।

प्रश्न ४०—निम्नलिखित शब्दों के विलोम या विपरीतार्थक शब्द लिखिए

विलोम या विपरीतार्थक शब्द

उत्तर—

(१) भिन्न शब्द द्वारा :

शब्द	विलोम
अमृत	विष
उदय	अस्त
अवनति	उन्नति
दुर्जन	सज्जन
उच्च	निम्न
उत्थान	पतन
निष्ठ	कनिष्ठ
आकाश	पाताल
पण्डित	मूर्ख
प्राचीन	नवीन
स्थूल	सूक्ष्म
पाश्चात्य	पौर्वात्य
स्वार्थ	परार्थ, परमार्थ
गुण	दोष
जीवन	मरण
अथ	इति
स्तुति	निन्दा
नीरस	सरस

(२) उपसर्ग द्वारा :

शब्द	विलोम
आशा	निराशा

धनी	निर्धन
क्रय	विक्रय
विवाद	निर्विवाद
राम	विराम
घात	प्रतिघात
लोक	परलोक
जय	पराजय
मान	अपमान
यश	अपयश

(३) उपसर्ग परिवर्तन द्वारा :

शब्द	विलोम
अनुकूल	प्रतिकूल
अनुराग	विराग
आकर्षक	विकर्षक
उपकार	अपकार
सधवा	विधवा
सुगन्ध	दुर्गन्ध
सुमति	कुमति

(४) 'अ' अथवा 'अन्' के जोड़ने से :

शब्द	विलोम
आचार	अनाचार
आदि	अनादि
ईश	अनीश
उत्तीर्ण	अनुत्तीर्ण
एक	अनेक
ज्ञान	अज्ञान
न्याय	अन्याय
मंगल	अमंगल
शान्ति	अशान्ति

सफल	असफल
सम्मान	असम्मान
उचित	अनुचित

(५) लिंग परिवर्तन द्वारा :

शब्द	विलोम
नर	नारी
चाचा	चाची
राजा	रानी
बालक	बालिका

प्रश्न (४१)—नीचे लिखे अनेक शब्दों के लिए एक-एक शब्द लिखिये।

उत्तर—

(१) स्वयं लिखी जीवनी। (आत्म-कथा)
(२) जिस बात को हम कह न सकें। (अकथ्य)
(३) किसी कही हुई बात को बार-बार कहना। (पुनरुक्ति, पुनर्कथन)
(४) जिसकी तुलना न की जा सके। (अतुलनीय)
(५) जिसके आने की कोई तिथि या समय न हो। (अतिथि)
(६) जो ईश्वर में विश्वास रखता हो। (नास्तिक)
(७) जो ईश्वर में विश्वास न रखता हो। (आस्तिक)
(८) जिसका कोई मूल्य न चुकाया जा सके। (अमूल्य)
(९) जो दूसरों के हृदय की बात जानता हो। (अन्तर्यामी)
(१०) जो किए हुए उपकार को माने। (कृतज्ञ)
(११) जो किए हुए उपकार को न माने। (कृतघ्न)
(१२) पूर्वजों से प्राप्त हुई सम्पत्ति। (पैतृक)
(१३) गोद लिया हुआ पुत्र। (दत्तक)
(१४) बिना वेतन पाने वाला पद। (अवैतनिक)
(१५) जो अनेक भाषाओं का ज्ञाता हो। (बहु भाषा-भाषी)
(१६) परीक्षा मे बैठने वाला छात्र। (परीक्षार्थी)
(१७) अपने मन की बात करने वाला। (निरंकुश)
(१८) निर्णय देने में जो किसी का भी पक्ष न ले। (निष्पक्ष)
(१९) किसी नौकरी आदि के लिए प्रार्थना करने वाला। (प्रार्थी)

(२०) अपने से बड़े अधिकारी के समक्ष अपनी बात रखने वाला। (निवेदक)

(२१) जिसके पति का देहान्त हो गया हो। (विधवा)

(२२) जो आचारवान हो। (सदाचार)

(२३) पति-पत्नी का जोड़ा। (दम्पति)

प्रश्न ४२—कुछ अनेकार्थक शब्दों को लिखिए।

उत्तर—प्रत्येक भाषा में ऐसे बहुत-से शब्द होते हैं, जिनके एक से अधिक अर्थ निकलते हैं। इन्हीं शब्द को हम अनेकार्थक या नानार्थक शब्द पुकारते हैं। इनका अर्थ प्रसंगानुसार लगाया जाता है।

अंक—चिह्न, संख्या, नाटक के अंक, गोद आदि।

अर्क—सूर्य, अकौआ का पौधा, औषधियों का रस आदि।

अक्ष—रथ की धुरी, आँख, रावण का पुत्र आदि।

अज—दशरथ के पिता, ब्रह्मा, बकरा आदि।

अम्बर—आकाश, वस्त्र आदि।

कनक—सोना, धतूरा, गेहूँ आदि।

काल—समय, मुहूर्त, मृत्यु आदि।

गुरु—बड़ा, भारी, श्रेष्ठ मन्त्र देने वाला आचार्य, माता-पिता आदि पूज्य, बृहस्पति, दो मात्रा वाला स्वर आदि।

गौ—गाय, बैल, पृथ्वी, इन्द्रिय, दिक्, वाणी आदि।

जलज—मोती, मछली, शंख, सिवार, कमल आदि।

ज्येष्ठ—बड़ा, पति का बड़ा भाई, श्रेष्ठ, हिन्दुओं का महीना आदि।

पक्ष—पंख, तरफ, पन्द्रह दिन का समय आदि।

पय—दूध, पानी, आदि।

पयोधन—स्तन, बादल, सार आदि।

रस—जल, आनन्द, सार आदि।

वन—जंगल, पानी आदि।

वर्ण—रंग, अक्षर, जातियाँ आदि।

विहंगम—सूर्य, बादल, बाण, चन्द्र पक्षी आदि।

सारंग—मोर, सर्प, मेघ, हरिण, पपीहा, पानी, कोयल, धनुष, कामदेवय आदि।

हरि—इन्द्र, सूर्य चन्द्र, विष्णु, सिंह, घोड़ा आदि।

पत्र-लेखन

अपनी बात एवं अपने घर के समाचारों को दूसरों तक पहुँचाने का माध्यम पत्र ही है। अतः दैनिक व्यवहार में पत्र-लेखन का बड़ा महत्व है। अपने परिवारीजनों को, अधिकारी वर्ग को एवं सरकारी कार्यालयों को अपना विचार बताने के लिए या अपनी बात उन तक पहुँचने के लिए हमें पत्रों का ही सहारा लेना पड़ता है। पत्रों के इस महत्व को देखकर ही हमें अपने व्यवहारिक जीवन में सफल होने के लिए पत्र-लेखन-प्रणाली का ज्ञान होना आवश्यक है।

प्रत्येक युग में जब से मानव ने लिखना सीखा है, पत्रों का महत्व बढ़ता ही चला गया है। सभ्यता के विकास के साथ पत्र-लेखन-प्रणाली में भी विकास हुआ है। वर्तमान युग में पत्र-लेखन की प्रणाली काफी विकसित हुई है। आज-कल जो पत्रों का आदान-प्रदान होता है, वे चार प्रकार के होते हैं—

(१) निजी पत्र।

(२) व्यापारिक पत्र।

(३) सरकारी पत्र।

(४) प्रार्थना-पत्र।

(१) निजी पत्र—इस प्रकार के पत्र घरेलू या व्यक्तिगत पत्र भी कहे जाते हैं। इस प्रकार के पत्रों में अपनी व्यक्तिगत घरेलू बातों को लिखा करते हैं। घर की समस्याओं एवं बातों का स्पष्ट रूप से इसमें उल्लेख किया जाता है।

पत्र के दाईं ओर ऊपर के कोने में सर्वप्रथम भेजने वाले के स्थान का उल्लेख रहता है, फिर उसके ठीक नीचे भेजने की तिथि या दिनांक डाला जाता है।

इसके पश्चात् नीचे बाईं ओर जिसको पत्र भेजा जा रहा है, उसके लिए अभिवादन या आशीर्वचन सूचक शब्दों का प्रयोग किया जाता है। अपने से उम्र, विद्या या पद आदि में बड़े व्यक्ति को पूजनीय, पूज्य, आदरणीय, श्रद्धे

आदि शब्दों का प्रयोग करना चाहिए। अपने से बराबर वालों को प्रिय मित्र, प्रियबन्धु या उसका नाम आदि का उल्लेख किया जाना चाहिए, तथा अपने से छोटों को स्नेह सूचक शब्दों का; यथा—प्रिय, चिरंजीव आदि शब्दों का प्रयोग करना चाहिए।

इसके पश्चात् नीचे की पंक्ति में बड़ों को सादर प्रणाम, चरण स्पर्श आदि समान उम्र वालों को नमस्कार, नमस्ते आदि एवं छोटी उम्र वालों को आशीष, आशीर्वचन आदि का प्रयोग करना चाहिए।

अगली पंक्तियों को नये अनुच्छेद (पैराग्राफ) से प्रारम्भ कर उनमें मुख्य समाचार या सूचना या उत्तर देना चाहिए।

अन्त में पत्र समाप्ति पर पत्र के दाएँ भाग में अपने से बड़ों के पत्रों में 'आपका आज्ञाकारी', 'आपका कृपाकांक्षी', 'आपका सेवक' आदि शब्दों को लिखना चाहिए, उसके नीचे उसका नाम लिखना चाहिए। समान आयु वालों के लिए नीचे के हिस्से में तुम्हारा अभिन्न, परम मित्र आदि शब्दों को लिखना चाहिए, तथा अपने से छोटे को 'तुम्हारा हितैषी' 'शुभेच्छु' आदि शब्दों का प्रयोग करना चाहिए।

(२) **व्यापारिक पत्र**—जिन पत्रों के द्वारा व्यापार में लेन-देन किया जाता है वे पत्र व्यापारिक पत्र कहलाते हैं। व्यापारिक पत्रों के ऊपर के हिस्से में व्यापारिक कम्पनी का नाम एवं पता होता है उसके नीचे दिनांक फिर बाईं ओर जिस फर्म या व्यापारी को पत्र लिखा जाता है उसका नाम व पता होता है। इसके पश्चात् 'विषय'। विषय के विवरण के पश्चात् पत्र समाप्ति पर नीचे 'भवदीय' लिखकर प्रेषक का नाम लिखा रहता है।

इस प्रकार के पत्रों का केवल व्यापारी वर्ग के लिए ही महत्व है, साधारण व्यक्तियों के लिए नहीं।

(३) **सरकारी पत्र**—जो पत्र सरकारी कार्यालय में भेजे जाते हैं उन्हें हम सरकारी पत्र कहते है। इस प्रकार के पत्रों में भाषा नपा-तुली होनी चाहिए, साथ ही केवल काम की उपयोगी बातों का ही संक्षेप में उल्लेख होना चाहिए। सरकारी अधिकारी को पद के अनुसार सम्बोधित करना चाहिए। नाम से नहीं।

सम्बोधित करने के पश्चात् अपनी बात को बहुत ही नपी-तुली एवं शिष्ट भाषा में लिखना चाहिए। पत्र की समाप्ति पर दाईं ओर भवदीय, प्रार्थी आदि लिखना चाहिए। यदि प्रेषक उसी अधिकारी के अधीन कार्य करता है,

तो उसे नीचे 'आज्ञाकारी' लिखना चाहिए, तत्पश्चात् अपना नाम एवं पता देना चाहिए।

पत्र के प्रारम्भ में तिथि डालना नहीं भूलना चाहिए।

(४) प्रार्थना पत्र—आज के युग में नौकरी की बड़ी समस्या है। अधिकांश व्यक्ति पढ़-लिख चुकने के पश्चात् नौकरी की तलाश में निकलते हैं। नौकरी से सम्बन्धित जो भी पत्र लिखा जाता है, वह प्रार्थना-पत्र या आवेदन पत्र कहलाता है। नौकरियों, अतिरिक्त छुट्टी आदि लेने, रेल में संरक्षण प्राप्त करने तथा अन्य किसी प्रकार की रियायत पाने के लिए प्रार्थना-पत्र ही दिये जाते हैं।

इसी प्रकार पत्रों में सर्वप्रथम प्रार्थना-पत्र प्राप्त करने वाले अधिकारी को उसके पद से सम्बोधित करना चाहिए; यथा—'श्रीमान् व्यवस्थापक जी या श्रीमान् अध्यक्ष जी' आदि। इसके पश्चात् यदि कोई विज्ञप्ति निकली है, तो उसका विवरण देते हुए, साथ ही प्रार्थी जिस पद हेतु प्रार्थना-पत्र दे रहा हो उसका उल्लेख करना चाहिए। इसके पश्चात् उसे एक अलग शीर्षक से अपनी योग्यताओं का क्रमशः उल्लेख करना चाहिए, तत्पश्चात् आयु आदि का वर्णन कर अन्त में पत्र के दाईं ओर 'प्रार्थी' या 'आज्ञाकारी' लिखकर उसके नीचे अपना नाम और पता लिखना चाहिए। सबसे नीचे प्रार्थना-पत्र देने की तिथि देनी चाहिए—

पत्र लिखते समय निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना चाहिए—

(१) पत्र की भाषा सरल एवं स्पष्ट होनी चाहिए।

(२) पत्र जमाकर एवं स्वच्छ रूप में लिखना चाहिए।

(३) पत्र में व्यर्थ की बातें नहीं होनी चाहिए; उसकी विषय-सामग्री व्यवस्थित एवं पूर्ण होनी चाहिए।

(४) पत्र में शिष्ट एवं संयत भाषा का प्रयोग करना चाहिए, अशिष्ट एवं कड़े शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

(५) पत्र एकान्त में एवं शान्त मन से लिखना चाहिए।

निबन्ध-रचना

परिभाषा—गद्य-रचना का वह प्रकार जिसमें लेखक किसी विषय पर सरल एवं सुबोध शैली में व्यवस्थित ढंग से अपने विचार प्रकट करता है, निबन्ध कहलाता है। इस प्रकार निबन्ध मे दो बातों का मख्य स्थान होता है—विषय-सामग्री एवं भाषा-शैली।

विषय-सामग्री—जिस विषय पर निबन्ध-रचना करनी हो, उस विषय से सम्बन्धित सभी सामग्री को पहले सोचकर नोट करलेना चाहिए। इस विषय-सामग्री को एकत्र करने के लिए लेखक में अध्ययनशीलता, सूक्ष्मदर्शिता आदि गुण होने चाहिए। इन्हीं गुणों के बल पर वह निबन्ध की विषय-सामग्री को सरलता से चुन सकता है।

भाषा शैली—चुनी हुई विषय-सामग्री को सरल एवं सुबोध भाषा में ही व्यक्त करना भाषा-शैली कहलाती है। निबन्धों की भाषा जहाँ विषयानुसार सरल एवं सुबोध बतलायी गयी है, वहाँ निबन्धों का प्रधान गुण समास-शैली अर्थात् थोड़े में बहुत कहना भी बतलाया गया है। साथ ही विषय की अभिव्यक्ति सुसम्बद्ध एवं तरतीब-वार होनी चाहिए। निबन्ध के प्रत्येक अंगों का परस्पर सम्बद्ध होना चाहिए।

निबन्ध के रूप—निबन्ध को भली प्रकार लिखने के लिए उसके अंगों का जानना भी आवश्यक होता है, अर्थात् सफल निबन्ध के लिए उसमें प्रस्तावना, मध्य और उपसंहार—ये तीनों अंग होने चाहिए।

प्रस्तावना—इसी को कुछ लोग भूमिका भी कहते हैं। यह निबन्ध का प्रारम्भिक भाग होता है। इसमें लेखक को निबन्ध का संक्षिप्त-सा परिचय देना चाहिए, साथ ही वह परिचय प्रभावोत्पादक एवं आकर्षक होना चाहिए, ताकि पाठक का मन उसे शीघ्र ही पढ़ डालने के लिए उत्सुक हो जावे।

इस भाग में उद्धरणों या किसी कवि आदि के प्रसिद्ध कथनों का भली-प्रकार से प्रयोग करना चाहिए। भूमिका या प्रस्तावना का आकार कम ही होना चाहिए, क्योंकि बड़ी प्रस्तावना से पाठक के मन में कोई उत्सुकता नहीं रह जाती है, और उसका मन ऊबने लगता है। फलतः निबन्ध-रचना का लक्ष्य ही भ्रष्ट हो जाता है।

मध्य भाग—यही भाग सर्वाधिक महत्वपूर्ण होता है। मुख्य विषय का सविस्तार वर्णन इसी कोटि के अन्दर किया जाता है। विषय का प्रतिपादन करने से पूर्व विषय की एक संक्षिप्त रूपरेखा भी अलग बना लेनी चाहिए, और रूपरेखा में जितने भी संकेत-चिह्न आवें, उन पर क्रमशः अलग-अलग अनुच्छेदों में विचार व्यक्त करते चलना चाहिए। विभिन्न प्रकार के विचारों को विभिन्न अनुच्छेदों में व्यक्त करना चाहिए। साथ ही इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि सभी विचार एक ही कड़ी के रूप में प्रस्तुत हो जावें, उनमें विलगाव एवं विच्छिन्नता न होवे। आवश्यकता से अधिक विस्तार भी नहीं देना चाहिए परन्तु जो बात कही जावे, पूर्ण स्पष्ट एवं सुबोध होनी चाहिए। विचारों को अधिक स्पष्टता एवं सुबोधता देने के लिए दृष्टान्त प्रमाण आदि को सरलता से प्रस्तुत किया जा सकता है।

उपसंहार—जिस प्रकार प्रस्तावना में विषय का परिचय देकर उसे समझाया जाता है, उसी प्रकार उपसंहार में विषय को सार के रूप में संक्षेप में प्रस्तुत किया जाता है। इस भाग का सबसे महत्वपूर्ण कार्य तो यह है कि जिस विषय पर निबन्ध लिखा गया है, वह विषय अपने आप में स्पष्ट हुआ या नहीं। इस अंश में अपेक्षाकृत अन्य अंशों के लेखक को समास शैली का अधिक प्रयोग करना पड़ता है। विषय की विषद् व्याख्या के पश्चात् लेखक को अपना स्वतन्त्र मत भी व्यक्त करना चाहिए।

निबन्धों के प्रकार—मुख्य रूप से निबन्ध चार प्रकार के होते हैं—

(१) वर्णनात्मक।
(२) विवरणात्मक।
(३) विवेचनात्मक।
(४) आलोचनात्मक।

(१) **वर्णनात्मक**—जिन निबन्धों के अन्तर्गत किसी देखी हुई वस्तु या दृश्य का वर्णन होता है, उन्हें हम वर्णनात्मक निबन्ध कहते हैं; यथा—यात्रा, पर्व, मेला, नदी, पर्वत, समुद्र पशु-पक्षी, ग्राम, साइकिल, रेल, स्टेशन का वर्णन।

(२) **विवरणात्मक**—इसका दूसरा नाम चरित्रात्मक भी होता है। इस प्रकार निबन्धों में ऐतिहासिक घटनाओं ऐतिहासिक यात्राओं तथा महान् पुरुषों की जीवनियों एवं आत्म-कथा आदि का वर्णन होता है।

(३) **विवेचनात्मक**—इसका दूसरा नाम विचारात्मक भी है। इन निबन्धों

में विचारों की प्रधानता होती है। इसलिए ये विचारात्मक या विवेचनात्मक निबन्ध कहलाते हैं। इन लेखों में प्रायः अमूर्त्त विषयो या भावनात्मक विषयों पर लेखनी चलाई जाती है। इनमें सम्बन्धित विषयों के गुण एवं दोषों का विवेचन किया जाता है, यथा—क्रोध, करुणा, श्रद्धा, भक्ति, अहिंसा, बेकारी सत्संगति, परोपकार आदि विषयों पर लिखे गये निबन्ध इसी कोटि में आते है।

(४) **आलोचनात्मक**—इस प्रकार के निबन्धों का सम्बन्ध खण्डन-मण्डन या तर्क-वितर्क-प्रणाली पर आधारित होता है। इन निबन्धों के अन्तर्गत सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं साहित्यिक सभी प्रकार के निबन्ध आते है, जिनमें विषय से सम्बन्धित पक्ष एवं विपक्ष में तर्क प्रस्तुत किये जाते है।

प्रमुख निबन्ध

१. दीपावली

रूपरेखा :

(१) हिन्दू त्यौहारों में दीपावली का स्थान।
(२) दीपावली मनाने के कारण।
(३) दीपावली मनाने का ढंग।
(४) दीपावली के लाभ।
(५) जुए की कुप्रथा।
(६) उपसंहार।

हिन्दुओं के चार प्रमुख त्यौहार माने गये हैं—रक्षाबन्धन, दशहरा दीपावली और होली। ये क्रमशः ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों एवं शूद्रों के माने जाते थे, परन्तु अब चारों त्यौहारों को प्रत्येक हिन्दू मानता है। इन चारों पर्वों में दीपावली का प्रमुख स्थान है। यह पर्व कार्तिक मास की अमावस्या को मनाया जाता है। यह बहुत प्राचीनकाल से ही प्रमुख त्यौहार माना जाता रहा है।

इस पर्व के मनाने के बहुत-से कारण है। इनमें से सबसे पहला कारण तो यह बताया जाता है कि इसी दिन भगवान् श्री रामचन्द्र जी चौदह वर्ष का वनवास बिताकर तथा लंका की विजय के पश्चात् अयोध्या नगरी लौटे थे। उस समय अयोध्यावासियों ने भगवान् राम का स्वागत करने के लिए एक बड़ा उत्सव मनाया था और अपने-अपने घरों को दीप जलाकर सजाया था।

चूंकि दीपों की एक पंक्ति या अवली में सजाकर जलाया गया, अतः यह पर्व दीपावली कहलाया। इसी पर्व की पुनरावृत्ति प्रति वर्ष हमारे समाज में होती रहती है। कुछ लोग इस पर्व को मनाने का कारण यह भी बताते हैं कि इस दिन जैन धर्म के चौबीसवें तीर्थंकर स्वामी महावीरजी को मोक्ष प्राप्त हुआ था। इसी दिन आर्य समाज के संस्थापक दयानन्द सरस्वती को भी मोक्ष प्राप्त हुआ था। फलतः इन्हीं महान् पुरुषों की स्मृति में यह पर्व मनाया जाता है।

इस पर्व के मनाने के लिए हिन्दू लोग इनसे तैयारियां शुरू कर देते हैं। इसी पर्व के बहाने मकान के प्रत्येक कोने, दीवारों, किवाड़ों, चौखटों आदि की भली प्रकार रंगाई, सफाई एवं पुताई हो जाती है। प्रत्येक अमीर या गरीब व्यक्ति अपने प्राप्त साधनों के अनुसार अपने-अपने घरों की सफाई करता है। इस पर्व पर बाजारों में भी विशेष सजावट होती है। जगह-जगह रोशनी का प्रबन्ध होता है। यह पर्व कार्तिक महीने की कृष्णपक्ष की त्रयोदशी से प्रारम्भ होकर शुक्ल पक्ष की द्वितीया तक लगातार पांच दिन तक मनाया जाता है। त्रयोदशी का दिन कुबेर पूजा का दिन माना जाता है, इसी को धनतेरस भी कहते हैं। इसी दिन लोग नये बर्तन खरीदना शुभ समझते हैं। चतुर्दशी छोटी दीवाली कहलाता है। इसी दिन से प्रत्येक घर पर आटे का चार मुंह वाला दीपक जलाया जाता है। अमावस्या को बड़ी दीपावली होती है। यही प्रमुख पर्व होता है। इस दिन घर का प्रत्येक भाग दीपकों की रोशनी से जगमगाया जाता है। स्थान-स्थान पर बिजली के लट्टू, मोमबत्ती या तेल के दीपक जलाये जाते हैं; इसी दिन रात्रि को लक्ष्मी की पूजा होती है। व्यापारी नये खाते बनाते हैं। रात्रि के समय पटाखे एवं फुलझड़ियां जलायी जाती हैं। घरों में पकवान बनते हैं। खील, बताशे एवं मिठाई मँगाई जाती हैं। अगला दिन पड़वा का होता है। इस दिन गोवर्द्धन की पूजा की जाती है एवं परिक्रमा दी जाती है। द्वितीया के दिन बहनें अपने भाइयों का टीका करती हैं और यह पर्व भइया-दूज के नाम से जाना जाता है।

इस प्रकार दीपावली का यह रंगीन पर्व लगातार पांच दिन तक मनाया जाता रहता है। इस पर्व से हमें अनेकानेक लाभ होते हैं। वर्षा ऋतु में जो विषैले कीटाणु उत्पन्न हो जाते हैं वे दीपक की लौ से नष्ट हो जाते हैं, साथ ही जलवायु भी शुद्ध हो जाती है। इसी पर्व के बहाने वर्ष में एक बार घरों एवं दुकानों की अच्छी सफाई हो जाती है और मकान की गन्दगी बाहर

निकल जाती है। छोटी-छोटी टूट-फूट की मरम्मत हो जाती है। अमावस्या के घोर अन्धकार मे जलते हुए दीपक बहुत सुन्दर दिखाई देते हैं। इसी दिन मनुष्य भिन्न-भिन्न प्रकार के मनोरंजन के साधन जुटाया करते है। कुल मिलाकर यह पर्व बड़ा ही लाभदायक एवं स्वास्थ्यदायक होता है।

दीपावली से जहाँ अनेकानेक लाभ है, वहाँ उसमें कुछ दोष भी हैं। इस पर्व पर अधिकांश व्यक्ति जुए के शौक मे पड़ जाते हैं। इससे देश एवं समाज का बड़ा अहित होता है। लाखों करोड़ों व्यक्ति जुआ खेलते है और इस बुरी लत से हमेशा ही तंग रहा करते है। जुआ का शौक लगने से उस व्यक्ति में और भी बहुत-सी बुराइयाँ आ जाती है जिसके परिणामस्वरूप कितने ही परिवार बर्बाद हो जाते हैं। दुर्भाग्य की बात यह है कि यह शौक दिन पर दिन बढ़ता ही जाता है। कभी-कभी पटाखों एवं फुलझड़ियों आदि से मकानों में आग भी लग जाती है जिससे बहुत नुकसान होता है।

संक्षेप में, यह पर्व बहुत अच्छा है। इसे बड़ी सजधज से मनाया जाना चाहिए परन्तु इसमें जो दोष आ गये है उन्हे दूर करना चाहिए। जुए का सामाजिक स्तर पर विरोध करना चाहिए। सरकार तो इसके विरुद्ध कड़े कदम उठा ही रही है। इस पर्व पर अच्छे स्तर की प्रदर्शनियों एवं गोष्ठियों का आयोजन किया जाना चाहिए।

२. मानव-जीवन में अनुशासन का महत्व

अथवा

अनुशासित जीवन ही जीवन है

रूपरेखा

(१) अनुशासन का शाब्दिक अर्थ एवं जीवन में उसका महत्व।
(२) अनुशासन से लाभ।
(३) अनुशासन के साधन।
(४) अनुशासन एवं वर्तमान युग।
(५) उपसंहार।

'अनुशासन' शब्द दो शब्दों—'अनु' तथा 'शासन' के योग से बना है जिसका अर्थ है शासन के पीछे चलना अर्थात् नियन्त्रण में रहना या नियमानुसार कोई कार्य करना। मानव-जीवन मे इस अनुशासन की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए हमें इसका प्रत्येक

पग पर पालन करना चाहिए। पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय सभी क्षेत्रों में इसकी नितान्त आवश्यकता होती है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र की सफलता का रहस्य अनुशासन मे ही छिपा हुआ है। घर हो या पाठशाला दफ्तर हो या सभा, सेना हो या व्यापार—सभी जगह इसकी आवश्यकता होती है। सेना मे तो अनुशासन बहुत ही कड़ा होता है। वहाँ अनुशासन में थोड़ी सी भी ढील सहन नही की जा सकती है। प्रत्येक समाज या राष्ट्र स्कूल या कार्यालय सभी की उन्नति अनुशासन से ही सम्भव होती है, बिना अनुशासन से इनका पतन हो जावेगा।

अनुशासन का मानव-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में बहुत बड़ा महत्व होने से इसके द्वारा हमे अनेक प्रकार के लाभ भी प्राप्त हुआ करते हैं। अनुशासन में रहने से मनुष्य का मानसिक, शारीरिक, सामाजिक आदि सभी प्रकार का विकास हुआ करता है। मानव-जीवन में सरसता, शान्ति एवं उन्नति प्रदान करने वाला यही गुण है। जितने भी राष्ट्र आज उन्नति के शिखर को चूम रहे हैं, वे केवल अनुशासन के बल पर ही। चाहे वह आर्थिक उन्नति हो, चाहे सामाजिक, सभी के लिए अनुशासन की नितान्त आवश्यकता होती है। इस गुण का निरन्तर अभ्यास करने से मनुष्य मे सत्यता, कर्त्तव्यनिष्ठा, ईमानदारी एवं वफादारी आदि गुणो का विकास हुआ करता है। सांसारिक उन्नति के साथ ही साथ तप, यम, नियम आदि कार्यों मे भी हमारे ऋषि-मुनियों ने इसी अनुशासन की महत्ता बतलायी है और इसी के बल पर वे अपनी आध्यात्मिक उन्नति को प्राप्त किया करते थे। इस गुण का पालन करने मे पहले तो व्यक्ति को कुछ कष्ट उठाना पड़ता है, परन्तु शनैः-शनैः उसे अभ्यास हो जाता है और फिर अनुशासन-विहीन जीवन उसे अच्छा ही नही लगता। जो व्यक्ति स्वयं अनुशासन में रहता रहा है, वही अनुशासन का महत्व जान सकता है। अतः भावी समाज को अनुशासन में बाँध रखने के लिए यह आवश्यक है कि वर्तमान पीढ़ी अनुशासन मे रहे।

वर्तमान युग मे जगह-जगह अनुशासनहीनता की बातें चलती हैं। वास्तविकता तो यह है कि दूसरों को उपदेश देना तो सरल होता है परन्तु स्वयं उसका पालन करना कठिन। यही कारण है कि समाज के अग्रणी लोग स्वयं इस रोग से पीड़ित हैं और जबतक उनमे से यह रोग नही निकल जाता, आने वाली पीढ़ी कैसे उनका कहना मान ले। छात्रो मे, कारखाने के मजदूरो,

में क्लर्कों आदि सभी में यह रोग अपनी जड़ जमाये हुए है। हमें समय रहते इसका इलाज करना चाहिए, अन्यथा समाज एवं देश के लिए यह प्रवृत्ति बड़ी ही घातक सिद्ध होगी।

समाज में अनुशासन के गुण को प्रोत्साहन देने वाले अनेक साधन है। उनमें सर्वप्रथम साधन तो लोगों मे शिक्षा को फैलाना है, क्योंकि शिक्षा के फैलने से ही लोगों में अनुशासन मे रहने की भावना आवेगी। वे अपने अधिकारों एवं कर्त्तव्यों को समझने लगेंगे। शिक्षा के अतिरिक्त खेलकूद और मंचों के द्वारा भी अनुशासन का विकास हो सकता है। छोटे-छोटे बालकों को अनुशासन में रहने के लिए पुरस्कृत करने से दूसरे छात्रों में इसका अच्छा प्रभाव पड़ता है। कभी-कभी भय, आज्ञापालन, देश-प्रेम एवं उत्तरदायित्व की भावना द्वारा भी मानवों में अनुशासन का विकास होता रहता है।

संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि मानव-जीवन की सर्वांगीण उन्नति के लिए अनुशासन की नितान्त आवश्यकता होती है। इतना ही नहीं, सभी प्रकार की उन्नति के लिए चाहे वह सामाजिक, आर्थिक या आध्यात्मिक हो, अनुशासन नामक गुण नितान्त आवश्यक है। 'अनुशासित जीवन ही जीवन है' इस उक्ति के अनुसार बिना अनुशासन मानव जीवन निकम्मा एवं थोथा हो जाता है। हमें सब प्रकार की उन्नति प्राप्त करने के लिए इस गुण का अधिकाधिक विकास करना चाहिए। अतः समाज के प्रत्येक व्यक्ति को इसका लगन से पालन करना चाहिए। अतः समाज के व्यक्ति अनुशासन में बँधकर कार्य करेंगे तो निश्चय ही वह समाज एवं राष्ट्र की उन्नति के शिखर को चूमने लगेगा। जिन विद्यालयों में अनुशासन बना रहता है, वहाँ के छात्रों का ही परीक्षाफल अच्छा देखा गया है। खेलकूद में भी ऐसे ही विद्यालय आगे रहते हैं। अतः हमें अपने विद्यालय, समाज एव राष्ट्र की उन्नति के लिए अपने जीवन में अनुशासन का पालन करना चाहिए। इससे न केवल समाज की ही उन्नति होगी अपितु हमारी अपनी भी उन्नति होगी।

३. स्वावलम्बन

अथवा

"स्वावलम्बन की एक झलक पर
न्यौछावर कुबेर का कोष।"

रूपरेखा :

(१) 'स्वावलम्बन' शब्द का अर्थ।

(२) स्वावलम्बन का मानव-जीवन में महत्व ।
(३) स्वावलम्बन से व्यक्तिगत, सामाजिक एवं राष्ट्रीय उन्नति ।
(४) स्वावलम्बन से आत्म-लोप ।
(५) हमें स्वावलम्बी होना चाहिए ।

'स्वावलम्बन' 'दो शब्दों 'स्व' तथा 'अवलम्बन' के मेल से बना है जिसका अर्थ है, अपना सहारा अर्थात् हमें जीवन में अपने ही सहारे रहना चाहिए, दूसरों के भरोसे नहीं रहना चाहिए, इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्य अपने काम स्वयं करने चाहिए, अपने कार्यों के लिए दूसरों का मुँह नहीं देखना चाहिए। स्वावलम्बन के ही पर्यायवाची शब्द हैं—परिश्रम, श्रम, परिश्रम, अपने पैरों पर खड़े होना आदि ।

मानव-जीवन में स्वावलम्बन का बड़ा महत्व है । स्वावलम्बी व्यक्ति ही जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपना आधिपत्य रखते हैं । उन्हें जीवन में इसी के बल पर यश, वैभव, सुख, सन्तोष सब कुछ मिला करता है । दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि मानव जीवन के निर्माण एवं इसे ऊँचा उठाने में स्वावलम्बन का ही हाथ है । परावलम्बी अर्थात् दूसरों के सहारे निर्भर रहने वाले व्यक्ति सभी प्रकार की सुख-सुविधाओं से रहित हो जाते हैं । उनमें स्वयं कार्य करने की क्षमता का लोप हो जाता है, और इस प्रकार वे, जीवन में न तो कोई यश प्राप्त कर पाते हैं, और न ही उनका जीवन सुखमय हुआ करता है । स्वावलम्बी व्यक्ति के मार्ग में यदि विघ्न, बाधाएँ या आपत्तियाँ आती हैं, तो वह दृढ़ता से उनका सामना करता है । उनसे डरकर भागता नहीं है। इसका परिणाम यह होता है कि जीवन में उन्हें प्रत्येक क्षेत्र में सफलता ही मिलती है । असफलता तो उनसे कोसों दूर रहती है । संस्कृति में स्वावलम्बी या उद्योग करने वाले पुरुष के विषय में कहा गया है—'उद्योगिन पुरुषसिंह-मुपैति लक्ष्मी' अर्थात् उद्योगी पुरुषसिंह ही लक्ष्मी को प्राप्त करता है । दूसरे शब्दों में, हम कह सकते हैं कि परिश्रम करने वाले अर्थात् स्वावलम्बी व्यक्ति ही जीवन में लक्ष्मी (सुख-वैभव) को प्राप्त किया करते हैं, परावलम्बी या दूसरों के भरोसे रहने वाले नहीं । अतः मानव-जीवन में स्वावलम्बी का महत्व स्वयं-सिद्ध है ।

जीवन, समाज तथा सभी को सर्वांगीण उन्नति के लिए स्वावलम्बन की बड़ी आवश्यकता होती है । अतः मानव-समुदाय का नाम ही समाज है,

और कई समाज मिलकर एक राष्ट्र का निर्माण किया करते है, अतः सम और राष्ट्र की उन्नति या प्रगति व्यक्तियों की प्रगति या उन्नति पर आधारि है, और व्यक्तियों की उन्नति का मूलमंत्र है, स्वावलम्बन और जब समाज के सभी व्यक्ति स्वावलम्बी हो जावेंगे, तो निश्चय ही वह समाज भी शीघ्र ही उन्नति कर जावेगा। इसी प्रकार जब समाजों की उन्नति होगी तो समाजों से बनने वाले देश की भी उन्नति स्वतः ही हो जावेगी। अतः व्यक्तिगत सामाजिक एवं राष्ट्रीय सभी प्रकार की प्रगति या उन्नति के लिए स्वावलम्बन नितान्त ही आवश्यक है। जिस देश के नागरिक स्वावलम्बी नहीं होंगे वह देश कब तक दूसरों की दया पर जीवित रह सकेगा। जर्मनी ने दो युद्ध अपनी छाती पर लड़े, जर्मनी तहस-नहस हो गया, परन्तु इतनी तबाही और बर्बादी के पश्चात् भी आज वह देश दुनिया के उन्नत देशों में गिना जाता है। यह सब इसलिए हो सका, क्योंकि वहाँ के लोगों में स्वावलम्बन की अपने पैरों पर खड़े होने की भावना थी। यही दशा जापान की है। विश्व का छोटा-सा वह देश अपनी स्वावलम्बी भावना के आधार पर संसार के उन्नत राष्ट्रों मे गिना जाता है। इसके विपरीत जो राष्ट्र दूसरों पर अन्न, रक्षा-सामग्री आदि बातों पर आश्रित रहते है, वे राष्ट्र अधिक दिनों तक अपनी स्वतन्त्रता को नहीं बचा सकते। अतः सभी प्रकार की उन्नति प्राप्त करने के लिए हमें जीवन में स्वावलम्बन का आश्रय लेना चाहिए।

'अपना काम स्वयं करो' इस वचन के अनुसार जो व्यक्ति अपने सब काम स्वयं किया करते है, वे शारीरिक एव मानसिक—दोनों दृष्टियो से स्वस्थ रहा करते है। हमें अपना काम स्वयं करने मे भी कभी लज्जा नही आनी चाहिए। अपना काम स्वयं करने से हमारे शरीर के अंग-प्रत्यंग हृष्ट-पुष्ट होते हैं और इस प्रकार हम बीमारियों से बचे रहते है। इसके साथ ही अपना काम स्वयं करने से व्यक्ति को आत्मतोष भी होता है। अतः हमें अपना स्वास्थ्य बनाये रखने के लिए तथा मानसिक सन्तुष्टि के लिए भी स्वावलम्बी होना चाहिए।

संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि स्वावलम्बन का जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है। स्वावलम्बी व्यक्ति ही समाज में यश एवं प्रतिष्ठा का भागी होता है। स्वावलम्बी व्यक्ति को सभी आदर की दृष्टि से देखते है। परावलम्बी व्यक्ति का समाज में कोई स्थान नहीं होता है, वह समाज एवं देश के लिए भार होता है। किसी कवि का यह कथन उचित ही है कि—

कर बहियाँ बल आपनी छोड़ बिरानी आस।
जाके आँगन है नदी सो कस मरै पियास॥

स्वावलम्बी व्यक्ति सभी प्रकार के सुख एवं वैभव को प्राप्त किया करता है। स्वावलम्बन ही मानव-चरित्र का भूषण है। स्वावलम्बन के इसी महत्त्व को व्यक्त करते हुए, राष्ट्रकवि स्वर्गीय मैथिलीशरण गुप्त उसकी एक झलक पर ही धन के स्वामी कुबेर महाराज का सम्पूर्ण खजाना लुटाने को तैयार हैं—

स्वावलम्बन की एक झलक पर।
न्योछावर कुबेर का कोष॥

अतः व्यक्तिगत, सामाजिक एवं राष्ट्रीय उन्नति के लिए प्रत्येक व्यक्ति को स्वावलम्बी होना चाहिए। हमें भी अपने जीवन में सदैव स्वावलम्बी ही बनना चाहिए, परावलम्बी नहीं। यदि हम स्वावलम्बी हो गये, तो निश्चय ही हमारा देश भी संसार के उन्नत राष्ट्रों की गिनती में आ जायेगा।

४. समाचार-पत्र और उनकी उपयोगिता

रूपरेखा :

(१) समाचार-पत्रों का जीवन।
(२) समाचार-पत्रों का इतिहास।
(३) समाचार-पत्रों से लाभ।
(४) समाचार-पत्रों से हानि।
(५) समाचार-पत्रों के प्रकार।
(६) हमारे देश में समाचार-पत्रों की स्थिति।

मनुष्य समाज का एक अभिन्न अंग है। समाज का अभिन्न अंग होने के कारण समाज की सब प्रकार की गतिविधियों से उसका परिचय होते रहना चाहिए और यह कार्य करते हैं, समाचार-पत्र। समाचार-पत्रों के माध्यम से समाज के व्यक्ति अपने विचारों का परस्पर रूप में आदान-प्रदान करते-रहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने समाज की घटनाओं से प्रतिक्षण परिचय प्राप्त करना चाहता है। आज का युग—विज्ञान का युग है, और इस युग में मानव का सम्बन्ध विश्व से जुड़ गया है। अतः अपने ही समाज की नहीं, अपितु वह तो विश्व की प्रत्येक घटना की जानकारी प्रतिक्षण करते रहना चाहता है, और उसकी इच्छा की पूर्ति करते हैं, समाचार-पत्र। अतः हम कह सकते हैं कि समाचार-पत्रों की वर्तमान युग में अत्यधिक उपयोगिता बढ़ गयी है। पढ़े लिखे

एवं जागरूक व्यक्तियों को बिस्तर पर उठते ही पहली खुराक समाचार-पत्रों से ही प्राप्त होती है।

समाचार पत्रों का यदि हम इतिहास जानना चाहें तो हमें ज्ञात होगा कि समाचार-पत्रों का इतिहास मुद्रणकला के इतिहास से जुड़ा हुआ है। इटली के वेनिस नगर में सोलहवीं शताब्दी के आस-पास प्रथम समाचार-पत्र का जन्म हुआ था। तब से लेकर जैसे-जैसे मुद्रण कला की उन्नति होती गयी, वैसे ही वैसे समाचार-पत्रों के प्रकाशन में भी उन्नति होती चली गयी। भारतवर्ष में अंग्रेजों के आगमन के पश्चात् ही इस क्षेत्र में शुरूआत हुई। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने समाचार-पत्र के रूप में सर्वप्रथम 'इण्डिया-गजट' प्रकाशित किया। इसके पश्चात् छुट-पुट प्रयास होते रहे। कुछ समय पश्चात् प्रसिद्ध समाज-सुधारक राजा राममोहन राय ने बंगला से 'कौमुदी' नामक पत्र निकाला और बाद में प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने 'प्रभाकर' नामक समाचार पत्र निकाला। इसके पश्चात् तो समाचार-पत्रों की बाढ़-सी आ गयी, और आज हमारे देश की प्रत्येक भाषा मे अनेक समाचार-पत्र विभिन्न रूपों में निकल रहे हैं।

समाचार-पत्र जहाँ एक-दूसरे के विचारों से हमें अवगत कराते है, उसके अतिरिक्त ये हमारी ज्ञान-वृद्धि के भी प्रमुख साधन है। समाचार-पत्रों के माध्यम से हमें राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, वैज्ञानिक आदि सभी प्रकार के ज्ञान प्राप्त हुआ करते हैं। विश्व के प्रत्येक घटना-चक्र का ज्ञान हमें बिस्तर से उठते ही घर बैठे समाचार-पत्रों के द्वारा प्राप्त हो जाता है। ज्ञान-वृद्धि के अतिरिक्त समाचार-पत्र विज्ञापन के भी उत्तम माध्यम माने जाते है। व्यापार की सफलता और असफलता का श्रेय इन समाचार-पत्रों को ही है। प्रत्येक सफल व्यापारी समाचार-पत्रों में विज्ञापन देकर अपने व्यापार को सफल बनाना चाहता है।

जनता की आवाज को सरकार तथा अधिकारियों तक तथा सरकार और अधिकारियों की बात को जनता तक समाचार-पत्रों के द्वारा पहुँचाया जाता है। नियोजकों को योग्य एवं कुशल नौकर तथा नौकरी खोजने वालों को उचित कार्य दिलाने में भी समाचार-पत्रों का बहुत योगदान है।

इसके अतिरिक्त समाचार-पत्रो के माध्यम से हमें स्वास्थ्य सम्बन्धी, कृषि सम्बन्धी आदि अनेक बातों की जानकारी होती रहती है। इधर कुछ समाचार

पत्रों में साहित्यिक पुट भी आने लगा है जिसके द्वारा हमें साहित्य की नयी बातों; यथा—कविता, कहानी, उपन्यास आलोचना, निबन्ध, रूपक आदि का परिचय मिलता रहता है। विभिन्न साहित्यकारों का जीवन-परिचय आदि भी हमें इन पत्रों द्वारा प्राप्त होता रहता है।

प्रत्येक वस्तु के दो पहलू हुआ करते हैं—एक अच्छा, दूसरा बुरा। जहाँ समाचार-पत्रों से अनेकानेक लाभ हैं वहाँ उनसे बहुत-सी हानियाँ भी हैं। कभी-कभी समाचार-पत्र कुछ निहित स्वार्थ वाले लोगों के हाथों में पड़कर समाज और देश से गद्दारी किया करते है। वे जनता की धार्मिक या जातिगत भावनाओं को उभाड़ कर समाज मे आतंक पैदा किया करते हैं। कभी-कभी अपना उल्लू सीधा करने के लिए सरकारी सूचनाओं को तोड़-मरोड़ कर गलत ढंग से प्रकाशित कर समाज में अशान्ति को बढ़ावा देते हैं और कभी-कभी किसी दबाव में आकर जनता की आवाज को बजाय उठाने के दबा दिया करते हैं। ये स्थितियाँ निश्चय ही समाज का बड़ा ही अहित करने वाली होती है। इसी प्रकार अश्लील चित्रों और जनता को गुमराह करने वाले विज्ञापनों से भी समाचार-पत्र समाज का बड़ा अहित किया करते है। ये बातें देशद्रोहात्मक एवं समाज के प्रति गद्दारी की सूचक हैं।

समाचार-पत्रों से होने वाले लाभ एवं हानियों की चर्चा के पश्चात् अब हम समाचार-पत्रों के प्रकार के विषय में चर्चा करना चाहेंगे। समाचार-पत्र कई प्रकार के होते है; यथा—समय या अवधि की दृष्टि से तथा विषय-सामग्री की दृष्टि से। समय या अवधि की दृष्टि से—दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक, त्रैमासिक, अर्द्धवार्षिक, वार्षिक आदि। विषय-सामग्री की दृष्टि से साहित्यिक, धार्मिक, व्यापारिक, राजनैतिक आदि।

हमारे देश मे भी समाचार-पत्रों की स्थिति दिन पर दिन सुधरती जा रही है। संविधान में स्वीकृत प्रायः सभी भाषाओं मे अनेक प्रकार के समाचार पत्र निकल रहे हैं। सर्वाधिक प्रचलित समाचार-पत्र दैनिक हिन्दी तथा अंग्रेजी के हैं। राष्ट्रीय दैनिकों मे अंग्रेजी के हिन्दुस्तान टाइम्स, इण्डियन ऐक्सप्रेस, स्टेट्समैन, नेशनल हैरल्ड, नॉर्दन इण्डिया पत्रिका आदि; हिन्दी दैनिकों मे हिन्दुस्तान, नवभारत टाइम्स, आज, अमर उजाला आदि हैं। दैनिक पत्रों के अतिरिक्त साप्ताहिक, मासिक आदि पत्रों की भी निरन्तर उन्नति होती जा रही है। परन्तु जितनी विश्व के अन्य सभ्य देशो में समाचार-पत्रों की

की यात्रा किया करते हैं। संक्षेप में इस युग में देशाटन का बहुत महत्व बढ़ गया है।

देशाटन से हमें अनेकानेक लाभ होते हैं; यथा—ज्ञान वृद्धि, मनोरंजन, स्वास्थ्य-लाभ एवं देशोन्नति आदि।

जिन बातों को हम पुस्तकों में पढ़कर सरलता एवं सूक्ष्मता से नहीं समझ सकते हैं, उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन द्वारा सरलता से समझ लेते है। चाहे वह किसी नगर का वर्णन हो या ऐतिहासिक इमारत का उद्यान का या गुफा का। तभी तो प्रतिवर्ष लाखों लोग ताजमहल, लालकिला, अजन्ता की गुफाएँ, भाखड़ा नागल बाँध, कश्मीर की घाटी, नैनीताल, न्यूयार्क की गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ, बेबीलोन के झूलते हुए बगीचे, मिस्र के पिरामिड आदि देखने जाया करते हैं।

जब हम बाहर घूमने निकलते हैं तो उससे एक ओर तो हमारा मनोरंजन होता है दूसरी ओर जलवायु बदलने के कारण हमारा स्वास्थ्य भी अच्छा हो जाता है। अतः मनोरंजन के साथ-ही-साथ स्वास्थ्य-लाभ भी दृष्टि से भी देशाटन नितान्त आवश्यक होता है।

देशाटन में मूल जिज्ञासा की भावना निहित होती है और व्यक्ति में अपनी जिज्ञासा को शान्त करने के लिए साहस भी होना चाहिए। साहसी व्यक्ति ही दुनिया को ढूँढ़ लेते है। अपोलो, लूना, सोयुज के यात्रियों ने तो साहस के बल पर चन्द्रलोक पर अपनी विजय-पताका गाड़ दी। साहसी व्यक्तियो ने ही एवरेस्ट पर अपना झण्डा गाड़ा था। इसी साहस के बल पर व्यक्ति, समाज एवं देश उन्नति किया करते हैं और साहस की शक्ति यह हमारे अन्दर देशाटन से अधिक-से-अधिक विकसित होती है। अतः देशोन्नति के लिए भी देशाटन नितान्त आवश्यक होता है।

आज के युग में संसार के सभी देशो मे देशाटन को विशेष महत्व दिया जा रहा है। प्रत्येक समुन्नत देश मे इसके समुचित विकास के लिए 'पर्यटन विभाग' खोले गये हैं। हमारे देश मे भी पर्यटन विभाग सफलता से चल रहे है और हमारी सरकार भी पर्यटन स्थलों के सुधार की ओर विशेष ध्यान दे रही है। देशवासियो मे विगत शताब्दियों की तुलना मे देशाटन की भावना अधिक बढ़ी है। लेकिन इसमें अभी और सुधार की आवश्यकता है। अपने देश का देशाटन करने के पश्चात् हमें विश्व का भी देशाटन करना चाहिए। परन्तु यह तभी सम्भव हो सकेगा, जब हमारे देश से अशिक्षा एवं गरीबी

भाइयों की सहायता करनी चाहिए, तभी समाज में एकरसता बनी रह सकती है। क्योंकि जैसी सामाजिक परम्पराएँ हम डालेंगे, समाज में उनका वैसा ही अनुकरण होगा। अतः मानव को सदैव ही दु:खी एवं पीड़ित व्यक्तियों की सेवा में तत्पर रहना चाहिए। जो व्यक्ति अपने ही सुख में सुखी रहते हैं, दूसरों की चिन्ता नहीं करते हैं, ऐसे व्यक्ति तो पशु-तुल्य माने जाते हैं क्योंकि स्वार्थ की प्रबल भावना तो पशुओं में ही पाई जाती है। अतः पशुओं की कोटि से ऊँचा उठने तथा मानवता की कोटि में आने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को यथा-शक्ति परोपकार में रत रहना चाहिए।

मनुष्य भी समाज में रहकर अनेक प्रकार के परोपकार कर सकता है। मनुष्य की तीन शक्तियाँ होती हैं—तन, मन और धन। हम यदि शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ एवं तन्दुरुस्त हैं तो समाज में अनाचार व दुराचार फैलाने वाले गुण्डों को ठीक करके, दुर्बल एवं सदाचारी व्यक्तियों की रक्षा कर सकते हैं। मन से भी परोपकार किया जा सकता है, आप दु:खी व्यक्ति को सान्त्वना प्रदान करें, रास्ता भूले हुए व्यक्ति को रास्ता बतलावें, रोगियों को अस्पताल पहुँचावें या अपने अनुभव के द्वारा बुरी संगत में पड़े हुए व्यक्तियों को सत्परामर्श के द्वारा उनका मार्ग निर्देश करें। धन से तो प्रत्येक धनी व्यक्ति जब चाहे और जितनी चाहे सहायता कर सकते हैं। अनाथाश्रमों, विद्यालयों, अस्पतालों आदि में दान देकर गरीब एवं असहाय लोगों की सहायता की जा सकती है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि जैसी मनुष्य की सामर्थ्य हो, उसी रूप में उसे दूसरों की सहायता करनी चाहिए।

परोपकार में रत होने पर व्यक्ति को कुछ क्षणिक असुविधा अवश्य होती है परन्तु इससे प्राप्त होने वाला आनन्द शाश्वत होता है। परोपकार के द्वारा परोपकारी व्यक्ति एक ओर तो समाज में श्रद्धा एवं आदर का पात्र बनता है और दूसरी ओर उसका परलोक भी बनता है। हमारे धर्म-ग्रन्थों में कर्म का विधान है; हम जो कर्म इस जन्म में करेंगे—अच्छे या बुरे; उसका फल हमें दूसरे जन्म में अवश्य ही भोगना होगा। इसी दृष्टि से हमारे वेद शास्त्रों में परोपकार की महत्ता गायी गयी है। परोपकारी व्यक्ति चाहे इस संसार में रहें या न रहें, उनकी यश-गाथा सदैव गायी जाती रहेगी। दूसरे शब्दों में, परोपकार नामक गुण के द्वारा ही व्यक्ति संसार में अमरता प्राप्त कर लेता है।

हमारे धर्म-ग्रन्थों में परोपकार की महत्ता बतलायी गयी है। संभवतः

उसी को आदर्श मानकर हमारे देश में अनेक परोपकारी व्यक्ति हो गये हैं, जिन्होंने परोपकार के लिए क्या कुछ नहीं कर डाला। महान् दानी कर्ण, महर्षि दधीचि, राजा रन्तिदेव, महात्मा बुद्ध, महात्मा गाँधी, पन्ना दाई आदि के नामों को कौन नहीं जानता है? परोपकार के लिए इन्होंने अपने जीवन तक की चिन्ता न की। धन्य है यह आदर्श और धन्य हैं ऐसे परोपकारी व्यक्ति परोपकार की ही इतनी महत्ता है कि ये व्यक्ति आज तक तो भारतीय गगन में मानवों के पथ-प्रदर्शक के रूप में छाए हुए है।

मानव जीवन में परोपकार का बड़ा महत्त्व है। अतः हमें समाज को सुखद बनाने के लिए परोपकार में सदैव रत रहना चाहिए। मानव-जीवन की महानता एवं सार्थकता इसी पर आधारित है। प्रत्येक व्यक्ति को महान् व्यक्तियों के आदर्शों का अनुकरण करते हुए यथाशक्ति तन, मन, धन से परोपकार में रत रहना चाहिए। परोपकार से दोनों हाथों में लड्डू रहते हैं। जब तक जीवित रहेंगे समाज में हमारा मान-सम्मान रहेगा और शरीर छोड़ देने पर भी यह गुण हमें अमर रख सकेगा। अतः हमें निस्वार्थ भाव से मानवमात्र की सेवा में रत होना चाहिए और वही हमारे जीवन का लक्ष्य होना चाहिए।

७. कुटीर उद्योग-धन्धों का महत्त्व

रूपरेखा

(१) प्रस्तावना।
(२) प्राचीन भारत में कुटीर उद्योगों की दशा।
(३) कुटीर उद्योगों का पतन।
(४) कुटीर उद्योगों की आवश्यकता।
(५) कुटीर उद्योगों के उदाहरण।
(६) उपसंहार।

जो काम-धन्धे घर के ही लोगों द्वारा थोड़ी-सी पूँजी लगाकर अपने ही घरों में किये जाते है उन्हें हम कुटीर उद्योग कहते हैं। भारत एक कृषि-प्रधान देश है। यहाँ की ८० प्रतिशत जनता गाँव मे ही निवास करती है और उनका प्रमुख व्यवसाय कृषि ही होता है। भारतीय कृषक वर्ष में लगभग छह महीने खाली रहते हैं। यदि कुटीर उद्योग-धन्धों; यथा—चटाई बुनना, तेल पेरना, रस्सी बनाना, टोकरी बनाना, मुर्गी पालना, चमड़े का कार्य करना आदि को

वह खाली समय मे बैठकर करता रहे तो इससे दो लाभ होंगे। पहला तो कुछ अतिरिक्त आय हो जायगी और दूसरे इनसे समय का सदुपयोग हो जायगा।

प्राचीन काल में हमारे देश में कुटीर-उद्योगों की बड़ी उन्नत दशा थी। देश की आवश्यकताओं की पूर्ति के अतिरिक्त यहाँ के कुटीर उद्योगों का माल विदेशों मे बिकने जाया करता था। विश्व-प्रसिद्ध कुटीर-उद्योगों में भारत की ढाका की मलमल बहुत प्रसिद्ध थी। भारत के अतिरिक्त विश्व के बाजारों मे भी उसकी बहुत माँग रहती थी। इसी भाँति और भी अनेक प्रकार के कुटीर उद्योग हमारे देश मे प्रचलित थे। उस युग में मशीनों का प्रादुर्भाव नही हुआ था और प्रत्येक ग्राम अपनी-अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति गाँव के ही विभिन्न कुटीर उद्योगों से करता था। जुलाहा कपड़ा बुनकर पूरे गाँव को देता था, चमार जूते बनाता था, तेली तेल पेरता था। इस प्रकार सभी लोग गाँव की आवश्यकताओ को पूरा करने मे लगे रहते थे। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि हमारे देश मे प्राचीन काल में कुटीर उद्योग-धन्धो का बहुत महत्व था।

मध्य-युग तक हमारे देश मे कुटीर-उद्योग खूब फलते फूलते रहे लेकिन अँग्रेजो का आगमन भारत के कुटीर-उद्योगों के लिए एक अभिशाप बन गया। अँग्रेजो ने अपनी कूटनीति से भारतीय उद्योग-धन्धों को नष्ट कर दिया, क्योंकि मशीन से बने सामान को भारत में बेचकर भारत की सम्पत्ति को वे धीरे-धीरे अपने कब्जे में करना चाहते थे। परिणामस्वरूप उन्होंने भारतीय कुटीर उद्योग-धन्धों को सहारा देना तो दूर उनके मार्ग में तरह-तरह के रोड़े अटकाने आरम्भ कर दिये। हमारे कारीगरो को तरह-तरह से सताया जाने लगा, कुटीर-उद्योगों के माल पर भारी कर लगाये जाने लगे। परिणामस्वरूप शनैः-शनैः कुटीर उद्योगो का पतन हो गया और जो भारत सब प्रकार से आत्म निर्भर था, वह प्रत्येक वस्तु के लिए विदेशो का मुँह ताकने लगा।

लेकिन समय ने करवट बदली। भारत अँग्रेजों के चंगुल से स्वतन्त्र हुआ और हमारे नेताओ ने पुनः कुटीर-उद्योग धन्धों का महत्व समझा तथा उनकी उन्नति के लिए सरकार की ओर से भी अनेक प्रकार की सुविधाएँ और प्रोत्साहन मिलने लगे। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी गाँवों की गिरी हुई दशा से बहुत दुःखी थे अतः उनकी उत्कट अभिलाषा थी कि गाँवों की उन्नति हो। वे यह भी मानते थे, कि जब तक गाँवों मे कुटीर-उद्योग नही पनपेंगे, गाँवों की

दशा में सुधार नहीं आ सकता है। फलतः किसानों में भी चेतना आयी और सरकार ने भी अपना कर्त्तव्य समझकर कुटीर उद्योगों को तरह-तरह से प्रोत्साहन देना प्रारम्भ कर दिया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के इन ३४ वर्षों में कुटीर उद्योगों के क्षेत्र में भारत ने आशातीत उन्नति की है। आज का कृषक अधिक सुशहाल एवं प्रसन्न है।

हमारे देश में वर्तमान समय में निम्नलिखित कुटीर-उद्योग भली-भाँति पनप रहे हैं :

(१) हाथ-करघा।
(२) तेल-उद्योग।
(३) चमड़ा-उद्योग
(४) गुड़ तथा चीनी उद्योग।
(५) मुर्गी-पालना।
(६) बर्तन बनाना।
(७) मधुमक्खी पालना।
(८) टोकरी और रस्सी आदि बनाना।

ग्राम क्षेत्रों के अतिरिक्त शहर में भी इन उद्योगों को खूब प्रोत्साहन दिया जा रहा है। सरकार की ओर से धन तथा अन्य विभिन्न प्रकार के साधन प्रदान किये जाते हैं। इन उद्योगों में खाली समय का सदुपयोग एवं अतिरिक्त आय होने से लोग भी इनमें खूब मन लगाकर कार्य करते हैं। इन उद्योगों में जहाँ उपभोक्ता को अधिक लाभ होता है, वहाँ देश का धन देश में ही रहता है और लोगों की आवश्यकताओं की भी पूर्ति हो जाती है स्वयं गांधीजी ने देश को पूर्ण आर्थिक स्वतन्त्रता प्रदान कराने हेतु 'अखिल भारतीय चरखा संघ' तथा 'ग्रामोद्योग-संघ' की स्थापना की थी। भारत की वास्तविक उन्नति निश्चय ही कुटीर उद्योगों की उन्नति पर अवलम्बित है।

सरकार ने इन कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन तो दिया है परन्तु अब भी बहुत-सी ऐसी समस्याएँ हैं जिनका समाधान भारत सरकार को करना चाहिए। कुटीर उद्योगों को चलाने के लिए कच्चे माल (raw material) की व्यवस्था तथा बने हुए माल को बाजारों में बिकवाने की व्यवस्था अभी तक सन्तोषजनक नहीं है। साथ में कुशल मजदूरों का भी अभाव है, अतः मजदूरों का प्रशिक्षण देने का कार्य भी सरकार को करना चाहिए ताकि कुशल कारीगर उन्नत प्रकार की वस्तुएँ निर्मित कर सकें। साथ ही जनता को भी सरकार के साथ सहयोग

करना चाहिए। जनता को चाहिए कि कुटीर उद्योगों की बनी हुई वस्तुओं का ही अधिकाधिक रूप में प्रयोग करे। निःसन्देह कुटीर उद्योगों का भविष्य बहुत ही सुन्दर है। सरकार की नयी बैंक ऋण-नीति ने भी इन उद्योग-धन्धों की उन्नति के लिए महत्वपूर्ण कार्य किया है।

८. सत्संगति

अथवा

शठ सुधरहिं सत्संगति पाई

रूपरेखा :

(१) सत्संग का जीवन में महत्व।
(२) सत्संग के प्रकार।
(३) सत्संगति से लाभ।
(४) उपसंहार।

सत्संगति दो शब्द सत्+संगति से बना है जिसका शाब्दिक अर्थ होता है अच्छे, भले व्यक्तियों की सोबत। मनुष्य समाज में रहकर किसी न किसी व्यक्ति की सोबत में आता ही है। यदि वह सोबत अच्छी है तो उसकी समाज में उन्नति होगी और यदि उसकी सोबत बुरी है तो उसका समाज में पतन हो जायगा। अतः अपनी उन्नति तथा समाज एवं जाति के भले के लिए समाज के व्यक्तियों को सत्संगति अर्थात् अच्छी सोबत ही करनी चाहिए। गोस्वामी तुलसीदास ने इसी सत्संग की महिमा गाते हुए लिखा है—'बिनु सतसंग विवेक न होई' अर्थात् बिना सत्संगति किये मनुष्य में विवेक, अर्थात् ज्ञान बुद्धि नहीं आती है। अतः ज्ञान बुद्धि प्राप्त करने के लिए हमें सत्संगति अवश्य करनी चाहिए।

यह सत्संगति हमें दो प्रकार से प्राप्त हुआ करती है—प्रथम तो सत् पुरुषों के संग से तथा दूसरे सत् पुस्तकों के पठन पाठन से। दोनों का अपना स्थान है परन्तु सत् पुस्तकों से पढ़ने वाला प्रभाव उतनी सरलता से हमारे जीवन पर नहीं पड़ता है जितनी सरलता से सदाचारी व्यक्तियों के संग का। इसी लिए हमारे समाज में सत्संग और कीर्तन का बहुत महत्व आंका गया है और कलियुग में विशेषकर भगवद्प्राप्ति का एकमात्र साधन सत्संग ही बताया गया है।

हमारे जीवन को उन्नत बनाने में भी सत्संगति का बड़ा हाथ रहता है।

कहा जाता है कि कुधातु (लोहा) भी सत्संगति अर्थात् पारस पत्थर का संग पाकर खरा स्वर्ण बन जाता है।

शठ सुधरहिं सत्संगति पाई।
पारस परसि कुधातु सुहाई॥

जब जड़ वस्तुओं पर सत्संगति का प्रभाव पड़ सकता है तो हम सचेतन प्राणियों पर इसका प्रभाव कितना पड़ सकता है, इसे हम भली-भाँति सोच सकते हैं। सत्संगति से मानव को अनेक प्रकार के लाभ प्राप्त होते हैं। नीति के श्लोकों में कहा गया है—

जाड्यं धियो हरति सिंचति वाचि सत्यम्,
मनोन्नतिं दिशति, पापमपाकरोति॥
चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिं॥
सत्संगतिः कथय किं किं न करोति पुंसाम्?

अर्थात् सत्संगति मनुष्य के लिए क्या-क्या नहीं करती है? वह (सत्संगति) मनुष्य की बुद्धि की जड़ता हरकर उसे तेज करती है, उसकी वाणी में सत्य का संचार करती है, सम्मान एवं उन्नति का प्रसार करती है तथा पापों का विनाश करती है, मानव के मन को प्रसन्न करती है, दिशाओं में उनकी कीर्ति फैलाती है। इस प्रकार सत्संगति से मानव की सर्वांगीण उन्नति होती है। इतना ही नहीं, जो व्यक्ति सज्जनों की संगति करते हैं, उन पर दुष्टात्मा अपना प्रभाव नहीं डाल पाते हैं। इसी बात को रहीम कवि ने इस प्रकार कहा है—

जो रहीम उत्तम प्रकृति, का करि सकत कुसंग॥
चंदन विष व्यापत नहीं, लपटे रहत भुजंग॥

यह सब सत्संगति का ही प्रभाव है। कबीरदास जी कहते हैं कि सत्संगति करने वाला व्यक्ति दूसरों के कष्टों को भी दूर कर देता है, जबकि दुष्टों की संगति करने वाला दूसरों को अनेक प्रकार के दुःख दिया करता है :—

कबिरा संगति साधु की, हरै और की व्याधि।
संगति बुरी असाधु की, आठों पहर उपाधि॥

सत्संगति में रहने वाले व्यक्ति का हृदय दयालु हो जाता है। उसमें परोपकार की भावना अधिक हो जाती है। अतः ऐसे उदारमना व्यक्ति अपने साथियों के कष्टों को दूर कर उन्हें सुख दिया करते हैं। इसके अतिरिक्त सत्संग से हमारे ज्ञान में भी वृद्धि होती है। सज्जन पुरुषों के प्रवचन सुनने

तथा अच्छी पुस्तकों के पठन-पाठन से निश्चित ही हमारे ज्ञान की श्रीवृद्धि होती है जो हमारे इस लोक तथा परलोक को सुखमय बना सकते हैं।

अन्त में निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि जीवन में सत्संग का महान् उपयोग है। सत्संग की महत्ता प्रत्येक युग मे समान रूप से रही है और रहेगी भी। इतिहास में नीति-ग्रन्थों, पुराणो तथा महाकाव्यों आदि मे ऐसे बहुत-से उदाहरण मिल जायेंगे जिसमें संत्संग से प्रभावित होकर व्यक्तियों का जीवन ही बदल जाता है। सत्संग मे बैठते-बैठते व्यक्ति के हृदय में अनेकानेक सुखद परिवर्तन हो जाते हैं। सत्संग करने से मनुष्य कुसंग से बच जाता है और इस प्रकार उसका जीवन सुखमय हो जाता है। तुलसीदास जी ने सत्संग की उपादेयता बतलाते हुए कहा है कि—

सकल वर्ग उपवर्ग सुख, धरिय तुला इक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सत्संग॥

अर्थात् सत्संग से मिलने वाले सुख की तुलना सम्पूर्ण स्वर्गों और मोक्षों से मिलने वाले सुख से भी नही की जा सकती है। अतः इस सत्संगति रूपी अमूल्य रत्न को मानव को कभी नही छोड़ना चाहिए। जब कभी अवकाश मिले, सत्संगति करनी चाहिए।

६. परिश्रम का महत्व

रूपरेखा :

(१) परिश्रम का शाब्दिक अर्थ।
(२) परिश्रम का मानव-जीवन में महत्व।
(३) श्रम के द्वारा देश तथा समाज का कल्याण।
(४) श्रम के प्रकार।
(५) उपसंहार।

परिश्रम और श्रम दोनों का एक ही अर्थ है—तन व मन से किसी कार्य को लगन के साथ पूरा करना ही श्रम है श्रम का विलोम होता है, आलस्य। प्रत्येक कार्य में मनुष्य को श्रम करना पड़ता है बिना श्रम के तो मनुष्य सामने भरी हुई भोजन की थाली में से भी कुछ नही खा सकता है। मानव ही नही, प्रत्येक चेतन जीव चाहे पशु हो या पक्षी, सभी को कुछ-न-कुछ परिश्रम करना ही पड़ता है।

परिश्रम मनुष्य की सबसे बड़ी शक्ति है। बिना परिश्रम के व्यक्ति जीवन मे कोई उन्नति नही कर सकता है। परिश्रम के बल पर मानव असम्भव

कार्यों को भी सम्भव बना लेता है। आज के वैज्ञानिक युग में परिश्रमी वैज्ञानिकों ने मानव को परिश्रम के बल पर ही चन्द्रमा के धरातल पर उतार दिया है। मनुष्य की सफलता का रहस्य परिश्रम में ही छिपा रहता है। मानव निरन्तर परिश्रम करते-करते प्रकृति के ऊपर नियन्त्रण करता चला जा रहा है। विशाल समुद्र की छाती चीरना आकाश में विहार करना, रेलों में सुख-सुविधापूर्वक यात्रा करना ये सब परिणाम मानव के सतत परिश्रम के ही फल हैं। आज विश्व में सर्वत्र जो सभ्यता की चकाचौंध दिखाई दे रही है, उसके मूल में भी परिश्रम बैठा हुआ है।

परिश्रम के बल पर हम बुद्धिमान, धनी एवं सुखी बन सकते हैं, क्योंकि परिश्रम ही वह गुण है जो मूर्ख को विद्वान एवं निर्धन को धनी बना सकता है बिना परिश्रम के तो जीवन में कुछ भी सम्भव नहीं है। बिना परिश्रम के एक स्थान पर बैठा हुआ व्यक्ति न तो भोजन प्राप्त कर सकता है और न जीवन में किसी प्रकार की प्रगति ही। यदि हम किसी कार्य को पूर्ण करना चाहते है तो उसके लिए यह आवश्यक है कि हम उसे परिश्रम के साथ पूर्ण करें। बार-बार कठोर पत्थर पर भी जब रस्सी डाली जाती है तो उसमें भी गड्ढे हो जाते है; इसी प्रकार परिश्रम करने से हमारे रुके हुए कार्य भी पूर्ण हो जाते हैं। कहा है—

करत-करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत जात से सिल पर होत निशान।

परिश्रम के बल पर महाराज रणजीतसिंह ने चढ़ी हुई अटक नदी पार कर ली। नैपोलियम बोनापार्ट ने आल्पस पर्वत पार कर लिया। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर परिश्रम के बल पर महान् पण्डित हो गये। चन्द्रलोक की यात्रा तथा अन्य सभी वैज्ञानिक आविष्कारों के मूल में भी न मालूम कितने दिन और वर्षों का कठिन परिश्रम रहा होगा। परिश्रम से मुँह मोड़ने वाले और केवल भाग्य पर भरोसा करने वाले व्यक्ति कायर कहलाते हैं। संस्कृत के नीति के श्लोक में यही बात कही गई—

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी
दैवेन देयमिति, कापुरुषा वदन्ति।

लेकिन पुरुषार्थी और परिश्रमी व्यक्ति भाग्य के भरोसे न रहकर कठिन समय मे भी परिश्रम के बल पर बड़े-से-बड़े काम कर डालते है। संसार में ऐसे ही परिश्रमी एवं पुरुषार्थी व्यक्तियों की यश-गाथा गाई जाती है। परिश्रमी

व्यक्ति जहाँ अपना नाम अमर करते हैं, वहाँ वे देश और समाज की उन्नति में भी बड़ा भारी योगदान देते हैं। जर्मनी और जापान के व्यक्तियों ने केवल परिश्रम एवं लगन के आधार पर ही विश्व-युद्धों में नष्ट-भ्रष्ट हुए अपने राष्ट्रों को संसार के उन्नत राष्ट्रों की परिधि में लाकर खड़ा कर दिया है। परिश्रमी व्यक्ति निरन्तर अपने लक्ष्य मे जुटा रहता है। प्रारम्भ मे आने वाली बाधाएँ एवं मुसीबतें उसे अपने मार्ग से विचलित नही कर पाती हैं और अन्त मे सफलता उसके चरण चूमती है।

परिश्रम का श्रम दो प्रकार का होता है—शारीरिक और मानसिक। दोनों का ही अपने-अपने स्थान पर महत्व है। स्वास्थ्य की दृष्टि से मानसिक के साथ ही साथ हमे शारीरिक श्रम भी करते रहना चाहिए। जो लोग शारीरिक श्रम को हेय या निचले दर्जे का समझते हैं वे समाज एवं देश के साथ बड़ा अन्याय करते है। नयी सभ्यता की चकाचौध मे शारीरिक श्रम को निम्न दृष्टि से देखा जाता है। जो लोग शारीरिक श्रम से परहेज करते हैं वास्तव में वे लोग समाज के शत्रु है और ऐसे लोग ही समाज को पतन की ओर ले जाते है। राष्ट्रपिता गाँधी जी ने अपने उपदेशों मे सदा ही शारीरिक श्रम को बड़ा महत्व दिया है। शारीरिक एवं मानसिक श्रम—दोनों का अपना स्थान है अतः हमे दोनो का ही पालन करना चाहिए।

संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि मानव-जीवन की सफलता एवं असफलता का सबसे बड़ा आधार श्रम ही है। अतः हमे अपने लाभ के लिए, अपनी शारीरिक एवं आर्थिक उन्नति के लिए तथा देश और समाज की उन्नति के लिए सदा ही परिश्रमी बनना चाहिए। सृष्टि का प्रत्येक चेतन प्राणी हमे परिश्रम करने की शिक्षा देता है। चिड़िया वर्षा तथा धूप से बचने के लिए किस परिश्रम से अपना घोसला बनाती है। मधुमक्खियाँ कठोर परिश्रम करके पुष्पों से रस खीचती है। चीटियाँ कठोर परिश्रम करके अपना भोजन इकट्ठा करती हैं। जब पक्षी एवं अन्य चेतन जीव परिश्रम करते रहते हैं तो हमें भी अपने देश, समाज की उन्नति के लिए कठिन-से-कठिन परिश्रम करने के लिए तैयार रहना चाहिए।

१०. श्रमदान

रूपरेखा :

(१) श्रम का अर्थ।

(२) स्वतन्त्र भारत में श्रमदान का महत्व।

(३) **श्रमदान के लाभ।**
(४) **उपसंहार।**

भारत एक गरीब राष्ट्र है। इसकी अधिकांश आबादी गाँवों में रहती है। उसकी आर्थिक दशा अच्छी नहीं है। देश के विकास के लिए धन एवं श्रम दोनों की ही आवश्यकता होती है। जो लोग आर्थिक दृष्टि से सबल नहीं है, वे अपने श्रम के द्वारा जनोपयोगी कार्यों में सहयोग प्रदान कर सकते है। जनोपयोगी कार्यो को पूर्ण करने में अपने शरीर का श्रम लगाना ही श्रमदान कहलाता है।

१५ अगस्त १६४७ को भारत युगों की दासता की बेड़ियों को तोड़ कर स्वतन्त्र तो हो गया परन्तु उसके उन्नत एवं समृद्ध बनने के लिए धन एवं श्रम की बहुत आवश्यकता थी। जैसा कि हम कह चुके है, भारत आर्थिक क्षेत्र में बहुत पिछड़ा हुआ है अतः हमारी राष्ट्रीय सरकार अधिक कर लगाने की स्थिति में नही थी। ऐसी दशा में इसका केवल विकल्प यह था कि प्रत्येक मुहल्ले और ग्रामों के निवासी अपने यहाँ होने वाले जनोपयोगी निर्माण में शारीरिक परिश्रम से सहयोग प्रदान करें। इसी तथ्य को दृष्टि में रखते हुए २६ जनवरी, १६५० के गणतन्त्र दिवस के पुनीत अवसर पर राष्ट्र की ओर से एक नये आन्दोलन का श्रीगणेश किया गया जिसका नाम था, 'श्रमदान आन्दोलन'। हमारे कुएँ, नहरें, सड़कें, नदियाँ, पंचायतघर, श्मशानघाट पाठशालाएँ आदि बननी थीं। हमारे ग्रामों एवं नगरों में अनेक प्रकार की समस्याएँ थीं जिनका समाधान हमें या हमारी राष्ट्रीय सरकार को करना था। हमारे सामाजिक कार्यकर्त्ताओं ने 'श्रमदान-आन्दोलन' को अपनाया और जनता में इस भावना का खूब प्रचार किया। इस स्वेच्छापूर्वक किये गए श्रम से बहुत-से-रचनात्मक कार्य किये गए। देश के प्रत्येक भाग में लोगों ने बड़े उत्साह से इस आन्दोलन में भाग लिया और उसी का परिणाम हम देखते है कि अधिकांश नहरें, कुएँ, पंचायतघर, पाठशालाएँ, पगडंडियाँ, सड़कें आदि श्रमदान द्वारा ही निर्मित किये गए हैं। लोगों ने स्वेच्छा से दो-दो या चार-चार घण्टे काम करके इस पुण्य-यज्ञ में भाग लिया है। सरकार ने भी विकास खण्डों के निर्माण से लोगों में श्रमदान की भावना को खूब फैलाया है और इसमें दो मत नहीं कि आज हमारे गाँव की बहुत-सी समस्याओं का समाधान इस श्रमदान से पूर्ण हो गया है।

बहुत-सी ग्रामीण एवं शहरी समस्याओं का समाधान श्रमदान के द्वारा

निकाला जा सकता है। जन-साधारण की भलाई के लिए, देश एवं नगरों तथा ग्रामों की समस्याओं को सुलझाने के लिये हममें से प्रत्येक को दान का सहारा लेना चाहिए। जो व्यक्ति आर्थिक दृष्टि से सक्षम हैं उन्हें तो धन का दान देना चाहिए लेकिन जिनकी आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है, उन्हें अपने अवकाश के समय में से कुछ समय निकालकर शारीरिक श्रमदान करना चाहिए। शारीरिक श्रमदान से जहाँ हमारी सामाजिक एवं राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान होता है। वहाँ इस कार्य से हमारा स्वास्थ्य भी ठीक बना रहता है, साथ ही इसके द्वारा पुण्य का भी फल प्राप्त हुआ करता है। राष्ट्र को समृद्ध एवं उन्नतिशील बनाने के लिए हममें से प्रत्येक को कुछ-न-कुछ श्रमदान अवश्य करना चाहिए। आज देश में तीन पंचवर्षीय योजनाएँ यद्यपि पूर्ण हो चुकी है। परन्तु हमारे राष्ट्र के सामने अब भी बहुत-सी समस्याएँ विद्यमान हैं। इन सभी विद्यमान समस्याओं को पूरा करने के लिए प्रत्येक नागरिक यदि थोड़ा-थोड़ा ही श्रमदान दें तो सभी निर्माण-कार्य कम खर्च में जल्दी ही पूर्ण हो जायेंगे और जब निर्माण-कार्य पूर्ण होंगे तो हमारे देश में समृद्धि स्वतः ही लहलहा पड़ेगी। हमारी जन-शक्ति धनाभाव के कारण खड़ी हुई समस्याओं को पूर्ण कर डालेगी। इस प्रकार राष्ट्र की उन्नति एवं स्वयं की उन्नति का मूल श्रमदान में ही निहित है। अतः हमें श्रमदान के महत्व को अंगीकार करना चाहिए।

श्रमदान की इस महत्ता को दृष्टि-पथ में रखते हुए प्रत्येक देशवासी को श्रमदान अपने जीवन का अंग बना लेना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को नित्यकर्मों की भाँति ही दिन में दो-चार घण्टे (जैसी भी सुविधा हो) अवश्य ही जनोपयोगी कार्यों को पूर्ण करने हेतु श्रमदान करना चाहिए। आज हमारा देश स्वतन्त्र है। देश की समृद्धि हमारी समृद्धि है। यदि यह बात हम सोचकर चलें तो निश्चय ही हमारा देश उन्नति के शिखर को चूमने लगेगा। प्रत्येक देशवासी को श्रम के महत्व को समझना चाहिए और कुछ-न-कुछ समय श्रमदान में अवश्य ही देना चाहिए। यदि वह अपने गाँव या मुहल्ले की समस्याओं का निपटारा स्वयं मिल-जुलकर श्रमदान के माध्यम से हल कर लेते हैं तो सरकार को अन्य बड़ी राष्ट्रीय समस्याओं को हल करने में सुविधा रहेगी; साथ ही एक बहुत सी धनराशि एवं समय की भी बचत हो जायगी। अतः प्रत्येक व्यक्ति को श्रमदान का महत्व समझकर प्रतिदिन राष्ट्रोपयोगी व जनोपयोगी कार्यों में कुछ-न-कुछ श्रमदान अवश्य करना चाहिए।

११. चाँदनी रात में नौका-विहार

रूपरेखा :

(१) शरदकालीन चाँदनी का रम्य वातावरण।
(२) चाँदनी रात में नौका-विहार की योजना।
(३) नौका-विहार से आनन्दानुभूति।
(४) उपसंहार।

वर्षा ऋतु के पश्चात् शरद ऋतु आती है। शरद् ऋतु के आते ही आकाश पूर्ण स्वच्छ हो जाता है और उस समय चमकने वाला चन्द्र अपनी उज्जवल आभा सर्वत्र बिखेरता रहता है। चाँदनी की धवलिमा सर्वत्र मन को भाने लगती है। सभी जड़ चेतन अपने रंगों को छोड़कर चाँदनी की चादर ओढ़ लेते हैं। प्राकृतिक स्थल—नदी, तालाब, उद्यान अपनी अनुपम छटा बिखेरा करते हैं। इस ऋतु में न अधिक जाड़ा होता है न गरमी। वातावरण बड़ा ही मन-भावना एवं मोहक बन जाता है। नदी एवं उसके किनारे की शोभा इस समय हमारे मन को बरबस अपनी ओर आकर्षित किया करती है। ऐसे ही रमणीक वातावरण में हम एक नदी के किनारे पहुँच गये।

नदी के किनारे जब हम पहुँचे तो सर्वत्र शान्ति का साम्राज्य था। चन्द्रमा अपनी शीतल किरणों से वातावरण की शान्ति को और भी अधिक गम्भीर कर रहा था। नदी के किनारे पर पड़ी हुई सिकता चाँदी की चादर-सी प्रतीत हो रही थी, साथ ही नदी के बहते हुए पानी पर भी वह अपनी छटा बिखेर रही थी। नदी का पानी निर्मल था उसमें चमकते हुए तारागण एवं उनके मध्य चन्द्रदेव विराजे हुए बहुत अच्छे प्रतीत हो रहे थे। ऐसे रमणीक वातावरण में हमने नौका-विहार की योजना अपने कुछ साथियों के साथ बनाई। हमारे साथियों ने भी इस योजना की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

फिर क्या था, नाविक को बुलाकर हमने नौका मँगा ली और उसमें बैठकर हम सभी लोग चन्द्र की चाँदनी में नौका-विहार करने लगे। हम सभी मित्रों ने बारी-बारी से नाव चलाने का आनन्द उठाया। जैसे ही हमारी नौका पानी के प्रवाह को काटकर आगे बढ़ी तो पुनः उसे चलाने में हमें बड़ी बलबी का भी सहारा लेना होता था। चट्टू से गिरती हुई पानी की बूँदें बड़ी ही अच्छी लग रही थीं। आकाश में चमकते हुए तारागण अपनी अनुपम छटा जल में बिखेर रहे थे। पानी के हिल जाने में चमकते हुए तारों का प्रतिबिम्ब

भी हिल जाया करता था, जिसमें उससे झिलमिलाहट-सी दिखाई देती थी। पौधे एवं नदी किनारे की बालू आदि भी इस चाँदनी में बड़े ही मनमोहक लग रहे थे। सबकी शोभा बहुत ही बढ गई थी। जैसे ही हमारी नौका मध्य धार मे आई, शीतल समीर के झोंके भी हमे लगने लगे। दूर स्थल पर नदी की पतली धारा नायिका की कमर की भाँति बड़ी ही आकर्षक लगती थी। नौका-विहार करते समय हमारे मन मे तरह-तरह के भाव उत्पन्न हो रहे थे। हमारे मन मे एक भावना यह भी थी कि जिस प्रकार नदी की धारा अनवरत रूप से प्रवाहित होती रहती है, उसी प्रकार हमारे जीवन की कार्य-पद्धति भी अनवरत रूप से चलनी चाहिए, उसमे विराम नहीं आना चाहिए और तभी हम उन्नति कर सकेंगे। इसी प्रकार के अनेकानेक भाव हमारे मन में उत्पन्न हो रहे थे। प्रकृति की माधुरी का पान करते समय कुछ समय पश्चात् हमारी नौका अपने किनारे पर लगी और हम लोग उससे उतर कर घाट पर आये और पुनः वहाँ से अपने-अपने घरों को चले।

वस्तुत: प्रकृति की रम्य-स्थली में घूमने पर हमे जो आनन्दानुभूति होती है, वही चाँदनी रात के इस रमणीक एवं प्राकृतिक वातावरण में घूमने से भी हुई। शीतल मन्द सुगन्धित वायु में चन्द्रमा की पीयूष-वर्षी किरणों में नौका-विहार का बड़ा ही आनन्द आता है। हम शरद् चन्द्रमा और उसके तारागणों का स्पष्ट प्रतिबिम्ब नदी के जल मे देख सकने मे समर्थ होते हैं। प्राकृतिक वातावरण हमे मानसिक आनन्द प्रदान करने वाला होता है। हमारा मन-मयूर प्रकृति के ऐसे रम्य वातावरण को देखकर मन्त्रमुग्ध हो उठता है और उसमे मिलने वाले आनन्द की कल्पना म हम आत्म-विभोर हो उठते हैं। यही कारण है कि नौका-विहार की इच्छा हमारे मन मे बार-बार उत्पन्न हुआ करती है।

१२. लेखनी की आत्म-कहानी

रूपरेखा :

(१) लेखनी का आत्म-परिचय।
(२) उसके जीवन का इतिहास।
(३) लेखनी की उपयोगिता।
(४) उपसंहार।

आत्म-परिचय देना मूर्खता की बात होती है, लेकिन जब व्यक्ति किसी के अस्तित्व को ही मिटा देना चाहता हो तो फिर उसे स्वयं अपना परिचय अपने

अस्तित्व की रक्षा के लिए देना पड़ता है। इसी को आधार मानकर मैं 'अर्थात् आपकी लेखनी, जो नित्य ही आपके काम आया करती हूँ अपना परिचय देना चाहूँगी।'

मैं प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति की जीवन संगिनी हूँ। हर पढ़ा-लिखा व्यक्ति मेरा उपयोग करता है। इतना ही नहीं, वर्तमान युग में तो मैं प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति के साथ उसकी जेब में स्थान पाये रहती हूँ। लोग मेरा इतना सम्मान करते हैं कि वे एक क्षण भी मेरे बिना चैन से नहीं रह सकते हैं। मानव-जीवन में जब सभ्यता ने पदार्पण किया, तभी मेरा जन्म समझना चाहिए। मैं विद्यार्थियों, डाक्टरों, वकीलों, दुकानदारों, व्यापारियों आदि सभी के साथ प्रशिक्षण बनी रहती हूँ। विश्व के साहित्य और संस्कृति की रक्षिका तथा पोषिका में ही रही हूँ।

अपने इस संक्षिप्त आत्म-परिचय के पश्चात् अब मैं अपना क्रमिक इतिहास बताना चाहूँगी। अर्थात् अपने जन्म से अब तक की कहानी आपको बताना चाहूँगी। जैसा कि मैं पूर्व में कह चुकी हूँ मेरा जन्म सभ्यता के अभ्युदय के साथ ही हुआ है। अपने प्रारम्भिक रूप में मैं मयूर आदि पक्षियों के परों के रूप में व्यवहृत होती थी। वेद इत्यादि ग्रन्थों का प्रणयन ऋषि-मुनियों ने मेरे इसी प्रारम्भिक रूप से, भोजपत्र या ताड़पत्र आदि पर किया है। सभ्यता के आदि रूप तथा वेद आदि के रचयिताओं को अमरता प्रदान करने में मेरा ही योगदान रहा है। क्रमशः सभ्यता का विकास होता गया और इस विकास के युग में प्रत्येक वस्तु अपना परिष्कार करती गयी तो फिर भला मैं ही कैसे चुप बैठ जाती; मैंने ही अपना रूप परिष्कृत करना प्रारम्भ कर दिया। पक्षियों के परों को छोड़कर मैंने अपना रूप वन में उत्पन्न होने वाले सरकंडों में जमाया। व्यक्ति सरकंडों के रूप में मुझे पाकर स्वेच्छा से मोटा या पतला बनाकर मेरा उपयोग करने लगे। मैंने तो परोपकार का बीड़ा उठा रखा है, चाहे उसमें मुझे कितने ही दुःख क्यों न झेलने पड़ें। लोग मुझे अनेक प्रकार की यातनाएँ देते हैं। मुझे चाकू से छीलते हैं पुनः मेरे सिर को काटते हैं परन्तु मैं इन सभी कष्टों को सहर्ष सहती रहती हूँ।

कुछ लोगों ने मुझे बाँसों से भी छीलकर बनाया है। बाँस के रूप में मुझे खूब चिकना किया जाता है। फिर मुझे धातु का रूप दिया गया पुनः मुझे आग में तपाया जाता है। मुझे इन सभी कार्यों में बड़ा ही शारीरिक

कष्ट होता रहा है परन्तु मैं शान्त भाव से सब सहती हूं क्योंकि परोपकार का बीड़ा जो मैंने उठा रखा है और हर परोपकारी व्यक्ति को अपने जीवन में इसी प्रकार से कष्ट उठाने पड़ते हैं।

जैसा कि मैं पहले ही कह चुकी हूं कि सभ्यता की दौड़ में भी मैं पीछे नहीं रही हूं। बदलती हुई वर्तमान परिस्थितियों मे मुझे भी अपना चोला बदलना पड़ा है। सरकण्डे और बाँस की कलम के पश्चात् मैंने लकड़ी के होल्डर के रूप मे अपना रूप प्रस्तुत किया तत्पश्चात् आंग्ल सभ्यता के प्रभाव से जहाँ अन्य वस्तुओं के रूपों में युगानुरूप परिवर्तन हुए वहाँ मेरा भी रूप परिवर्तित होकर वर्तमान 'पैन' के रूप मे आ गया है। पहले मुझे बार-बार दवात(मसि-पात्र) से अपना भोजन लेना पड़ता था परन्तु अब मैं एक बार ही दो-चार घण्टे का भोजन ले लेती हूं। मुझे आसानी से बन्द करके व्यक्ति अपनी जेबों मे रखकर जहाँ चाहते हैं वहाँ ले जाते है। आज जिधर देखिए, उधर ही मेरी धूम है। क्या स्कूल-कालेज मे पढ़ने वाले छात्र, क्या अध्यापक, क्या वकील, क्या डाक्टर सभी मेरी महिमा से प्रभावित हैं, और प्रतिक्षण बिना मेरा सहारा लिए चल नहीं पाते है। संक्षेप मे, यही मेरी कहानी है।

अपना क्रमिक इतिहास प्रस्तुत करने के पश्चात् अब मैं अपनी उपयोगिता के विषय मे भी कुछ प्रकाश डालना चाहूंगी। मेरे महत्व को जैसा कि मैं पहले भी कह चुकी हूं प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति जानता है। प्रत्येक साहित्यकार, पत्रकार, कवि, लेखक, वकील, डाक्टर, विद्यार्थी, व्यापारी, एजेण्ट आदि सभी मेरे महत्व को जानते हैं। मेरा ही सहारा लेकर जज (निर्णायक) महोदय बड़े से बड़े मुकद्दमों का निर्णय दिया करते है। संसार के युद्ध एवं शान्ति, पारस्परिक समझौते आदि सभी मेरे द्वारा ही सम्पन्न होते है। परीक्षाओं में सफलता पाने वाले परीक्षार्थी मेरा ही भरोसा रखते है। व्यापारी के लेन-देन का लेखा-जोखा मेरे द्वारा ही पूर्ण होता है। संक्षेप में, मैं यह कह सकती हूं कि सभ्यता के इस युग में प्रत्येक कार्य चाहे वह व्यक्ति-विशेष का हो या राष्ट्र-विशेष का; सभी मेरे द्वारा ही सम्पन्न होते हैं। आज के युग में मेरे बिना कोई भी कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता है।

संक्षेप मे, अब बस, इतना ही कहना चाहूंगी कि मुझे इस बात का गर्व है कि संसार की सभ्यता एवं संस्कृति की मैं पोषिका रही हूं। प्रत्येक व्यक्ति मुझे अपनी संगिनी बनाकर रखता है, इसमे ही मुझे आत्मसंतोष होता है। मैं

तो परोपकार का बीड़ा उठाकर चली हूँ और इसी लक्ष्य को जीवन-पर्यन्त निभाती रहूँगी। ईश्वर से मेरी विनम्र प्रार्थना है कि मेरे द्वारा संसार का कल्याण ही होता रहे। मैं कभी-भी विश्व को कष्ट देने वाले लोगों की कठपुतली न बनूँ, सदैव परोपकार में ही रत रहूँ, क्योंकि मेरे जीवन का तो लक्ष्य—"परोपकाराय सतां विभूतयः" हो रहा है। इसके साथ ही मुझे इस बात का भी गर्व है कि असभ्य मानव को सभ्य बनाने में भी मेरी महती भूमिका रही है। निश्चय ही यदि मेरा जन्म न होता तो मानव आज भी सभ्य न होकर असभ्य ही बना रहता।

१३. पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं

रूपरेखा

(१) पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं का अर्थ।
(२) पराधीनता से प्राप्त होने वाले कष्ट।
(३) पराधीनता हमारी सामाजिक, आर्थिक तथा राष्ट्रीय आदि सभी प्रकार की उन्नति में बाधक।
(४) उपसंहार।

यह सूक्ति गोस्वामी तुलसीदास जी की श्री रामचरितमानस से उद्धृत की गयी है। इस सूक्ति का शाब्दिक अर्थ है कि पराधीनता में व्यक्ति को स्वप्न में भी सुख उपलब्ध नहीं हो सकता है, यथार्थ जीवन में तो बात ही और है। वास्तव में यह उक्ति ठीक ही है। पराधीनता की बेड़ियों में जकड़े हुए व्यक्ति एवं राष्ट्र सरलता से इसका अनुमान लगा सकते हैं। दूसरे शब्दों में प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्र रहना चाहिए और स्वतन्त्र क्यों न रहे, स्वतन्त्र रहना प्राणिमात्र का जन्मसिद्ध अधिकार है। जब प्राणिमात्र का जन्म ही स्वतन्त्र रूप में होता है तो किसी अन्य व्यक्ति को क्या अधिकार है कि वह अपनी शक्ति का दुरुपयोग कर किसी अपने आश्रित व्यक्ति को परतन्त्र बनावे।

पराधीनता में प्रत्येक व्यक्ति को अनेक प्रकार के कष्ट भोगने पड़ते हैं। पराधीन व्यक्ति, समाज या राष्ट्र की इच्छा का कोई मान नहीं रहता है। वह न तो स्वेच्छा से कोई कार्य कर सकता है और न ही अपने विचारों को व्यक्त कर सकता है। इतना ही नहीं, अपितु वह स्वेच्छा से अपना भोजन भी नहीं कर सकता है। जहाँ व्यक्ति और राष्ट्र पर दूसरी शक्तियों का इतना कड़ा अंकुश बना रहता है, वहाँ वे शासित राष्ट्र या व्यक्ति अपनी उन्नति किस प्रकार कर सकता है, यह भली-भाँति सोचा जा सकता है।

विश्व का इतिहास उठाकर देख लीजिए, परतन्त्र राष्ट्रों का उत्थान के स्थान पर पतन ही हुआ है। स्वय हमारा भारतवर्ष भी अंग्रेजों की परतन्त्रता के दो सौ वर्ष भोग चुका है। हम भली-भाँति जानते हैं कि इस परतन्त्रता की अवधि में हमारे देश का आर्थिक एवं नैतिक दृष्टि से कितना पतन हुआ है। हम विश्व के उन्नत राष्ट्रों की दौड़ में बहुत पिछड़ गये हैं। विदेशी शासकों ने हमारे धर्म, आचार-विचार, शिक्षा-संस्कृति—सभी को चौपट कर दिया। हमारी आर्थिक समृद्धि का सर्वनाश कर हमें पगु बना दिया। जो भारत देश सोने की चिड़िया कहलाता था, वही देश अपनी रोटी-कपडों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दूसरे देशो का मुँह देखने लगा। यह था परतन्त्रता का परिणाम। परतन्त्रता से पूर्व हमारा देश समृद्ध था। यहाँ के उद्योग विश्व-विख्यात थे। ढाका की मलमल को कौन नही जानता? नालन्दा और तक्षशिला जैसे विश्वविद्यालयों को कौन नहीं जानता? विश्व जानता है कि भारत ही जगत् का आदि-शिक्षक रहा था। पर वाह री परतन्त्रता! तूने तो इन सभी गुणो को चौपट कर दिया। आपसी फूट में यह आर्य संस्कृति का देश सबसे पहले यवनों से आक्रान्त हुआ और उन्होने इसके धर्म एवं संस्कृति को बहुत सीमा तक आघात पहुँचाया। पुनः अठारहवी शताब्दी मे अंग्रेजों ने इसे दासता की बेड़ियाँ पहनाकर पुनः इसकी रही-सही शान को भी विनष्ट कर डाला। पराधीनता के अंकुश ने मानव मात्र की समृद्धि, शान्ति एवं सुख का अपहरण कर डाला। परतन्त्र व्यक्ति या राष्ट्र की सभी समस्याओं का समाधान शासक वर्ग की इच्छा पर निर्भर होता है। शासक वर्ग ने इस देश का खूब शोषण किया है। उन्होंने इस देश को खोखला बना डाला है।

परतन्त्रता का सबसे घातक प्रभाव हमारी शिक्षा एवं संस्कृति पर पड़ा। हमारे शासको द्वारा जो शिक्षा हमको दी गयी वह पूर्णतया निरुद्देश्य थी। उस निरुद्देश्य शिक्षा का ही यह दुष्परिणाम हुआ कि आज हमारे देश के स्वतन्त्र हो जाने पर भी हमारे शिक्षित नवयुवकों मे बेकारी की समस्या बढती जा रही है। साथ ही आचार-विचार, रीति-नीति, रहन-सहन आदि सभी मे हमने अन्धानुकरण किया है। उनकी जितनी बुराइयाँ थी वे तो हममें आ गई और उनकी अच्छाइयाँ एक भी न आ सकी। इसका कारण यह है कि मानव बुराइयो की ओर आसानी से फिसल जाता है; अच्छाइयो की ओर कम ध्यान देता है। आज हम बात-बात मे अंग्रेजों की नकल करते फिरते हैं। ये

सब दोष हमारी परतन्त्रता ने प्रदान किये। हमारे सोचने की शक्ति पूर्णतया नष्ट हो चुकी है। यही है परतन्त्रता का दुष्परिणाम।

ऊपर के विवेचन मे हम स्वतन्त्रता से उत्पन्न होने वाली बुराइयों का वर्णन कर चुके है। उन बुराइयों को ध्यान में रखते हुए हमें परतन्त्रता का विरोध करना चाहिए। महात्मा गांधी ने परतन्त्रता के इन्ही कष्टों से दुखी होकर देश को स्वतन्त्र कराने की माँग उठायी और उन्होंने देश में स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए सम्पूर्ण देश को जागृत कर दिया। देशवासियों को शासकों ने अनेकानेक यातनाएँ दी परन्तु अन्त मे विजय सत्य और न्याय की हुई। गांधी जी आदि महान् पुरुषों के सद्प्रयास से हम स्वतन्त्र हो चुके हैं। अब हमारा देश स्वतन्त्र है। हम इसके बारे मे भली-भाँति सोच-विचार सकते है। हम अपने विचारों एवं भावनाओं के अनुरूप अपने देश का नव-निर्माण कर सकते है। हमारे देश की स्वतन्त्रता ने विश्व के अन्य परतन्त्र राष्ट्रो को पथ दिखलाया है। आज विश्व के अन्य बहुत-से देश भारत से ही प्रेरणा पाकर स्वतन्त्र हो गये हैं और जो रह गये है, आशा है निकट भविष्य में वे भी स्वतन्त्र हो जाएँगे। यह कहावत उचित ही है कि स्वतन्त्र रूप में रहकर घास की रोटी भी अमृत-तुल्य है, लेकिन परतन्त्र रूप मे तो बहुविधि पकवान भी विष तुल्य है।

१४. जहाँ सुमति तहँ सम्पत्ति नाना

रूपरेखा :

(१) प्रस्तुत सूक्ति का अर्थ।
(२) सुमति का जीवन में महत्व।
(३) सुमति से व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र का कल्याण।
(४) सुमति का आज की परिस्थितियों में महत्व।
(५) उपसंहार।

'जहाँ सुमति तहँ सम्पत्ति नाना' इस सूक्ति का अर्थ है कि जहाँ सुमति अर्थात् एकता होती है, वहाँ सुख उपलब्ध हो जाया करते हैं। इसके विपरीत जहाँ परिवार, समाज या राष्ट्र के लोगों में सुमति नहीं होती है, वहाँ अनेक प्रकार की विपत्तियाँ उपस्थित हो जाती हैं। मानव-जीवन की उन्नति इसी सुमति मात्र मे सन्निहित है। यदि परिवार के सभी लोग एक मत होकर किसी अच्छे कार्य में जुटते है तो निश्चय ही परिवार समृद्ध एव सम्पन्न बन जायगा और यदि ऐसा न हो सका तो वह परिवार शीघ्र ही पतनोन्मुखी हो

जायगा। यही बात समाज एवं राष्ट्र के विषय मे भी चरितार्थ होती है। संक्षेप मे हम कह सकते है कि मानव-परिवार समाज तथा राष्ट्र सभी की उन्नति एवं समृद्धि के लिए परस्पर मे सुमति भाव का होना नितान्त आवश्यक है।

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे सुमति का अपना महत्व है। जीवन की छोटी से छोटी बातों मे हमे सुमति का आधार लेना होता है। जब तक हमारे जीवन मे सुमति नही होगी, तब तक हम किसी भी कार्य को भली-भाँति पूर्ण करने मे सम्पन्न नही हो सकते हैं। आज सम्पूर्ण समाज की आधारशिला यही सुमति है। समाज के विभिन्न व्यक्तियो ने भिन्न-भिन्न कार्यों को अपने-अपने हिस्से मे बाँट लिया है। समाज का एक अंग एक कार्य करता है तो दूसरा अंग दूसरा कार्य; और इस प्रकार सब बाँटकर अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति कर लेते है। आज के युग में मानव की आवश्यकताएँ असीमित एवं अनन्त हो गयी हैं। ऐसी दशा मे जरा ध्यान से सोचिये यदि हम असीमित से न चले तो क्या प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है? चहुँ दिसि होने वाली उन्नति का मूल श्रेय हम लोगों की इस सुमति को ही है, जिसके द्वारा हम मिल-बाँटकर अपने कार्य कर लिया करते है। समाज को छोडिए, हम अपने परिवार मे ही क्यों न देख ले, वहाँ भी बिना सुमति के जीवन ही दूभर हो जायगा।

बिना सुमति के न तो व्यक्ति-विशेष की उन्नति हो सकती है और न समाज और देश की। अतः सभी प्रकार की उन्नति एवं समृद्धि के लिए सभी स्तरों पर सुमति होना बहुत आवश्यक है। यदि सुमति के द्वारा हम परिवार को विषम स्थितियो मे बचा सकते हैं तो इसी के द्वारा हम समाज एवं देश की सभी समस्याओं का भी समाधान प्रस्तुत कर सकते है। चाहे वह पंचवर्षीय योजना हो चाहे आन्तरिक या बाह्य कलह हो; इन सभी बातों पर हम सरलता से विजय प्राप्त कर सकते है, यदि हम में सुमति है। जिस प्रकार घास के छोटे-छोटे तिनके बहुत ही कमजोर एवं कच्चे होते हैं, जिनमे कोई शक्ति नही होती है परन्तु जब उन्ही घास के तिनकों को मिलाकर एक मोटी रस्सी निर्मित कर ली जाती है तो उससे बड़े-से-बड़े हाथियों को सरलता से बाँधा जा सकता है। यही बात हमारे जीवन में भी चरितार्थ होती है। यदि हम अकेले है, आपस मे सुमति नही है तो हम बड़े ही दुर्बल सिद्ध होगे। हमे कोई

भी परास्त एवं पद-दलित कर सकता है परन्तु यदि हम मे सुमति आ गई और हम सब एक साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर खड़े हो गये तो दुनिया की बड़ी से बड़ी शक्ति भी हमारा कुछ न बिगाड़ सकेगी। इतिहास इस बात का साक्षी है कि वीरता के आगे अच्छे-अच्छे महारथियों के छक्के छूट जाते थे और भारत मे जब तक सुमति या एकता रही विश्व की कोई शक्ति उसे पद-दलित न कर सकी। वर्तमान युग में इसका परिचय सन् १९६५ तथा १९७२ में पाकिस्तान से हुए युद्ध में मिल गया। किन्तु जब भी भारत का पतन हुआ वह केवल कुमति या फूट से ही। मुसलमानों ने भारत को तभी पद-दलित किया जब यहाँ के राजाओं में से सुमति निकल चुकी थी और उनमें फूट के बीज पनप आये थे। इसी प्रकार सन् १८५७ का भारतीय स्वतन्त्रता का प्रथम संग्राम भी आपसी फूट के कारण ही असफल हुआ। देश एवं समाज की सभी प्रकार की समृद्धि एवं उन्नति के लिए सुमति नामक भाव का होना नितान्त आवश्यक है।

वर्तमान समय में हमारा देश स्वतन्त्र है। भारतीय स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए हमारे देशवासियों में सुमति का होना नितान्त आवश्यक है। यदि किसी भी प्रकार से हमारे भाइयों में फूट का बीज पनप गया तो देश की स्वतन्त्रता खतरे में पड़ सकती है। अंग्रेजों ने भारत को स्वतन्त्र करते-करते हमारे देश में कुमति अर्थात् फूट के बीज बो दिये जिसके परिणामस्वरूप देश के दो टुकड़े हुए। इतना भीषण आघात सहने के पश्चात् अब हमें और भी अधिक सचेत रहना है। कहीं ऐसा न हो कि शत्रुओं की मनोकामना पूर्ण हो जाये और हम कही के नही रहें।

हमारा देश बहु भाषा-भाषी, बहु-सम्प्रदायवादी होते हुए भी धर्म-निरपेक्ष राष्ट्र है। यहाँ प्रत्येक देशवासी को पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता है परन्तु विभिन्न धर्मावलम्बी होते हुए भी वे पहले भारतवासी हैं पीछे और कुछ। निश्चय ही इस सुमति या एकता का सभी धर्मावलम्बी मनुष्यों ने १९६२ (जब चीन का भारत पर आक्रमण हुआ था) तथा सन् १९६५ एवं १९७१ (जब पाकिस्तान का भारत पर आक्रमण हुआ था) में परिचय दिया। विभिन्न धर्मावलम्बी व्यक्तियों द्वारा प्रदर्शित इस राष्ट्रीय एकता पर भारत को गर्व है। हमें आशा और विश्वास है कि राजनैतिक विचार वैभिन्य, धार्मिक वैभिन्न होते हुए भी हम इसी सुमति का सहारा लेकर राष्ट्र की सभी समस्याओं का समाधान

ढूंढते रहेंगे और जैसी एकता हमने बाह्य आक्रमणों के होने पर भूत में दिखाई है उससे भी अधिक एकता आवश्यकता पड़ने पर फिर भी दिखाते रहेंगे। इसीमें हमारा तथा हमारे देश का भविष्य उज्ज्वल है।

१५. अहिंसा ही विश्व-शान्ति का अस्त्र है

रूपरेखा :

(१) भूमिका।

(२) आज के युग में अहिंसा की उपयोगिता।

(३) विश्व में वास्तविक शान्ति केवल अहिंसा से ही सम्भव है।

(४) उपसंहार।

किसी भी व्यक्ति और राष्ट्र को विजित बनाने के दो रूप हो सकते हैं—प्रेम या हिंसा। हिंसा का मार्ग अस्त्र-शस्त्र से अपनाया जाता है और हिंसा द्वारा विजित व्यक्ति या राष्ट्र न तो प्रसन्न रह सकता है और न समृद्ध। हिंसा या शक्ति के बल पर हम दूसरों को अपने अधीन कर सकते हैं परन्तु उनके मन पर हमारा अधिकार नहीं हो सकता; साथ ही जब तक हम शक्तिशाली हैं, तभी तक दूसरों पर नियन्त्रण रख सकते हैं पर जैसे ही हम निर्बल हो जायेंगे और पद-दलित या आश्रित व्यक्ति सबल हो जायेंगे तो वे हमसे अपना बदला चुकवावेंगे और इस प्रकार संघर्ष या युद्ध का अन्त नहीं होगा। आज विश्व की यही स्थिति है। इसमें शक्ति की होड़ लगी है और शक्ति की होड़ में दूसरे को दबाने एवं सताने की भावना निहित रहती है अतः इस मार्ग से विश्व में कदापि शान्ति सम्भव नहीं है। विश्व में शान्ति तो केवल अहिंसा या प्रेम द्वारा ही सम्भव है।

आज सम्पूर्ण संसार हिंसा या शक्ति के मद में चूर है। हमारे सम्मुख दो विश्व-युद्धों की विभीषिकाएँ अंकित हैं। संसार के दोनों युद्ध, शक्ति और मद के प्रदर्शन के कारण ही हुए। कभी जर्मन ने विश्व को हिंसा या शक्ति से जीतना चाहा तो कभी जापान ने। परन्तु परिणाम सब जानते हैं कि इस शक्ति की दौड़ में इन दोनों महान् देशों ने केवल अपना ही संहार नहीं किया, अपितु विश्व को भी उस विभीषिका में झोंक दिया। आज पुनः रूस और अमेरिका, चीन और फ्रांस हिंसा या शक्ति की दौड़ लगाने लगे हैं। नये-नये बमों, अस्त्र-शस्त्रों का आविष्कार होता जा रहा है। न मालूम यह अस्त्रों की दौड़ कब समाप्त होगी? हो सकता है पुनः विश्व को पूर्व के दो युद्धों से भी

अधिक भयान कहानी प्रस्तुत करनी पड़े। हम पूर्व के दोनों युद्धों मे पाठ सीखते हुए इस बात को भली-भाँति जानते है कि आज विश्व की समृद्धि एवं उन्नति के लिए अहिंसा की कितनी उपयोगिता है। अहिंसा के स्थान पर यदि हम हिंसा का सहारा लेते रहें तो पुनः हमारी सुख-समृद्धि न मालूम कहाँ तिरोहित हो जायगी अतः विश्व-कल्याण एवं रक्षा की दृष्टि से आज के युग में अहिंसा की नितान्त उपयोगिता है।

अहिंसा का यह महान् अस्त्र हमें भगवान् बुद्ध ने दिया था। महान् चक्रवर्ती एवं उद्भट वीर तथा यशस्वी सम्राट अशोक ने जब कलिंग युद्ध में लाखों नर-नारियों को मौत के घाट उतार दिया तो उसके हृदय में भगवान् बुद्ध की दया और अहिंसा का संचार हुआ और बाद में स्वयं उसने युद्ध आदि से संन्यास लेकर एक बौद्ध-भिक्षु का जीवन व्यतीत किया। वर्तमान युग में जबकि दो विश्व-युद्ध इसी भूमि पर लड़े जा चुके थे और उनकी विभीषिका को संसार अपनी आँखों से देख चुका था तो पूज्य बापूजी ने भी पुनः इस अहिंसा के मार्ग का सहारा लिया और अपने इसी मार्ग द्वारा अन्ततोगत्वा उन्हें विजय भी मिली। इतना ही नहीं, उन्होंने अपने प्रतिपक्षियों अर्थात् अंग्रेजों का भी कुछ अहित नही किया। गाँधीजी के इस अहिंसा नामक अस्त्र की यह विशेषता रही कि देश के स्वतन्त्र हो जाने के पश्चात् हमारे देश के सम्बन्ध अंग्रेजों से अच्छे बने रहे। उनमें किसी प्रकार का भेदभाव नहीं आया जिस प्रकार हमारे देश में गांधी जी ने इस अस्त्र का प्रयोग कर हमारे देश को खून-खरावी से बचाया और देश को स्वतन्त्र कराया, उसी प्रकार विश्व की सम्पूर्ण समस्याओं का समाधान गांधी जी अहिंसा द्वारा ढूंढा करते थे। क्योंकि इस अस्त्र द्वारा प्रतिपक्षी को शक्ति के बल पर नहीं, अपितु हृदय-परिवर्तन द्वारा सही मार्ग पर लाया जाता है और यह विधि अक्षय भी होती है। विश्व में आज तो छोटी-से-छोटी बात पर तनाव खड़ा हो जाता है, तोप एवं बमों का प्रयोग होने लगता है इससे तो विश्व का अहित ही होता है, हित नहीं। विश्व के हित के लिए अहिंसा का ही सहारा लेना होगा।

अतः आज हमें हिंसा रूपी राक्षस का संहार कर डालना चाहिए और अहिंसा रूपी देव की प्रतिष्ठा करनी चाहिए। संसार को पतन एवं अवनति से बचाने के लिए तथा उसकी समृद्धि एवं सुख के लिए हमें अहिंसा का सम्बल लेना चाहिए। आज के इस वैज्ञानिक युग में आविष्कारों का मानव-कल्याण

हेतु प्रयोग करना चाहिए। कही ऐसा न हो कि विज्ञान स्वयं राक्षस बन जावे और समूची मानवता को ग्रस ले।

१६. हमारी राष्ट्रभाषा हिन्दी

रूपरेखा :

(१) राष्ट्रभाषा किसे कहते हैं ?
(२) राष्ट्रभाषा की क्यों आवश्यकता है ?
(३) राष्ट्रभाषा में क्या-क्या गुण होने चाहिए ?
(४) हमारी राष्ट्रभाषा हिन्दी का स्वरूप।
(५) राष्ट्रभाषा की उन्नति के उपाय।
(६) उपसंहार।

सर्वप्रथम हमे यह समझ लेना चाहिए कि राष्ट्रभाषा किसे कहते हैं। प्रत्येक राष्ट्र मे प्रत्येक समय पर दो भाषाएँ प्रचलित रहती हैं—(१) लिखित अर्थात् साहित्यिक (२) बोलचाल की। जो देश जितना बड़ा होता है उसमे इन लोगों के भी स्थान विशेष आधार पर भिन्न-भिन्न रूप देखने को मिल जाते हैं। भाषा की भिन्नता के बारे में निम्नलिखित उक्ति प्रसिद्ध है—

'चार कोस पै पानी बदले, आठ कोस पै भाखा'

अर्थात् प्रत्येक आठ कोप के पश्चात् भाषा अर्थात् बोलियो मे हमे कुछ-न-कुछ भिन्नताएँ दिखायी देने लगती हैं परन्तु वे भिन्नताएँ इतनी सूक्ष्म होती है कि उन्हे हम सरलता से देख नही सकते। परन्तु अधिक दूरी बढ़ने पर यह भिन्नता सरलता से देखी जा सकती है। भारत जैसे विस्तृत देश में तो अनेक बोलियाँ बोली जाती है। भारतीय सविधान में भी चौदह भाषाओं को स्वीकृत किया गया है परन्तु इतना सब कुछ होते हुए भी देश को एकता के सूत्र मे बाँधने के लिए तथा शासन-व्यवस्था को भली प्रकार चलाने के लिए देश मे एक ही राष्ट्रभाषा का होना नितान्त आवश्यक है। प्रान्तीय स्तर पर भिन्न-भिन्न भाषाएँ; यथा—तमिल, कन्नड, मलयालम, बंगला आदि हो सकती है परन्तु राष्ट्रीय स्तर पर तो एक ही भाषा होती है और उसी को हम राष्ट्र-भाषा के नाम से पुकारते हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि राष्ट्रभाषा की हमे क्यों आवश्यकता होती है। संसार मे प्रत्येक स्वतन्त्र देश की अपनी एक राष्ट्रभाषा रहती है, उसी मे सम्पूर्ण सरकारी कामकाज किए जाते है। जिस देश की अपनी राष्ट्रभाषा

नहीं होती है, वह देश न तो उन्नति ही कर सकता और न विश्व के अन्य देशों में गौरव प्राप्त कर सकता है। विश्व के अन्य देश उसे घृणा तथा हेय दृष्टि से देखते हैं। बिना राष्ट्रभाषा के किसी देश की सभ्यता और संस्कृति की भी रक्षा-सम्भव नहीं हो सकती है। भारत के सन्दर्भ में यह एक आश्चर्यजनक बात रही है कि इसकी राष्ट्रभाषा शताब्दियों तक विदेशी ही रही है। मुगलों के शासन-काल मे यहाँ फारसी का बोलबाला था तो अँग्रेजों के शासनकाल में 'अंग्रेजी' का। उससे भी बढ़कर तो आश्चर्य हमें आज होता है कि हममें से कुछ अनुभव एवं पढ़े-लिखे व्यक्ति 'अंग्रेजी' को ही राष्ट्रभाषा बनाने के पक्षपाती दिखाई देते है। भारत को स्वतन्त्र हुए पूरे ३० वर्ष हो चुके हैं। पर आज भी 'अंग्रेजी' (विदेशी भाषा) के मोह को छोड़ने को तैयार नहीं हैं। भारतीय संविधान में स्पष्ट रूप से हिन्दी को राष्ट्रीय भाषा सन् १९५० घोषित किया जा चुका है परन्तु हम लोग क्षुद्र स्वार्थों के वशीभूत होकर आज भी राष्ट्रभाषा के प्रश्न को लेकर आपस में झगड़ा किया करते है।

किसी भी भाषा के राष्ट्रभाषा पद पर प्रतिष्ठित होने के लिए उसमें निम्नलिखित विशेषताएँ होनी चाहिए—

(१) वह जन-साधारण द्वारा सरलता से बोली तथा समझी जा सके।
(२) उसमें दूसरी भाषाओं के शब्दों को पचाने की शक्ति होनी चाहिए।
(३) उसकी लिपि सरल तथा स्पष्ट होनी चाहिए।
(४) उसे देश के अधिकांश व्यक्ति प्रयोग मे लाते हों।
(५) वह हमारे देश की संस्कृति एवं सभ्यता की रक्षा करने वाली हो।
(६) उसमें पर्याप्त साहित्य होना चाहिए।

यदि हम उपर्युक्त विशेषताओं के आधार पर विवेचन करे तो हम पायेंगे कि भारतीय संविधान में स्वीकृत १४ भाषाओं में से केवल 'हिन्दी' भाषा मे ही ये सब विशेषताएँ सरलता से पायी जा सकती है, अन्य में नही। यह जन-साधारण द्वारा सरलता से बोली तथा समझी जा सकती है। इसकी सरलता का तो सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि भारत-विभाजन के बाद जो हिन्दी भाषा से भिन्न भाषा बोलने वाले उत्तर भारत मे आकर बसे, इन्होंने अपना कार्य चलाने के लिए बड़ी सरलता से यहाँ की भाषा को सीख लिया। निरन्तर सम्पर्क में रहने पर भी हम पंजाबी, सिंधी आदि भाषाओं को नहीं सीख पाये हैं। हिन्दी भाषा में पाचन शक्ति अद्भुत है, इसने अपने में ...बी, फारसी

अंग्रेजी आदि भाषाओं के सहस्त्रो शब्दों को सरलता से पचा लिया है। प्रत्येक हिन्दी भाषी कमीज, लिहाफ, किताब, स्टेशन, रिक्शा, मीटिंग आदि शब्दो को सरलता से बोल तथा समझ लेता है। जहाँ तक इसकी लिपि का प्रश्न है, वह भी अधिक वैज्ञानिक एवं स्पष्ट है। लिपि की दृष्टि से इसमे कुछ सुधार किये जा सकते है। भारत की जनसंख्या का अधिक प्रतिशत इसे सरलता से अपने दैनिक व्यवहार में लाता है।

हमारे राष्ट्र की प्राचीन सभ्यता एव संस्कृति, भाषा मे छिपी हुई है। हिन्दी की जन्मदात्री संस्कृत ही है अतः भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति की रक्षा भी इसी भाषा के द्वारा सभव है। हिन्दी का सम्बन्ध संस्कृत से होने के कारण वर्तमान युग मे नई वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली भी संस्कृत से ली गयी है। इसके अतिरिक्त जहाँ तक प्रचुर साहित्य का सम्बन्ध है, हिन्दी इस दृष्टि में आज पूर्णतया समृद्ध है। हर विषय से सम्बन्धित सामग्री आज हमे हिन्दी मे सरलता से उपलब्ध हो जाती है। भारत सरकार के सद्प्रयासो से हिन्दी के भण्डार को भी भरे जाने के प्रशंसनीय प्रयास हो रहे है। हिन्दी के लेखक भी इस क्षेत्र मे अपना महत्वपूर्ण योगदान देते चले आ रहे है। आज संसार के किसी भी समृद्ध साहित्य के सम्मुख हिन्दी को प्रस्तुत किया जा सकता है।

अब प्रश्न आता है कि हिन्दी की उन्नति का। इस दृष्टि से प्रत्येक भारतवासी का यह परम पुनीत कर्त्तव्य है कि अपने देश के गौरव को बनाये रखने के लिए सभी प्रकार के क्षुद्र स्वार्थो को त्यागते हुए हमे अपनी राष्ट्रभाषा की उन्नति के लिए सतत प्रयास करना चाहिए। हमारे लिए यह बड़ी ही लज्जा की बात है कि जब हमारे राष्ट्रनायक विदेशो मे जाते है, तो वे हिन्दी मे भाषण न देकर अंग्रेजी मे भाषण दिया करते हैं जबकि संसार के प्राय. सभी राष्ट्रनायक विदेशो मे अपनी स्वीकृत राष्ट्रभाषा का ही प्रयोग करते हैं। सरकारी स्तर पर यह आदर्श होना चाहिए कि जो भी मन्त्री महोदय विदेश यात्रा को जावें वे केवल हिन्दी का ही प्रयोग करे। हमे त्रिभाषा सूत्र को भी कड़ाई से लागू करना चाहिए, ताकि प्रत्येक भारतवासी कम से कम तीन भाषाओ को जान सके। जो देश अपनी भाषा की ओर ध्यान नहीं देता है वह कभी उन्नति के शिखर पर नही चढ सकता। परन्तु भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने राष्ट्रभाषा को दर्शाते हुए कहा है—

निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को सूल।

अतः देश के सम्मान की रक्षा के लिए अपनी प्राचीन संस्कृति और सभ्यता की रक्षा के लिए, देश को एकता के सूत्र मे बाँध रखने के लिए हमें हिन्दी की निरन्तर प्रगति में हाथ बँटाना चाहिए। उसके प्रचार और प्रसार का उपाय करना चाहिए। दक्षिण हिन्दी प्रचार सभा, केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय आदि द्वारा तो इस क्षेत्र में कार्य किया जा रहा है, हमें भी करना चाहिए। दक्षिण के भाइयों के हृदय को जीतने के लिए उत्तरवासियों को उनकी भी एक भाषा का अनिवार्य रूप से अध्ययन करना चाहिए। हमें विश्वास है कि हमारी राष्ट्रभाषा निरन्तर प्रगति करती जावेगी।

१७. मनोरंजन के आधुनिक साधन

रूपरेखा :

(१) **मनोरंजन किसे कहते हैं ?**
(२) **मनोरंजन की आवश्यकता।**
(३) **मनोरंजन के आधुनिक युग में प्राप्त साधन —**
(क) रेडियो, (ख) सिनेमा, (ग) जादू के खेल, (घ) सरकस, (ङ) प्रदर्शनी, (च) पुस्तकें, (छ) खेलकूद आदि।
(४) **उपसंहार।**

मनोरंजन शब्द का अर्थ होता है—मन-बहलाव। मनुष्य को अपने मस्तिष्क को स्वस्थ तथा ताजा बनाये रखने के लिए मनोरंजन या मन-बहलाव की बातों की बहुत आवश्यकता होती है। जो लोग मन से प्रसन्न नहीं रहते हैं या मनोरंजन के अवसर पर भी उनमें हिस्सा नहीं बँटाते है ऐसे पुरुष प्रायः किसी न किसी रोग से पीडित हो जाते है। अतः मस्तिष्क को स्वस्थ एवं तरोताजा बनाये रखने वाले लोग सदैव ही कोई-न-कोई मनोरंजन का साधन ढूँढा करते है।

जिस प्रकार शरीर को स्वस्थ एवं तन्दुरुस्त बनाये रखने के लिए योग्य पदार्थों की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार मस्तिष्क को स्वस्थ एवं तरोताजा बनाये रखने के लिए मानव-जीवन मे मनोरंजन भी नितान्त आवश्यक होता है। प्रत्येक मनुष्य चाहे वह शारीरिक श्रम करने वाला हो या बौद्धिक श्रम करने वाला, लगातार परिश्रम करने के पश्चात् थक जाता है और थकावट के

इन क्षणों में अपने में ताजगी लाने के लिए वह कोई न कोई मनोरंजन का साधन ढूंढ़ता है। समाज के मनुष्यों में मनोरंजन के साधन भी अपनी रुचियों के अनुसार भिन्न-भिन्न हुआ करते हैं। कोई रेडियो खोलकर अपना मनोरंजन करता है तो कोई जासूसी उपन्यासों या पत्र पत्रिकाओं को पढ़कर तो अन्य सिनेमा में बैठकर, कोई शतरंज, बैडमिण्टन, टेबिल टेनिस खेलता है तो कोई ताश आदि। इसका मतलब यह निकला कि मनोरंजन होना भी मानव की एक आवश्यक आवश्यकता है और सम्भवतः प्रत्येक प्रकार के व्यवसाय में इसी कारण से आमोद-प्रमोद क्लब बने रहते हैं जिसका एकमात्र लक्ष्य ही थके हुए क्षणों में मानव के मन को बहलाना रहता है। आमोद-प्रमोद का जीवन में प्रमुख स्थान है। इसके बिना मनुष्य का जीवन भार मालूम होने लगता है।

वर्तमान युग वैज्ञानिक प्रगति का युग है। अतः इस युग में मनोरंजन के साधनों में काफी प्रगति हो गयी है। प्राचीन काल में तो मनोरंजन के साधनों में गाँव की चौपाल पर बैठकर राजा-रानी के किस्से-कहानी चलते थे या फिर कभी-कभी कबड्डी, ताश, चौपड़ आदि खेल खेले जाते थे। परन्तु आज जहाँ जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उन्नति होती जा रही है वहाँ मनोरंजन का ही क्षेत्र कैसे पीछे रह सकता था। उसमें भी नये-नये साधन उपलब्ध होते जा रहे हैं। नये वैज्ञानिक मनोरंजन के साधनों में रेडियो, टेलीविजन, ट्रांजिस्टर, सिनेमा, रिकार्ड प्लेयर आदि प्रमुख हैं। अब हम इन सबका संक्षेप में परिचय देना चाहेंगे—

रेडियो आज के युग में मनोरंजन का उत्तम एवं सस्ता साधन है। केवल बटन दबाते ही हमें अच्छे-अच्छे मन मोहक गीत सुनने को मिल जाते हैं कभी-कभी इसके द्वारा हमें नये-नये नाटक, कविता आदि भी सुनने को मिल जाते हैं। इतना ही नहीं, यदि फरमाइश लिखकर भेज दें तो निश्चित दिन पर हमें मन पसन्द गाना सुनने को मिल जाता है। इसके द्वारा हम जब चाहें तब अपने घर बैठे ही मन बहला सकते हैं। मनोरंजन के साथ ही साथ इनके द्वारा हमें देश-विदेश के समाचार भी सुनने को मिल जाते हैं जिससे हमें यह पता चलता रहता है कि संसार में कहाँ, क्या हो रहा है। इसी का नया रूप अब ट्रांजिस्टर बन गया है। ट्राजिस्टर को हम अपने साथ जहाँ भी चाहें ले जा सकते हैं।

सिनेमा आज मनोरंजन का सबसे अधिक लोकप्रिय साधन है। इसके द्वारा प्रत्येक मनुष्य कुछ पैसे खर्च करके तीन घण्टे आराम से बैठकर अपना मनोरंजन कर लिया करता है। यह आजकल बहुत लोकप्रिय है, शिक्षित-अशिक्षित अध्यापक-छात्र, व्यापारी, नौकरी-पेशा वाले लोग, बालक, वृद्ध, युवक, स्त्रियाँ सभी इसके द्वारा अपना मन बहलाव किया करते हैं। यद्यपि अधिकांश सिनेमा सस्ते एवं भद्दे रूप का प्रदर्शन करके समाज के युवकों में बुरी भावनाएँ उभारा करते हैं। विशेषकर नये-नये व्यसनों और फैशनों का जनक तो सिनेमा ही है। लेकिन कभी-कभी बड़े ही उपयोगी, ज्ञानवर्द्धक एवं धार्मिक सिनेमा भी देखने को मिल जाते है जिनसे जनता तथा समाज का बड़ा लाभ होता है।

शहरों में तथा कभी-कभी विद्यालयों मे कुछ जादू के खेल दिखाने वाले आ जाया करते हैं जो अपनी हाथ की सफाई से दर्शकों का मनोरंजन किया करते है। मेले, तमाशे आदि में ऐसे लोग अधिकतर मिल जाते हैं।

सरकस के द्वारा भी लोगों का मनोरंजन हुआ करता है। सरकस में हाथी घोड़े, शेर, चीते, बन्दर, भालू अपने-अपने खेल दिखाकर जनता का काफी मनोरंजन किया करते है। इनके अतिरिक्त मनुष्यों द्वारा आकाश झूला, मौत का कुआँ, साइकिल आदि द्वारा भी तरह-तरह के मनोरंजन के खेल दिखाये जाते हैं।

प्रदर्शनी भी मनोरंजन का एक उत्तम साधन माना जाता है। समय-समय पर नगरों तथा कस्बों में प्रदर्शनियाँ लगाई जाती है। इनमें जहाँ जनता का मनोरंजन होता है वहाँ उसका ज्ञान भी बढ़ता है। प्रदर्शनियों में तरह-तरह के खेल-तमाशे तथा अनेक प्रकार की वस्तुओं की दुकानें लगा करती हैं।

घर में बैठकर मनोरंजन के साधनो में पुस्तकों का पढ़ना भी आता है। अधिकतर लोग कहानी और उपन्यास की पुस्तकों को घर पर बैठकर अपना मनोरंजन किया करते है। आज अनेक प्रकार की पत्र-पत्रिकाएँ भी हमारे मनोरंजन का साधन बनी हुई हैं।

खेल-कूद भी मनोरंजन के प्रमुख साधन माने जाते हैं। खेलों में क्रिकेट, फुटबाल, बैडमिण्टन, टेबिल टेनिस आदि प्रमुख है। मानसिक श्रम करने वाले अधिकांश इन्हीं खेलों को खेलकर अपना मन बहलाया करते है। इन खेलों के खेलने के पश्चात् उनकी थकावट दूर हो जाया करती है। जो लोग शारीरिक

श्रम करते हैं, वे हल्के-फुल्के खेल;—ताश, कैरमबोर्ड, शतरंज आदि खेल कर अपना मनोरंजन किया करते है।

उपर्युक्त मनोरंजन के साधनों के अतिरिक्त कुछ लोग घूमने के द्वारा तो कुछ लोग पक्षियों के साथ खेल खेलते हुए अपना मनोविनोद किया करते हैं। कुछ लोग संगीत, कविता, नृत्य, नाटक आदि द्वारा भी अपना मनोरंजन किया करते हैं।

निश्चय ही मनोरंजन का मानव-जीवन मे बहुत महत्व है। बिना मनोरंजन के हमारा जीवन दूभर हो जायेगा। अतः जीवन को स्वस्थ एवं तरोताजा बनाये रखने के लिए हमे मनोरंजन को जीवन मे अधिक महत्व देना चाहिए। यदि हमने जीवन मे उचित मनोरजन न किया तो हमारा जीवन नीरस हो जायगा। लेकिन मनोरंजन के साथ ही यदि हमारा ज्ञानवर्धन भी होता रहे तो ऐसे साधनों को हमे अधिक महत्व देना चाहिए। ऐसा न हो कि कहीं मनोरंजन की धुन में हममे बुरी आदतें पड़ जायें अतः मनोरंजन के साधनो का चुनाव बड़ी सूझबूझ के पश्चात् करना चाहिए।

१८. मेरी प्रिय पुस्तक श्रीरामचरितमानस

रूपरेखा :

(१) परिचय तथा महत्व।
(२) श्रेष्ठ काव्य।
(३) श्रीरामचरितमानस से शिक्षा।
(४) उपसंहार।

जीवन मे पुस्तकों का बड़ा महत्व होता है। श्रेष्ठ पुस्तक के पढने से व्यक्ति का जीवन सुधर जाता है, उनमे अच्छे गुण विकसित हो जाते हैं। हमारे देश मे ऋषि-मुनियो, धर्मोपदेशकों और श्रेष्ठ काव्य रचयिताओ की कमी नहीं है। प्राचीन सस्कृत के कवियो की बनाई हुई सूक्तियों को हम आज भी अपने जीवन व्यवहार मे लाया करते हैं। इस श्रेणी मे गोस्वामी तुलसीदास कृत 'श्रीरामचरितमानस' भी आती है। यही मेरी सबसे अधिक प्रिय पुस्तक है। इसका महत्व चार सौ वर्ष व्यतीत हो जाने के पश्चात् आज भी ज्यो-का त्यों बना हुआ है। यही कारण है कि प्रत्येक हिन्दू के घर मे श्रीरामचरित-मानस की एक न एक पोथी अवश्य ही मिल जायेगी। अधिकाश हिन्दू श्रीरामचरितमानस का नित्य पाठ किया करते हैं। संकीर्तनों मे श्रीरामचरित-

मानस की ही धूम रहती है। इतना ही नहीं, संसार की अनेकानेक भाषाओं मे इसका अनुवाद हो चुका है। शिक्षित-अशिक्षित सभी व्यक्ति इसकी चौपाइयों को गुनगुनाया करते है। इसी से इसके महत्व का सरलता से पता लगाया जा सकता है।

महाकवि गोस्वामी तुलसीदासजी ने दशरथनन्दन भगवान् राम के जीवन-वृत को अपनी लेखनी से अंकित किया है। जीवन के सभी पहलुओं का चित्रण उन्होंने अपनी पैनी दृष्टि से इस पुस्तक में अंकित किया है। मुसलमानों के आतंक से पीड़ित जनता को भगवान् का स्मरण तुलसी ने कराया है। राम के चित्र में कवि ने लोकमंगल का विशेष ध्यान रखा है। आज भी पारिवारिक, सामाजिक, राजनैतिक आदि सभी समस्याओं का समाधान हम श्रीरामचरितमानस मे पा जाते है। यही कारण है कि यह ग्रन्थ आज भी हम लोगों का गले का हार बना हुआ है। राम के द्वारा पिता की आज्ञा शिरोधार्य करके अपने राज्य पाने के अधिकार को छोड़ देना, उधर भरत का अनुपम भ्रातृ-प्रेम, भाई लक्ष्मण का अपने अग्रज की सेवा में जीवन अर्पण आदि अनेकानेक अनुपम उदाहरणों से यह ग्रन्थ भरा पड़ा है।

श्री रामचरितमानस एक श्रेष्ठ काव्य है। श्रेष्ठ काव्य के सभी अंगों का इसमें सफल निर्वाह हुआ है। काव्य के विद्वानों ने दो पक्ष माने हैं—भावपक्ष और कलापक्ष। भावपक्ष के अन्तर्गत रसानुभूति, सुन्दर काव्यानुभूति, प्रकृति-चित्रण आदि आते है तो कलापक्ष के अन्तर्गत—भाषा, शैली, छन्द और अलंकार आदि आते है। श्रीरामचरितमानस मे भावपक्ष तथा कलापक्ष दोनों का ही सुन्दर समन्वय हुआ हे। इसमें मानव-हृदय की सुन्दर भावनाओं और अनुभूतियों का चित्रण किया गया है। शोक, क्रोध, आनन्द आदि सभी भावनाओं का सुन्दर अंकन इसमें हुआ है। रसों की दृष्टि से इसमे शृंगार, वीर, हास्य, रौद्र नौ रसों का स्वाभाविक रूप में अंकन हुआ है। कलापक्ष की दृष्टि से उसमें भाषा, अलंकार, छन्द आदि सभी का सुन्दर प्रयोग देखने को मिल जाता है। तुलसीदासजी ने अपने काव्य में जनभाषा अवधी का प्रयोग किया है। अलंकारों की दृष्टि से शब्दालंकार तथा अर्थालंकारों का स्वाभाविक प्रयोग हुआ है। यहाँ यह ध्यान रखने योग्य है कि तुलसी के काव्य में अलंकार भावानुभूति में सहायक बनकर आये है बाधक नही। उनके द्वारा प्रयुक्त अलंका सहज एवं स्वाभाविक है। छन्दों की दृष्टि से ग्रन्थ में कवि ने दोहा

सोरठा और चौपाई का प्रयोग किया है। निश्चय ही हम कह सकते हैं कि श्रीरामचरितमानस मे श्रेष्ठ काव्य के सभी गुण पाये जाते है।

श्रीरामचरितमानस के अध्ययन से हमें अनेक प्रकार की शिक्षाएँ मिलती हैं जिनसे हमारा जीवन सुखद एवं मंगलमय बन सकता है। पारिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक—सभी दृष्टियों से हमे अनेक प्रकार की शिक्षाएँ मिलती हैं।

पारिवारिक क्षेत्रों मे—माता-पिता के पुत्र के प्रति क्या कर्तव्य हैं, पुत्री का माता-पिता के प्रति क्या कर्त्तव्य है, भाई का भाई के प्रति, पत्नी का पति के प्रति, पति का पत्नी के प्रति, मित्र का मित्र के प्रति, सेवक का स्वामी के प्रति, स्वामी का सेवक के प्रति आदि सभी दशाओं का बड़ा ही स्वाभाविक एवं कल्याणकारी रूप प्रस्तुत किया है। पारिवारिक जीवन को सुखमय बनाने के लिए आज भी हम उनके बताये मार्ग पर चलकर अपने जीवन को सुखी बना सकते है।

परिवार के अतिरिक्त समाज की दशा को उन्नत एवं सुखमय बनाने के लिए भी कवि ने अनेकानेक सुन्दर विधि-विधानों का इसमे वर्णन किया है। इसमे वर्ण तथा आश्रम-व्यवस्था का विधान बतलाया गया है। इन्ही व्यवस्थाओ का पालन करने के कारण राम-राज्य के सभी प्राणी अपना सुखमय जीवन व्यतीत करते थे। परिवारो के मेल से समाज का निर्माण हुआ करता है। यदि परिवार सुसंगठित एवं उन्नत है तो समाज स्वतः उन्नति कर जायेगा ऊँच-नीच तथा धार्मिक विभेदों मे एकता स्थापित कर कवि ने सामाजिक जीवन को उन्नत करना चाहा है।

श्री रामचरितमानस मे तत्कालीन राजनीति का तो परिचय ही कराया गया है। यदि उन नियमो का पालन आज भी करें तो हमारा राजनीतिक जीवन सुखी हो सकता है। राजा का प्रजा के प्रति तथा प्रजा का राजा के प्रति क्या कर्त्तव्य होना चाहिए, इन सबका चित्रण रामचरितमानस में देखने को मिल जाता है। राजा का एकमात्र उद्देश्य अपनी प्रजा की भलाई करना होना चाहिए। यदि किसी राजा के राज्य मे प्रजा दुःख पाती है तो निश्चय ही वह राजा नरक को भोगेगा; यथा—

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी।
सो नृप अवस नरक अधिकारी॥

देखिए, वतमान प्रजातन्त्र में जनता के शोषक शासकों को कैसी सुन्दर शिक्षा दी गयी है। क्या इससे भी बढ़कर राजा का कोई आदर्श हो सकता है? इसके साथ ही तुलसी ने राजाओं को निरंकुश नहीं रखा है। उन राजाओं पर ऋषि-मुनियों का अंकुश दिखाया गया है। राजा भी उनसे डरते थे तथा उनके बताए हुए मार्ग पर चलते थे।

धार्मिक दृष्टि से कवि ने अपने समय में चल रहे विभिन्न धार्मिक विद्वेषों को दूर करने का प्रयास किया है। शैवों और वैष्णवों के झगड़ों को तुलसी ने स्वयं राम के मुख से यह कहलवा कर कि—

शिव द्रोही मम दास कहावा।
सो नर मोहि सपनेहु नहिं भावा॥

शान्त कर दिया। इसी प्रकार निर्गुणियों तथा सगुणियों के कलह को भी आपने शान्त कर दिया था।

उपर्युक्त विशेषताओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि हिन्दी-साहित्य में उपलब्ध सभी ग्रन्थों में श्रीरामचरितमानस का महत्व सबसे बढ़कर है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इसने हमें प्रभावित किया है। उसी के बताये हुए नियमों का हम आज भी अपने जीवन में पालन कर अपने आपको धन्य मानते हैं। संसार-सागर से पार जाने के लिए हमें आज भी श्रीरामचरित-मानस रूपी नौका का सहारा लेना पड़ता है।